बे ला
फू ले
आ धीं
रा त

लेखक की अन्य रचनाएँ

लोकगीत—

गिद्धा (१९३६)

दीवा बले सारी रात (१९४१)

मैं हूँ खाना बदोश (१९४१)

गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६)

Meet My People (१९४६)

धरती गाती है (१९४८)

धीरे बहो गंगा (१९४८)

कविता—

धरती दीयां वाजां (१९४१)

कहानियाँ—

कुंग पोश (१९४१)

नये देवता (१९४३)

और बाँसुरी बजती रही (१९४६)

चट्टान से पूछ लो (१९४८)

निबन्ध—

एक युग : एक प्रतीक (१९४८)
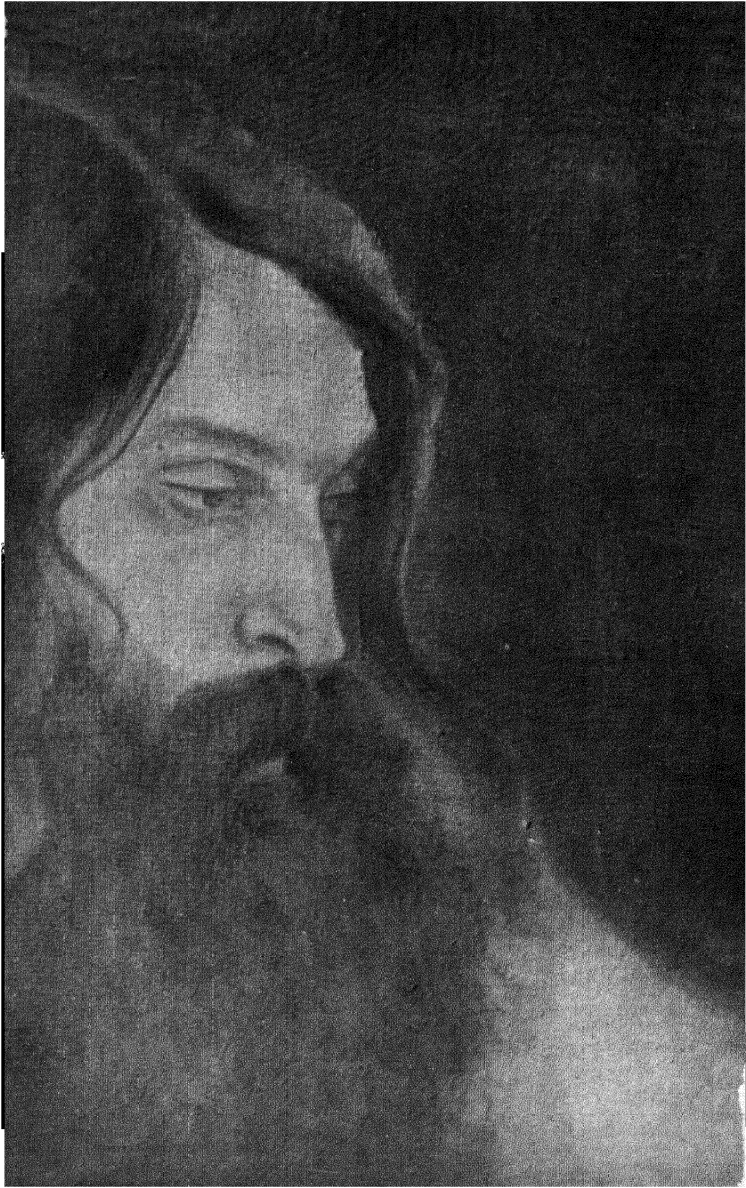
देवेन्द्र सत्यार्थी

चित्रकार :

कृष्णमूर्त्ति

बेला फूले आधी रात

देवेन्द्र सत्यार्थी

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के आमुख सहित

राजहंस-प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक

सुबुद्धिनाथ

मंत्री, राजहंस-प्रकाशन

दिल्ली

पहली बार : १९४८

मूल्य

दस रुपये

मुद्रक

अमरचंद्र

राजहंस प्रेस

दिल्ली

श्री नानालाल चमनलाल मेहता को

आमुख

भारत के सभी प्रान्तों के लोक-गीतों के सम्बन्ध में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने अनेक हृदयस्पर्शी निबन्ध प्रस्तुत किये हैं, और वे 'विशाल-भारत' और 'माडर्न रिव्यु' के पाठकों से सुपरिचित हैं। प्रसिद्ध अमेरिकन पत्र 'एशिया' में प्रकाशित पठान-लोक-गीत-सम्बन्धी लेखों के द्वारा वे अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य-क्षेत्र में भी प्रवेश कर चुके हैं।

समूचे भारत में सत्यार्थीजी एकाकी लेखक हैं, जिन्होंने लोक-साहित्य के प्रसार को अपने जीवन का एकनिष्ठ ध्येय बना लिया है। स्वयं प्रत्येक प्रान्त में पहुँच कर, उत्साह और साहित्यिक प्रतिभा-द्वारा परिश्रम की थकन को हलका करते हुए, उन्होंने लोक-साहित्य का संग्रह किया, इसका अनुवाद प्रस्तुत किया और इसे विश्व के सम्मुख रख दिया।

सन् १९३२ में, जब सत्यार्थीजी कलकत्ते आये, तब मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लम्बे बालों और दाढ़ी के द्वारा और प्रतिभाशील मुखाकृति और भावपूर्ण आँखों के कारण, किसी पुरातन युग के पैग़म्बर ही नज़र आ रहे थे। यद्यपि इस पैग़म्बराना रूप में भी थोड़ा विदेशीपन अवश्य था, क्योंकि उनकी प्रत्यक्ष युवावस्था उनके पैग़म्बराना उपचार का प्रतिवाद कर रही थी।

उन्होंने मुझे कोमल संगीतमय स्वरों में सम्बोधित किया और उत्सुकता-द्वारा मेरे हृदय पर अनुकूल प्रभाव डाला। यहाँ मैं यह बता दूँ कि हमारी बातचीत का माध्यम अँग्रेज़ी और हिन्दी था।

साहित्य तथा भाषा का विद्यार्थी होने के नाते मैं उनकी यात्राओं में

विशेष रुचि रखता था, जिनका एकमात्र उद्देश्य था हमारे किसानों की मौखिक परम्परा में प्रयोग होनेवाले गीतों, कविताओं तथा गाथाओं को एकत्रित करना। हमारी ग्रामवासिनी जनता कितनी ही निर्धन और अशिक्षित क्यों न हो, अभी उसके जीवन से कविता की विभूति का लोप नहीं हुआ—काव्य-अमृत का रसास्वादन, वस्तुतः यही तो लोक-कविता है—एक भारतीय सूक्ति के शब्दों में यही तो जीवन के विष-वृक्ष का मीठा फल है, जो जनता के कठिन और कठोर जीवन में थोड़े-बहुत रस का संचार कर पाता है।

अनेक व्यक्तियों के समान एक समय मैं भी वैरागियों और बाउलों के गीत लिपिबद्ध करने की ओर अग्रसर हुआ था। इसीलिए पंजाब के इस अज्ञात गीत-संग्रहकर्त्ता में मेरी रुचि बढ़ गई थी।

सत्यार्थीजी ने मुझे अपनी योजनाएँ बताईं कि किस प्रकार वे समस्त भारत की यात्रा करने का ध्येय रखते हैं, जिससे वे जन-जन के मुख से सुन कर सभी प्रदेशों से और सभी भाषाओं के गीत लिपिबद्ध कर सकें। कुछ परवाह नहीं, यदि वे गीतों के शब्दों को समझ नहीं पा रहे, जब कि गायक उन्हें स्वरों में संजोये जा रहा हो, पर सत्यार्थीजी में इतना धैर्य है और इतना बोध भी, जिससे वे गीत के मर्म तक जा सकें, उसका शब्दानुवाद प्राप्त करने का उपालम्ब कर लें और इस प्रकार एक बहुमूल्य सामग्री जुटाते चले जायँ।

क्या मैं भी कुछ सुझाव रख सकता हूँ, यह बात मेरे मन में अवश्य आई, जिससे सत्यार्थीजी अपने कार्य को सर्वांगपूर्ण रीति से सम्पन्न कर सकें?

सत्यार्थीजी बहुत नम्र थे और इस बात के लिए उत्सुक थे कि कोई उनका पथ प्रदर्शन करे। उस समय मुझे उनके संग्रह के विस्तार का पूर्ण परिचय नहीं था। अतः मैंने यह सुझाव रखा कि अच्छा होगा यदि वे इतने विशाल कार्य-क्षेत्र को हाथ में लेकर अपनी शक्तियों का अपव्यय न करें। क्यों न वे पहले अपने प्रान्त पंजाब के कार्य पर ही अपना समस्त ध्यान केन्द्रित कर दें और अपनी शक्ति के अनुसार अधिक-से-अधिक गीत लिपिबद्ध कर डालें? मुझे विश्वास था कि पंजाब-विश्व-विद्यालय, पंजाब-सरकार या पंजाबी किसान और पंजाबी-भाषा का भला चाहनेवाली कोई सार्वजनिक संस्था उनके विशाल गीत-संग्रह के प्रकाशन का भार अपने ऊपर ले लेगी।

मैंने उन्हें बताया कि किसी एक प्रदेश का लोक-गीत-अध्ययन सदैव लोकप्रिय होता है। पंजाबी लोक-गीतों की दिशा में सर आर० सी० टेम्पल का कार्य भुलाया नहीं जा सकता। यद्यपि खेद का विषय है कि उनके संग्रह का कोई सुन्दर संस्करण सुलभ नहीं। इधर श्री रामनरेश त्रिपाठी का संग्रह—कविता-

कौमुदी (ग्राम-गीत)--प्रकाशित हो चुका था, जिसमें युक्तप्रान्त के अनेक गीत प्रस्तुत किये गये थे। श्री झवेरचन्द मेघाणी की 'रढियाली रात' और दूसरे गुजराती लोक-गीत-संग्रह भी भुलाने की वस्तु नहीं थे। रायबहादुर दिनेशचन्द्र सेन के आदेश पर संगृहीत तथा कलकत्ता-विश्व-विद्यालय द्वारा प्रकाशित पूर्वी बंगाल के कथा-गीत भी उल्लेखनीय थे।

पर सत्यार्थीजी विश्व विद्यालय सरीखी शिक्षण-संस्थाओं से सहायता पाने की ओर से उदासीन थे। वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर मे मिले और अपने देशव्यापी लोक-गीत-संग्रह के लिए उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

अनेक वर्षों की ख़ानाबदोशी के पश्चात् सत्यार्थीजी ने अपने जीवन का ध्येय पा लिया है। उन्होंने अपनी लेखनी-द्वारा दिखा दिया कि उनमें एक-एक भाषा और एक-एक बोली के लोक-गीतों के द्वारा भारत के हर्ष और विषाद को सुनने की धुन है। निस्सन्देह उन्होंने स्काटलैण्ड के देशभक्त फ्लैचर के कथन की पुष्टि की है, जिसने सन् १७०६ में कहा था—'किसी भी जाति के लोक-गीत उसके विधान से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।'

सत्यार्थीजी को चाहिए कि वे भारत तथा भारत के समीपवर्ती देशों के लोक-गीतों का रसास्वादन कराते रहें, जिन्हें उन्होंने लोक-कविता की मौखिक परम्परा से लिपिबद्ध किया है। गीतों की मूल भाषाओं के बोल नागरी लिपि में सुरक्षित देखकर मेरा हृदय पुलकित हो उठता है। मेरे लिए इनका विशेष वैज्ञानिक महत्त्व है। अनुवाद की शैली में भी सत्यार्थीजी ने वैज्ञानिक और कवि के दो विभिन्न दृष्टिकोणों में संतुलन स्थापित किया है। और जहाँ तक गीतों की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने का सम्बन्ध है, सत्यार्थीजी आदि से अन्त तक एक चिन्तनशील और अग्रगामी संस्कृति-दूत के रूप में सदैव हमारी भाषाओं की रंगभूमि पर खड़े रहेंगे।

कलकत्ता

सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

प्र स्ता व ना

लोक-गीत के स्वर दूर से आते हैं। जाने ये स्वर कहाँ से फूट पड़ते हैं। युग-युग की पीड़ा-वेदना, युग-युग की हर्ष-श्री, रीति-नीति, प्रथा-गाथा, अचूक सहज रूढ़ि-वार्ता, भौगोलिक एवं वातावरण-निर्मित संस्कृत-परम्परा––ये सभी इन स्वरों में अपने नाम, धाम अथवा वंश आदि का परिचय देती प्रतीत होती हैं। एक गुजराती लोक-गीत के शब्दों में कोई कह उठता है—हम तो जंगल के मयूर हैं और कंकड़ खा कर जीते हैं ; पर यदि ऋतु आने पर हम अवाक रह जायँ, तो हमारा हिया फट जाय और हम मर जायँ। यह ऋतु आने पर अवाक् न रहने की प्रवृत्ति विशेष रूप से अभिनन्दनीय है। नीरव उदास दोपहरी हो, चाहे रात्रि का दूसरा प्रहर, ये स्वर थमते नहीं। ऋतु-पर्व-उत्सव की शत-शत स्मृतियाँ, आशा-प्रतीक्षा के शत-शत उपचार इन स्वरों में सजग हो उठते हैं।

स्वरों के पीछे एक चित्र उभरता है। एक चित्र क्यों, अनेक चित्र। किसी की अटपटी अलकें और क्लान्त-भ्रान्त मुद्रा, जिसका मन विकल है, जिसके नयन थकते हैं न पलकें झुकती हैं—ये पहाड़ी पथ की भाँति ऊँचे-नीचे स्वर इस चित्र के संरक्षक हैं। चित्र दबता नहीं, दूर दिगंचल में फैले ऊँचे-नीचे छलछल धान के खेत इस चित्र में प्राण-प्रतिष्ठा कर देते हैं। कौन इस थकी हुई कुलवधू को बताये कि उसका प्रियतम कब लौटेगा ? किसी भी काम में उसका मन नहीं लगता। कम्पित हाथों से वह भूमि पर कुछ रेखाएँ अंकित करती है, इन रेखाओं को गिनती है। यह कैसा हिसाब लगाया जा रहा है ? इस बार रेखाएँ धोखा दे गईं। कुछ परवाह नहीं। रेखाओं को मिटा डालना कौन कठिन है। भूमि हाथ से साफ करदी गई। फिर से रेखाएँ अंकित करदी गईं। अब के शायद रेखाएँ

मन की बात बतादें। कृपा रखियो, रेखाओ! प्रियतम आज आवेंगे या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा ; पर शायद रेखाएँ जोर-जबर्दस्ती सहन नहीं कर सकतीं। ऐसे अनेक भुज उभरते हैं। इन चित्रों पर लोक-मानस की छाप रहती है।

सुन्दर जनपदों के एक-से लोक-गीतों के विविध रूपान्तर और एक-से भाव चित्रों के विविध संस्करण लोक-मानव की एकता के परिचायक हैं। पर स्वरों के विस्तार-प्रसार और चित्रों की बहुमुख शैलियाँ लोक-गीतों की अग्रगामी शक्तियों का प्रमाण हैं।

भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी लोक-गीत के एक-एक शब्द को उठा कर देखता है और मानव-संस्कृति के किसी लुप्त पृष्ठ को टटोलना चाहता है। किस प्रकार एक शब्द सहस्रों कोस की यात्रा करता हुआ उधर से इधर चला आया, किस प्रकार यह थोड़े-बहुत बदले हुए रूप में भी अपनी मौलिकता का बखान कर रहा है? मुझे अनेक भाषाएँ प्रिय हैं। इनके शब्द अपरचितों की भाँति मुझ से मिले, शीघ्र ही हम मित्रता के सूत्र में बँध गये ; पर मेरा यह दावा नहीं कि मैं भाषा-विज्ञान का विद्यार्थी हूं।

समाज-विज्ञान का विद्यार्थी अपने ही दृष्टिकोण से लोक-गीत का अध्ययन करता है। वह देखता है कि वहाँ किस आचार-विचार की छाप पड़ी है? कहाँ किस वर्ग-विशेष की रीति नीति प्रतिबिम्बित हो उठी है? कहाँ किस गाथा में एक वर्ग ने अथवा कबीले की जनता ने अपने दृष्टि-पथ में आने के सम्बन्ध में अपने निश्चित मत प्रकट किये हैं? सूर्य, चन्द्र, तारा,—बादल, तूफ़ान, बिजलियाँ,—इनके सम्बन्ध में क्या-क्या सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है? कौन-सी वस्तु शोक-प्रेरक है; कौन-सी प्रोत्साहक? कौन-सी वस्तु विजय-श्री की प्रतीक है और किस-किस वस्तु-द्वारा पराजय अथवा निराशा का संकेत किया जाता है? इन प्रश्नों में भी मैं अधिक नहीं उलझा। क्योंकि मेरा यह भी दावा नहीं कि मैं समाज-विज्ञान का विद्यार्थी हूँ।

'बेला फूले आधी रात' प्रस्तुत करते हुए उन अनेक पन्थों की ओर दृष्टि घूम जाती है, जिन पर मैं २१ वर्षों से चलता आ रहा हूँ। ये पल मुझे प्रिय रहे हैं। मैंने जो सुना, उसे लिपिबद्ध किया, जो देखा और अनुभव किया, उनके द्वारा लोक-साहित्य को समझने का प्रयत्न किया।

मेरे अध्ययन का कोई एक निश्चित क्रम नहीं रहा। इसे दोष भी कहा जा सकता है; पर मेरे पास इसका एक ही उत्तर है कि यह कार्य मैंने स्वयं अपने ही परिश्रम द्वारा किया है। इसमें किसी संस्था के अधिकारियों का हाथ नहीं रहा।

मेरी नाक में नकेल पड़ जाय और कोई मुझे जिधर को हाँके मैं उधर ही चलूँ यह मुझे आरम्भ से अप्रिय रहा है। रस और आनन्द मेरे लिए सदैव पहली शर्त रही है। इसी रस और आनन्द का कुछ उपचार 'बेला फूले आधी रात' में मिलेगा।

स्वतन्त्र भारत में देश के अनेक प्रान्त और जनपद अपने-अपने लोक-साहित्य के संरक्षण की ओर अग्रसर होंगे, इसका मुझे विश्वास है।

लोकगीत-यात्रा में मुझे सदैव जाने-अनजाने मित्रों का सहयोग और आतिथ्य प्राप्त हुआ है। उनके नाम मेरे हृदय पर खुदे हुए हैं। उन्हें, मैं वहीं सुरक्षित रखना चाहता हूँ। यहाँ उनकी चर्चा नहीं करूँगा।

मित्रवर डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, जिनसे सर्वप्रथम सन् १९३२ में मेरी भेंट हुई, और जिन्हें मैं भाषा-विज्ञान के आचार्य से कहीं अधिक एक साहित्याचार्य के रूप में देखता आया हूँ, इन्हीं दिनों दिल्ली आये तो वार्तालाप करते हुए गत वर्षों के अनेक पृष्ठों को उन्होंने एक ही मुसकान से छू दिया। मैंने देखा कि उनका शरीर पहले से कुछ छट गया है; पर उनका मानस पहले से कहीं अधिक विशाल हो गया है। 'बेला फूले आधी रात' के आमुख के लिए मैं उनका ऋणी हूँ, जिसका अँग्रेज़ी रूपान्तर इससे पूर्व 'माडर्न रिव्यु' में प्रकाशित हुआ था।

भारतीय कला के मर्मज्ञ श्री नानालाल चमनलाल मेहता, जिन्हें 'बेला फूले आधी रात' समर्पित की जा रही है, लोक-साहित्य के गिने-चुने उन्नायकों में से एक हैं।

१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली
१ अक्तूबर, १९४८

—देवेन्द्र सत्यार्थी

क्रम

१

बेला फूले आधी रात

बेला आधी रात को खिलता है और चमेली को तो सवेरे का खिलना पसन्द है। लोकगीत की महिमामयी वाणी ने बेला और चमेली के बीच जाने कब से सीमा-रेखा खींच रखी है—'बेला फूले आधी रात, चमेली भिनसरिया हो!' पसन्द अपनी-अपनी। कोई किसी को मजबूर तो नहीं कर सकता। प्रत्येक फूल ने अपने खिलने का समय निश्चित कर रखा है। वनस्पति-शास्त्र के विशेषज्ञ लाख कहते रहें कि बेला चमेली की जाति का फूल है, पर इसका यह मतलब नहीं कि एक दिन बेला और चमेली में समझौता हो जायगा। चमेली भले ही अपना खिलने का समय बदल दे, बेला कभी इसके लिए तैयार नहीं होगा।

बंगाल का एक बाउल-गान है जिसमें बड़े मार्मिक शब्दों में कहा गया है—'तुइ की मानस मुकुल भाजबि आगुने, तुइ की फुल फोटाबी फल फलाबि शबुर बिहने?' अर्थात् क्या तू मन की कली को आग पर भून डालेगा? क्या तू फूल खिलायेगा, फल पकायेगा, सब्र के बिना? प्रतिभा चाहे एक व्यक्ति की हो चाहे समूचे देश की, विकास की विभिन्न अवस्थाओं में से लांघ कर ही अपनी अभिव्यक्ति कर पाती है। खैर इस समय तो बेला की बात चल रही है। धूप के साथ-साथ बेला की पंखड़ियां सुकड़ने लगती हैं, जैसे रात में खिले हुए फूलों को अपने बचाव का यही उपाय सिखाया गया हो। धूप के ढलते ही ये फूल फिर से खिलने लगते हैं, सात बजे ये खूब खिले हुए मिलेंगे। पर नई कलियां अपनी ज़िद पर अड़ी रहती हैं। वे कभी आधी रात से पहले नहीं खिलतीं। अब जिसे एक-दम बेला के नये फूल लेने हों उसे नींद का मोह छोड़ कर जागना पड़ता है।

कौन है यह सुन्दरी जो रतजगा कर रही है? तुम लाख अपने गीत का बोल गुनगुनाओ, बेला के फूल तो ठीक समय पर खिलेंगे—'बेला फूले आधी रात, गजरा मैं के के गरे डारूँ !' तुम्हारे प्रियतम को भी जागते रहना होगा। क्योंकि बेला के फूल किसी का लिहाज़ नहीं करते। धैर्य रखना होगा। फूलों को खिलने दो फिर शौक से गजरा गूँथना, शौक से इसे अपने प्रियतम के गले में डालना।

झट मेरा ध्यान अशोक-सम्बन्धी कविप्रसिद्धि की ओर पलट जाता है। सचमुच वह दृश्य बहुत मनोहर होता होगा जब सुन्दरियों के सनूपुर चरणों के मृदु आघात से अशोक के फूल एकदम खिल उठते होंगे। आजकल त्रयोदशी के दिन मदनोत्सव क्यों नहीं मनाया जाता? राजघरानों में प्रायः महारानी ही मदनोत्सव के शुभ अवसर पर अशोक की नायिका बनना पसन्द करती थी। हां यदि वह चाहती तो किसी अन्य सुन्दरी को भी यह कार्य सौंप सकती थी। अशोक के नीचे स्फटिक के आसन पर बैठे हुए प्रिय को मदन का प्रतीक मान कर अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्पों से सेवा की जाती थी। आज कोई सुन्दरी नृत्य-मुद्रा द्वारा प्रिय के चरणों पर वसन्त-पुष्पों की अंजलि क्यों नहीं बखेरती? उन दिनों जन-जीवन में भी मदनोत्सव की थोड़ी-बहुत परम्परा अवश्य रही होगी। शायद कोई कह उठे कि मानव बहुत आगे निकल आया है—इतना आगे कि वह पलट कर अतीत को नहीं देख सकता। अशोक पहले भी खिलता होगा, आज भी खिलता है, उसके लाल-लाल फूल, जिन्हें एक दिन मदन देवता ने अपने तुणीर में स्थान देने के लिए अपनी पसन्द के पांच फूलों में स्थान दिया था, आज भी प्रकृति के चित्रपट में रंग भर देते हैं। श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अशोक की साहित्यिक परम्परा की रूप-रेखा अंकित करते हुए ठीक ही लिखा है—"ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में वह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है वह पहले कहां था! उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भांति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी लेते थे, पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था... अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप से निकल जाता है...ईसवी सन् के आरम्भ के आसपास

अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था......धर्मग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की संतान-कामना फलवती होती हैं। अशोक कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तांत्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझ कर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है......बहुत पुराने ज़माने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निपटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य, पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालू, दूसरी श्रेणी में आते हैं। परवर्ती हिन्दू समाज इस में सब को अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सब में देवता-बुद्धि का पोषण करता है। अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है......असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प देवता की होती थी। इसे मदनोत्सव कहते थे......अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक जो साधारण जनता के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खा कर खड़ी हुई थी। और लाखों करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गये, साम्राज्य ढह गये और मदनोत्सव की धूम-धाम भी मिट गई। सन्तान कामनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया!...अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हज़ार वर्ष पहले था। कहीं भी कुछ नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती......अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हँस रहा है......कहां, अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे—अपने ढंग से मैं भी ले सकता हूँ; पर अपने ढंग से उदास होना बेकार है।

फिर बेला की ओर देखता हूं तो लगता है मन यों ही दूर भटक गया था। होगा अशोक अपनी जगह। बेला ने तो कभी उससे होड़ नहीं ली, न उसका ऐसा इरादा ही है। हां एक बात छुट रही है। उसे अभी निबटा लें। मदन

देवता ने शिव पर बाण फेंकने की बात न सोची होती तो आज हमें कहीं भी बेला फूल के दर्शन न हो पाते। वामण पुराण में इस गाथा का उल्लेख किया गया है। मदन का शरीर एक दम जलकर राख हो गया। उसका सूनमय धनुष खण्ड-खण्ड होकर धरती पर गिर गया। इसकी रुक्म-मणि की बनी हुई मूठ टूट कर धरती पर गिरी तो वहां चम्पा का पुष्प बन गया; हीरे का बना हुआ नाह-स्थान गिरा तो वहां मौलसिरी के पुष्प खिल उठे; इन्द्रनील मणियों का कोटि-देश गिरा तो वहां पाटल पुष्प उत्पन्न हो गये; चन्द्रकान्त मणियों का बना हुआ मध्यदेश गिरा तो वहां चमेली-ही-चमेली नज़र आने लगी; और जहा विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि गिरी वहां बेला के श्वेत फूल खिल उठे! अब इतना तो पूछा जा सकता है कि क्या यह घटना सचमुच आधी रात को ही घटी थी। क्योंकि आधी रात से पहले या पीछे तो बेला के फूल खिलते ही नहीं। सबसे बड़ा अचरज तो यह है कि विद्रुम अथवा मूंगा के बने निम्नतम कोटि के टूटकर गिरने से बेला के फूल कैसे पैदा हो गये! मूंगे का रंग लाल होता है और बेला का एकदम श्वेत। लाल कैसे श्वेत में परिणत हो गया?

बेला ग्रीष्म ऋतु का फूल है। दिन में जितनी अधिक गरमी पड़ती है, रात को उतनी ही शान से बेला खिलता है। शीतकाल के आरम्भ तक बेला खूब खिलता है। महाराष्ट्र और आंध्र देश में सुन्दरियों की वेणियों पर गुंथे हुए बेला फूल जिसने नहीं देखे उसे इन प्रदेशों में अवश्य जाना चाहिए। यह कला बस वहीं है। वहां की सुन्दरियां जब दूसरे प्रान्तों में आती हैं तो इस कला का प्रदर्शन करने से नहीं चूकतीं। पारसी वर-वधू के बीच बेला फूलों की मालाओं की झीनी चिक लटकाने की प्रथा है। उत्तर भारत में वर का सेहरा बेला फूलों से गूँथा जाता है। बंगाल में वर की पुष्प-शय्या पर जहां अनेक फूल बिछाते हैं वहां बेला को भी भुलाया नहीं जाता।

अभी उस दिन एक बंगाली मित्र ने बताया कि उनके यहां फूल प्रायः देवताओं की पूजा में ही अर्पण किये जाते हैं। शिव को श्वेत फूल पसन्द है, गौरी को लाल फूल। शिव को सुगन्धित फूल नहीं चाहिएं, उनका काम तो धतूरे के फूलों से ही चल सकता है। सोचता हूँ बेला फूल श्वेत होने के बावजूद सुगन्धित होने के कारण शिव को पसन्द नहीं आ सकते होंगे। भले ही इनका रंग श्वेत है, पर ये सुगन्धित तो हैं। गौरी की पूजा में ही इनका अधिक प्रयोग किया जा सकता है। यह जान कर मेरे हृदय पर अवश्य चोट लगी कि बेला फूल की चर्चा बंगाली लोकवार्त्ता और साहित्य में अधिक नहीं मिलती!

इसलिए रवीन्द्रनाथ टाकुर की एक कविता में बेला का नाम देखकर मुझे अपार हर्ष हुआ—

शेई चाम्पा शेई बेल फुल
के तोरा आजि ए प्राते एने दिलि मोर हाते
जल आशे आंखि पाते हृदय आकुल
शेई चाम्पा शेई बेल फुल !

—'वही चम्पा, वही बेला फूल
आज सवेरे तुम में से किसने मेरे हाथ में ला थमाये ?
मेरी आंखों में अश्रु हैं, हृदय आकुल है,
वही चम्पा, वही बेला फूल !'

बंगला-लोकवार्त्ता और साहित्य में बेला की चर्चा का इतना अभाव क्यों है ? इसका उत्तर सहज नहीं। रजनीगंधा, चम्पा, जूही, चमेली, कमल, अपराजिता आदि अनेक पुष्पों का बार-बार नाम लिया जाय और बेचारे बेला को एक दम भुला दिया जाय, इसे तो न्याय नहीं कहा जा सकता। बल्कि 'सात भाई चम्पा' शीर्षक बंगला-लोककथा में तो 'पारुल' फूल का नाम आया है जिसे आज तक किसी ने देखा नहीं। कहते हैं कि एक राजा के सात राजकुमार थे और एक राजकुमारी। राजा की तीन अन्य रानियों ने मिलकर बड़ी रानी का सम्मान इतना कम कर दिया कि बेचारी को दासी बन जाने पर मजबूर हो जाना पड़ा। राजकुमारों और राजकुमारी को धरती में दफ़ना दिया गया। वहां बहिन के स्थान पर 'पारुल' का पौधा और भाइयों के स्थान पर सात चम्पा उग आये। जब भी राजा का माली या रानियां इन पौधों के फूल तोड़ने आतीं है फूल ऊपर-ही-ऊपर उठ जाते। अन्त में जब राजकुमारी और राजकुमारों की माता वहां आई तब फूल नीचे झुक कर उसकी झोली में आ पड़े। इस कथा से सम्बन्धित लोक-कविता का एक बोल बड़ा मार्मिक है—

सात भाई चाम्पा जागो रे
केनो बोन पारुल डाको रे
राजार माली एसे छे
फूल देबे कि देबे ना ?
न दिबो न दिबो फूल
ऊठिबो शतेक दूर
आगे आशुक राजार बड़ो रानी
तबे दिबो फूल

—'जागो रे सात भाई चम्पा !'
'काहे को बुला रही हो पारुल बहिन !'
'राजा का माली आ रहा है
फूल दोगे कि नहीं दोगे ?'
'नहीं देंगे, फूल नहीं देंगे,
सौगुना ऊपर उठ जायेंगे
आगे राजा की बड़ी रानी आवेगी
तभी फूल देंगे !'

इन्हीं छोटी-छोटी कथाओं में मनुष्य की विजय-यात्रा की अमर-कहानी अंकित है। मर कर भी फूलों के रूप में पैदा होने का क्रम निरन्तर प्रवाहमय जीवन का प्रतीक है।

: २ :

बेला के फूल फिर खिल गये। लोकगीत इनके सदैव ऋणी रहेंगे। मनुष्य के युग-युग से संचित संस्कार से फूलों को जो स्थान प्राप्त है उससे वे कभी च्युत नहीं किये जायेंगे। सोचता हूँ मनुष्य ने प्रकृति पर विजय नहीं पाई, बल्कि प्रकृति ने मनुष्य पर विजय पाई है। न जाने किस मूक भाषा में प्रकृति मनुष्य को अपनी ओर आने का सन्देश भिजवाया करती है—अब तो फूल खिल गये, क्या अब भी न आओगे ? फिर तुम्हें कब फुरसत मिलेगी ?

एक भोजपुरी विवाह-गान में कन्या की तुलना बेला फूल से की गई है। किस प्रकार नैहर छोड़ने के विचार से कन्या का हृदय चिन्ताग्रस्त हो उठता है, इसका इतना सुन्दर चित्रण लोक-प्रतिभा की अग्रगामी शक्तियों का प्रतीक है—

बाबा बाबा गोहरावौं बाबा नाहीं जागैं
देत सुनर एक सेंनुर भइलू पराई।
भैया भैया गोहरावौं भैया नाहीं बोलेलें
देत सुघर एक सेंनुर भइउं पराई।
बनवा में फूलेली बेइलिया अतिहि रूप-आगरि
मलिया त हाथ पसारे तू होसि जा हमार
जनि छूवा, ए माली, जनि छुव, अबहिं कुवांरि
आधी राति फूलिहें बेइलिया त होइबों तोहार।
जनि छूअ, ए दुलहा, जनि छूअ, अबहिं कुवांरि
जब मोरे बाबा सँकलाये हे तब होइबों तोहारि।

—'बाबा ! बाबा !! पुकार रही हूँ, बाबा जागते ही नहीं
एक सुन्दर पुरुष सिंदूर दे रहा है, मैं पराई हुई जा रही हूँ
भैया ! भैया !! पुकार रही हूँ, भैया सुनते ही नहीं
एक रुघड़ पुरुष सिंदूर दे रहा है, मैं पराई हुई जा रही हूँ
वन में बेला की अत्यंत रूपवती कली खिल गई
माली ने हाथ पसारा—तुम हमारी बनो !
मत छुओ, हे माली, मत छुओ, अभी मैं कुमारी हूँ
आधी रात को बेला की कली खिलेगी तो मैं तुम्हारी हो जाऊंगी
मत छुओ, हे दूल्हा, मत छुओ, अभी मैं कुमारी हूँ
जब मेरे बाबा मुझे संकल्प देंगे तो मैं तुम्हारी हो जाऊंगी !'

एक मैथिली झूमर में पुष्प-शय्या की कल्पना की गई है जिसमें बेला फूलों ने उपयुक्त स्थान पाया है—

कौन फूल फूलै आधी आधी रतिया
कौन फूल फूलै भिनसार मधुवन में
बेली फूल फूलै आधी आधी रतिया
चम्पा फूल फूले भिनसार मधुवन में
घर मछुअरवा लोहरवा भइया हित वसु
लालि पलंग बिनि देहु मधुवन में
फुलवा में लेढ़ि लेढ़ि सेजिया डसैलों
राजा बेटा खेलइअ शिकार मधुवन में
हटि सुतु हटि बइसु सासुजी के बेटवा
घामे चोलिया हयत मलिन मधुवन में
होय दिअऊ होय दिअऊ सासु जी के बेटिया
धोबी घर देबइ धोआय मधुवन में
धोबिया के बेटा पिया बरा रंगरसिया
चोलिया मसोरि रस लेत मधुवन में !

—'कौन फूल आधी आधी रात को खिलता है ?
कौन फूल सवेरे खिलता है मधुवन में ?
बेला फूल खिलता है आधी आधी रात को
चम्पा फूल सवेरे खिलता है मधुवन में ।
ओ घर के पिछवाड़े के लोहार भैया, तुम मेरे हितैषी हो
लाल पलंग बना दो मधुवन में ।

फूल चुन-चुनकर मैंने शय्या सजाई
राजा बेटा शिकार खेलता है मधुवन में।
हटकर सोओ, हटकर बैठो, ओ सास के बेटे!
पसीने से मेरी चोली मैली हो रही है मधुवन में।
होने दो, होने दो, ओ सास की बिटिया !
धोबी के घर में धुला दूंगा मधुवन में।
ओ पिया धोबी का बेटा है बड़ा रंगरसिया,
चोली को मसलकर रस ले लेता है मधुवन में!'

एक फूल दिन के बारह बजे खिलता है तो दूसरा रात के बारह बजे—इसी टेक पर युक्तप्रान्त का लोक-मानस सौंदर्यबोध की अनुभूति प्रस्तुत करता है—

एक फूल फूलै खड़ी दुपहरिया
दूसर फूल फूलै आधी रात, हो गोरिया !
फुलवा बिनि बिनि मैं रसा गरायों
हौदा भरा रस होय, हो गोरिया
उहै रसा का मैं चुनरी रंगायों
चुनरी भई रंगदार, हो गोरिया !
चुनरी पहरि मैं ओलयों ओसरवाँ
पियवा क मन ललचाय, हो गोरिया !
चोर की नैयां पिया लुकि लुकि आवै
जेकरे मैं बिग्राही तेउ पख फोरबा, हो गोरिया !

—'एक फूल ठीक दुपहरी में खिलता है
दूसरा फूल खिलता है आधी रात को, ओ गोरी !
फूल चुन-चुनकर मैंने रस निचोड़वाया
रस से कुण्ड भर गया, ओ गोरी !
उसी रस से मैंने चुनरी रंगाई
चुनरी रंगदार हो गई, ओ गोरी !
चुनरी पहनकर मैं ओसारे में सोई
पिया का मन ललचा उठा, ओ गोरी !
चोर के समान पिया छिप-छिपकर आते हैं,
वहीं मानो सेंध लगाते हैं, ओ गोरी !'

बेला के रस से तो चुनरी नहीं रंगी गई होगी। पर आधी रात को खिलने वाले फूल भी चुने गये होंगे और दोपहर को खिलने वाले फूलों के साथ उन्हें

भी निचोड़वा लिया गया होगा। यह कल्पना की जा सकती है।

कहीं-कहीं कृष्ण की शिकायत की गई है, क्योंकि उसकी कोई नटखट गाय जहां और फूलों पर मुंह मार जाती है वहां बेला का भी लिहाज़ नहीं करती। एक भोजपुरी विवाह-गान कुछ इसी तरह की शिकायत से शुरू होता है और फिर बीच से नाटकीय झांकी की तरह वर-वधू की चर्चा छेड़ दी जाती है—

नदिया के तीरे मालिन दोना लगावेली
दोना के घनी फुलवारी ए
सांझे के छुटेले कन्हइया के गइया
चरी गइली घनी फुलवारी ए
एइली चरी गइली बेइलि चरी गइलि
चरी गइलि चम्पा के डाड़ ए
तीनु फूल मोर चरी गइलि गइया रे
मउलेला चम्पा के डाड़ ए
बरिज कन्हइया रे आपन गइया
चरी गइलि घनी फुलवारी ए
झारा रे झरोखा चढ़ि सासु निरेखेलि
केते दल आवे बरियाति ए
हथिया अचास आवे घोड़वा पचास आवे
कतथक आवेला बहुत ए
कतथक कतथक जनि करु सरहजि
कतथक राउर बरियाति ए
मुँहे पटुक देके बोलेले कवन दुलहा
ससुर से अरज हमार ए
हाथी ही घोड़ा ससुर कुछउ न लेबों
सरहज लेबे हम आइ ए
अतना बचन सरहज सुनहो न पवलों
चलतौ ससुर दरबार ए
अइसन वर ससुर कतहीं न देखेलों
माँगेला पूत बहुआर ए
जनि बहु हरकहु जनि बहु भनकहु
जनि मन करहुँ उदास ए
सोनवा ही रुपवा बहु बरधो लदाइबि

पूत बहु रखबो छिपाइ ए।

—'नदी के तीर पर मालिन दोना लगा रही है,
दोना के लिए घनी फुलवारी है,
कन्हैया की गाय साँझ ही को छुट गई,
उसने घनी फुलवारी चर डाला,
एला चर गई बेला चर गई,
चम्पा की डाल भी चर गई,
गाय मेरे तीनों फूल चर गई,
चम्पा की डाल को मसल डाला,
रे कन्हैया, अपनी गाय को मना करो
मेरी घनी फुलवारी को चर गई,
झरोखे पर चढ़कर सास ने देखा,
कितने दल बारात आ रही है।
पचास हाथी और पचास घोड़े आते हैं,
बहुत से कत्थक आ रहे हैं,
कत्थक कत्थक मत कहो, ओ सरहज !
कत्थक नहीं, ये सरदार बराती हैं,
मुंह को पटुका से ढककर दूल्हा बोला—
ससुर से हमारी प्रार्थना है,
ससुर जी, हाथी और घोड़ा, मैं कुछ नहीं लूँगा
हम तो सरहज को लेने आये हैं।
इतना वचन सरहज सुन न सकी
ससुर के दरबार में पहुंच गई—
हे ससुर, ऐसा वर मैंने कहीं नहीं देखा
वह तुम्हारी पुत्र-वधू मांगता है।
क्रोध मत करो पुत्र-वधू, झुंझलाओ मत, पुत्रवधू !
अपने मन को उदास मत करो
ओ पुत्र-वधू, मैं सोना और रूपा बैल पर लाद कर उसे दूँगा,
पुत्रवधू को छिपाकर रखूँगा !'

जैसे वह गाय नटखट थी जो बेला फूलों को चर गई थी, वैसे ही यह वर भी कुछ कम नटखट नहीं जिसने दहेज के रूप में सरहज की माँग पेश कर दी। सरहज का दोष अवश्य था कि उसने बारातियों को कत्थक का ताना दिया।

ऐसे गीत बहुत कम हैं जिनमें स्वतन्त्र रूप से केवल बेला फूलों की बात कही गई हो। कहीं दो फूलों की बात एक साथ कहने की प्रथा है तो कहीं एक-साथ तीन-तीन बल्कि इससे भी अधिक फूलों का परिचय दिया जाता है—

कौन मास फूलेला गुलबवा हो रामा,
कि कौना रे मासे ?
बेला फूले चमेली फूले......
अवरू फूलेला कचनरवा हो रामा !
गेंदवा जो फूले माघ रे फगुनवाँ
चैत मास फूले गुलबवा हो रामा।

—'कौन महीने गुलाब खिलता है, हे राम !
कौन महीने ?
बेला खिलता है, चमेली खिलती है,
और खिलता है कचनार, हे राम !
गेंदा खिलता है माघ और फागुन में
चैत मास में खिलता है गुलाब, हे राम !'

पास से कोई भक्त अपना गान छेड़ देता है—

राम नहिं जानैं तौ और जाने का भा ?
फूल तो वा है जो राम जी सोहै
नाहीं तो बेला लगाय से का भा

—'राम को नहीं जाना तो दूसरों को जानने से क्या हुआ ?
फूल तो वही है जो रामजी को सोहता है
नहीं तो बेला लगाने से क्या हुआ ?'

बेला का नाम आते ही आधी रात का चित्र स्वयं अंकित हो जाता है। भक्त के लिए बेला, जो आधी रात को खिलता है, एक योगी का प्रतीक है जो रात्रि के एकान्त वातावरण में योग का अभ्यास करता है, भोजपुरी लोकगीत में भक्त और देवी के प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गये हैं—

'कौन फूल फूलेला लाहारलि
कवन फूल रंथ साजे हो
ए मइया कवना फुलवा रहेलु लोभाई
सेवक राउर बाट जोहै हो !'
'अड़हुल फूल फूलेला लाहारलि
चम्पा फूल रंथ साजे हो

ए सेवका बेला फूल रहीलें लोभाई
सेवकवा मोर रथ साजे हो !'

—'कौन फूल प्रफुल्लित होकर खिलता है ?
किस फूल से रथ सजाया जाता है ?
ओ मैया, तुम किस-किस फूल पर मुग्ध हो ?
सेवक तुम्हारी बाट जोह रहा है।'
'अड़हुल फूल प्रफुल्लित होकर खिलता है,
चम्पा फूलों से मेरा रथ सजाया जाता है,
ओ सेवक, बेला फूलों पर मैं मुग्ध हूँ
ओ सेवक, मेरे रथ को सजाओ।'

कल्पना में बेला का पौधा इतना ऊँचा उठ जाता है कि उसके नीचे सुन्दरी खड़ी हो सके। एक स्थान पर यही चित्र प्रस्तुत किया गया है—

'मैं बेला तरे ठाड़ि रहिऊँ
के जदुवा डारा !'

—'मैं बेला के नीचे खड़ी थी,
किसने जादू डाला ?'

बेला का रस लेकर भ्रमर को उड़ते देखकर शीतला माता के भोजपुरी लोकगीत में इस चित्र को इस प्रकार अंकित किया गया है—

केकराहि आँगाना बेइलिया,
बेइलिया, हो लाल !
रसे हि रसे रस चुवे
रसकलिया, हो लाल !
मलिया आँगाना, ए सेवका,
बेइलिया, हो लाल !
रसे हि रसे रस पीयेले
भँवरा मतवलवा, हो लाल !
माती गइले सीतली मइया के
दरबरवा, हो लाल !

—'किस के आंगन में बेला खिल गया,
बेला, हो लाल ?
धीरे-धीरे रस चू रहा है,
रस से भरी कली, हो लाल,

माली के आंगन में, ओ सेवक,
बेला खिल गया, हो लाल,
धीरे-धीरे रस पी रहा है।
मतवाला भ्रमर, हो लाल !
वह मतवाला हो गया शीतला मैया के
दरबार में, हो लाल !'

प्रियतम परदेस में हैं। इधर 'उत्पाती' वसन्त आ गया। विरह और भी कठिन हो गया। मैथिल जनपद के एक 'चैतावर' गीत में इस अवस्था का चित्र देखिए—

नइ भेजे पतिया
आयल चैत उतपतिया हे रामा
नइ भेजे पतिया
विरही कोयलिया शब्द सुनावे
कल न पड़े अब रतिया हे रामा
नइ भेजे पतिया
बेली-चमेली फूले बगिया में
जोबना फूलल मोर अंगिया हे रामा
नइ भेजे पतिया !

—'प्रियतम ने पत्र नहीं भेजा,
उत्पाती चैत्र आ गया, हे राम !
प्रियतम ने पत्र नहीं भेजा !
विरही-कोयल कूक रही है
अब रात को कल नहीं पड़ती, हे राम !
प्रियतम ने पत्र नहीं भेजा !
बेला और चमेली बाग में खिलते हैं
यौवन खिल गया मेरे अंगिया में, हे राम,
प्रियतम ने पत्र नहीं भेजा !'

झूमर-नृत्य के गीतों में घूम-फिर कर बेला के फूलों पर तान तोड़ने की प्रथा है, मैथिली का एक झूमर लीजिए—

बेली पहिनि हम सोयली अंगनमा
अबा-जाइ कएलों
ओ मोर राजा अबा-जाइ कएलों

इ देहिया मोर अमा के पोसल
कइसे हक लगएलों
ओ मोरे राजा, कइसे हक लगएलों।
बेली अइसन हम चमकत रहलि
धूरमइल कइदेलों
बेली पहिनि हम सोएलों अंगनमा
अबा-जाइ कएलों
ओ मोरे राजा, अबा-जाइ कएलों !

—'बेला के फूल पहनकर मैं आंगन में सो गई
तुमने आना-जाना किया
ओ मोरे राजा, तुमने आना-जाना किया,
यह देह मेरी माँ की पाली हुई है
तुमने कैसे हक जताया ?
ओ मोरे राजा, तुमने कैसे हक जताया ?
बेला के फूल पहनकर मैं आंगन में सो गई
तुमने आना-जाना किया,
ओ मेरे राजा, तुमने आना-जाना किया !'

अब एक भोजपुरी झूमर लीजिए जिस पर अंग्रेज़ी काल की पूरी-पूरी छाप पड़ी है—

मोरा अंगनइया में बेला की बहार बा
बेला भी फूले चमेली भी फूले
सब फुलवनवा में राजा गुलाब बा
मोरा अंगनइया में बेला की बहार बा
तबला भी बाजे सारंगी भी बाजे
सब बाजन में नामी सितार बा
मोरा अंगनइया में बेला की बहार बा
जूही भी फूले चम्पा भी फूले
सब फूलन में राजा गुलाब बा
मोरा अंगनइया में बेली की बहार बा
डिपटी भी बइठे कलट्टर भी बइठे
सब से सुन्नर सैयां हमार बा
मोरा अंगनइया में बेली की बहार बा !

—'मेरे आंगन में बेला की बहार है।
बेला भी खिलता है, चमेली भी खिलती है
फूलों के वन में गुलाब सब का राजा है
मेरे आंगन में बेला की बहार है
तबला भी बजता है सारंगी भी बजती है
सब बाजों में सितार प्रसिद्ध है
मेरे आंगन में बेला की बहार है
जुही भी खिलती है चम्पा भी खिलता है
फूलों में गुलाब सब का राजा है
मेरे आँगन में बेला की बहार है
डिपटी भी बैठा है कलक्टर भी बैठा है
सब से सुन्दर मेरा प्रियतम है
मेरे आँगन में बेला की बहार है।'

एक कन्नड़ लोकगीत में शिव और गंगा की गाथा पिरोई गई है। गंगा फूल चुन रही है तालाब के किनारे। शिव अपने मन्दिर के लिये पांच फूलों की याचना करते हुए प्रणय का प्रसंग आरम्भ करते हैं। ये काहे के फूल हैं, यह स्पष्ट नहीं। पर शिव तो श्वेत फूलों पर ही रीझते हैं। सहज ही हमें उन फूलों की स्मृति हो आती है जो आधी रात को खिलते हैं, एक दम चाँदनी से होड़ लेते हुए—

हल्लद दण्ड्याग हूउ कोट्युव जाणे
देवरिगे एदु दयमाडे।
देवरिगे ऐदूहू नानु दयमाडिद्रे
नम्मवरु नन्न बैदारु।
अवरु बैय्यद हंगे अवरु काणद हगे
सुम्ने बागंगे जडेयागे।
बन्दारु बन्देनु, नम्बिगि काणादु
रंभे इरुवलु विन्न मनियागे।
उक्को हालनु तार सत्य-माडुबे बार
रंभिल्ल बार मनियाग।
आरिदूहालुनु तार आणि माडुवे वार
राणिल्ल वार-मनियाग।

—'ओ सरोवर के किनारे फूल बीनने वाली सयानी!

मन्दिर के लिए पांच फूल ला री !'
'मन्दिर के लिए मैं पांच फूल लाऊँ
तो मोरे घर वाले मुझे डाटेंगे ।'
'उनकी आँख बचाकर चुपचाप यहां चली आ री
मेरी जटा में छिप जा री !'
'जी है कि आ जाऊँ, विश्वास नहीं आता,
कौन जाने तुम्हारे घर में कोई रम्भा होगी !'
'गरम दूध ला री, मैं अपना कथन सच करके दिखाऊँगा,
मेरे घर में कोई रम्भा नहीं है री !'
'ठण्डा दूध ला री, मैं शपथ लेकर कहता हूँ,
मेरे घर में कोई दूसरी रानी नहीं है री !'

कर्नाटक में प्रायः कहा जाता है कि जिस घर का हम दूध पीते हैं वहां धोखा नहीं देना चाहिए। गंगा के हाथ में बेला के श्वेत फूलों का सौंदर्य कितना मनोहर रहा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

उधर नेपाली लोक-कवि का मत दूसरा ही है—

चम्पा चमेली मोतिया बेली
क्या होला इन को बास
माया को फूल को बासना हेरी
ई फूल छन जस्तो घास !

—'चम्पा, चमेली, मोतिया और बेला
इन की सुगंध का क्या हुआ ?
प्रेम के फूल की सुगंध देख कर
ये फूल घास के समान लगते हैं।'

मान लिया कि प्रेम भी एक फूल है। पर सचमुच के फूलों को घास के रूप में चित्रित करना भी कहां की कला है। चम्पा, चमेली और मोतिया को छोड़ भी दें, बेला को तो नहीं छोड़ सकते।

: ३ :

अभी उस दिन एक मित्र कह उठे, "अजी किस भूल भुलैयां में पड़े हो। शायद तुम कभी इससे बाहर नहीं आ सकोगे। अरे भई, बेला को अपने हाल पर छोड़ दो। वह ठीक आधी रात को ही खिलता है, इससे ज़रा पहले या काफ़ी पीछे, तुम्हें इसकी क्यों इतनी चिंता है ? दुनिया आगे निकल गई, कला

भी बहुत आगे बढ़ गई। एक तुम हो कि हमेशा पीछे पलट कर देखने के आदी हो। अरे मियाँ, ज़माने का साथ क्यों नहीं देते?"

मैंने कहा, "बेला मेरे लिये कलाकार का प्रतीक है।"

वह बोला, "मैं तुम्हारा मतलब समझ गया। तुम कहना चाहते हो कि कलाकार में अपनापन होना चाहिए, शायद तुम यह भी कहना चाहते हो कि कला के पनपने के लिए एकान्त चाहिए; भीड़-भड़क्के में कला का दम घुटने लगता है। पर मैं यह नहीं मानता। भीड़-भड़क्के की भी कला हो सकती है। कला एक तूफान का रूप भी तो धारण कर सकती है। इस युग का नया आदर्श है। आज का इन्सान तूफानों में खेलने का आदी हो रहा है, उसकी कला को भी उसका साथ देना होगा। आज की कला उस नदी की तरह है जो धरती को उपजाऊ बनाती है, जो मिट्टी को बहाकर भी ले जाती है, जो नये रास्ते निकालने से ज़रा भी नहीं झिझकती।"

मैं घबराकर इधर-उधर देखने लगा। इतनी खैर हुई कि यह आधी रात का समय नहीं था। नहीं तो बेला फूल उसकी बातें सुनकर शायद उतने न खिल पाते जितना कि उन्हें सचमुच सदैव खिलना चाहिए। मैंने हताश होकर कहा—"सुनो एक ज़ोरदार चीज़!"

वह बोला, "लोकगीत तो मत सुनाना।"

मैंने कहा, "रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता है।"

"हां हां," वह बोला, "उसे ज़रूर सुनाओ।"

मैंने सोचा शायद इसी कविता की सहायता से मैं उसे अपनी बात समझा सकूं। यह भी अच्छा हुआ कि वह मान गया। मैंने कहा, सुनो भई, क्या खूब कविता है—

तोरा केउ पारबि ने गो फुल फोटाते।
यतइ बलिस यतइ करिस, यतइ तारे तुले धरिस्
व्यग्र हये रजनी दिन आघात करिस बोंटाते।
तोरा केउ पारबि ने गो फुल फोटाते॥
दृष्टि दिये बारे बारे, म्लान करते पारिस तारे,
छिंड़ते पारिस दल गुलि तार धूलाय पारिस् लोटाते,
तोदेर विषम गण्डगोले, यदिइ वा से मुखटि खोले,
धरबे ना रङ—पारबे ना तार गंधटुकु छोटाते।
तोरा केउ पारबि ने गो फुल फोटाते॥
ये पारे से आपनि पारे, पारे से फुल फोटाते।

से शुधु चाये नयन मेले, दुटि चोखेर किरन फेले,
अमनि येन पूर्ण प्राणेर, मंत्र लागे बोंटाते।
ये पारे से आपनि पारे, पारे से फुल फोटाते।।
निःश्वासे ता'र निमेषेते, फुल येन चाय उड़े येते,
पातार पाखा मेले दिये हावाय थाके लोटाते।
रङ् ये फुटे ओठे कत, प्राणेर व्याकुलतार मतो,
येन का'रे आनते डेके गन्ध थाके छोटाते।
ये पारे से आपनि पारे, पारे से फुल फोटाते।।

—'तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे
जो कुछ भी बोलो, जो कुछ भी करो, जितना भी उसे उठाकर थामो
व्यग्र होकर रात दिन उसके वृन्त पर जितनी भी चोट करो
तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे।
बार-बार नज़र गड़ाकर तुम उसे म्लान कर सकते हो
उसके दलों को तोड़कर धूल में रौंद सकते हो
तुम लोगों के विषम कोलाहल से यदि वह कली मुंह खोल भी दे
तो उसमें रंग नहीं आएगा, तुम उससे सुगंध नहीं बिखरवा सकते
तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे।
जो सकता है वह अनायास खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है,
वह केवल आँख खोलकर देख लेता है, दोनों आंखों की किरण लगते ही
मानो पूर्ण प्राण का मन्त्र उस वृन्त पर लग जाता है
जो सकता है वह अनायास खिला सकता है,वह फूल खिला सकता है
उसके निःश्वास लगते ही फूल मानो तुरन्त उड़ जाना चाहता है
अपने दलों के पंख फैलाकर मानो हवा में झूमने लगता है
न जाने कितने रंग प्राणों की व्याकुलता के समान खिल उठते हैं
न जाने किसको बुलाने के लिए सुगंध को चारों ओर दौड़ाने लगते हैं
जो सकता है वह अनायास खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है।'

वह बोला, "कविता अच्छी है, पर बेला फूल का तो इसमें कहीं नाम तक नहीं लिया गया।"

मैंने कहा, "यह सिद्ध किया जा सकता है कि बचपन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बेला फूल चुनने का आनन्द प्राप्त किया था।"

अपने कथन के समर्थन में मैंने रवीन्द्रनाथ की एक कविता के कुछ पंक्तियां प्रस्तुत कर दीं—

बेला फुल दुटि करे फुटि फुटि
अधर खोला
मने पड़े गैलो छेले बेलाकार
कुसुम तोला

—'दो बेला फूल बस खिला ही चाहते हैं
मुंह खोल कर
याद आ गया बचपन का
फूल चुनना ।'

वह बोला, "यह काफी न हो तो वह लोकगीत भी सुना डालो जिसमें गांव की नारी ने पूछा है—'नदिया किनारे बेला किन बोया ?' गांव की नारी अपनी ही जगह पर खड़ी यह प्रश्न पूछ रही है। उसे क्या मालूम कि दुनिया कितनी आगे निकल गई ।"

मैंने इसका कुछ उत्तर न दिया । न जाने क्यों मेरा ध्यान मालती की ओर चला गया जिसे सम्बोधित करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर कह उठे थे—'हे मालती एइ तोमार द्विधा केनो ?' अर्थात् हे मालती तुम्हारी दुविधा क्यों है ? मैं अपने मित्र से पूछना चाहता था कि मालती वर्ष में दो बार अर्थात् बसन्त में और वर्षा तथा शरत में क्यों खिलती है । मैं यह भी पूछना चाहता था कि महाकवि कालिदास ने अपने ऋतु-संहार में मालती के वसन्त में खिलने की बात एकदम कैसे भुला दी । महाकवि ने वर्षा और शरत में ही मालती के खिलने की चर्चा करने में आखिर क्या भलाई देखी ? कालिदास से हट कर मेरा ध्यान रामायण के आदि-कवि की ओर चला गया जिनके कथनानुसार मेघाच्छन्न आकाश रहने पर मालती के विकसित होने से ही सूर्य के अस्त हो जाने का अनुमान हो जाता था । फिर मानो मेरी कल्पना को झटका सा लगा, और मैं मालती से पीछा छुड़ा कर बेला के सम्बन्ध में ही सोचने लगा ।

मेरा मित्र बोला, "भई किस सोच में खोये जा रहे हो ? यह आधी रात को खिलने वाला बेला तुम्हें पागल न करदे !"

मैंने इसका कुछ उत्तर न दिया । मेरी कल्पना में मानो दूर तक शेफालिका के फूल खिल गये । मैं कहना चाहता था कि शेफालिका तो भारत में सर्वत्र खिलती है, कोंकन में यह वर्षा में खिलती है तो अनेक जनपदों में इसके खिलने का समय है वर्षान्त, और शरत के अन्त तक यह प्रायः खिलती रहती है । मैं यह भी कहना चाहता था कि शेफालिका के कोमल श्वेत फूल देवताओं तक का मन मोह सकते हैं, सुन्दरियां खूब जानती हैं कि शेफालिका रात के समय खिलती है

और इससे दूर दूर तक वातावरण सुगन्धित हो उठता है; संस्कृत कवियों ने शेफालिका की बहुत चर्चा की है। भोर होते ही इसके फूल झड़ने लगते हैं और उदय होता सूर्य देखता है कि धरती पर शेफालिका के श्वेत फूलों का फ़रश बिछ गया है। सूर्योदय के पश्चात भी शेफालिका के फूल झड़ते रहने का दृश्य मैं देख चुका था, पर संस्कृत कवियों ने सदैव इसी बात पर जोर दिया था कि सूर्योदय से पहले ही शेफालिका को झड़ जाना चाहिए। राजशेखर का यह कथन कि चन्द्रमा के बिना शेफालिका नहीं खिलती, मेरी कल्पना के तार हिलाता रहा।

मेरा मित्र न जाने क्या सोचकर कह उठा, "भई एक बात जरूर कह दूं। बेला आधी रात के अंधेरे में खिलता है। जी चाहता है मैं भी इस पर कुछ लिख डालूं। अँधेरे की करामात का यह अच्छा सबूत है कि बेला आधी रात के अँधेरे में खिलता है। भई बेला भी क्या खूब फूल है।"

मैंने कहा, "मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि बेला कलाकार का प्रतीक है। कलाकार में जो अपनापन होना चाहिए वह सब बेला में देखा जा सकता है।" कलाकार को सृजन की घड़ियों में जैसा एकान्त चाहिए उसके बिना बेला का भी काम नहीं चलता।"

मेरा मित्र चला गया। मैं बड़े ध्यान से बेला के खिलने की बाट जोहने लगा। सोचा, रतजगा भी क्यों न करना पड़े। बेला के फूलों के लिए जो भी करना पड़े थोड़ा है। जाने कब मेरी आंख लग गई। आंख खुली तो बेला के फूल खिल चुके थे। मैं अपनी जगह पर बैठा रहा। काहे को उनके एकान्त में विघ्न डाला जाय। यही सोचकर मैं बैठा रहा कि यह तो कलाकार को सृजन के समय तंग करने वाली बात होगी। प्रतिभा चाहे एक व्यक्ति की हो चाहे एक फूल की—उसे एकान्त अवश्य चाहिए। यही सृजन की परम्परा है। प्रकृति और मनुष्य दोनों का यहां एक मत है। शौक से खिलो, बेला के फूलो! आधी रात का समय ही ठीक है।
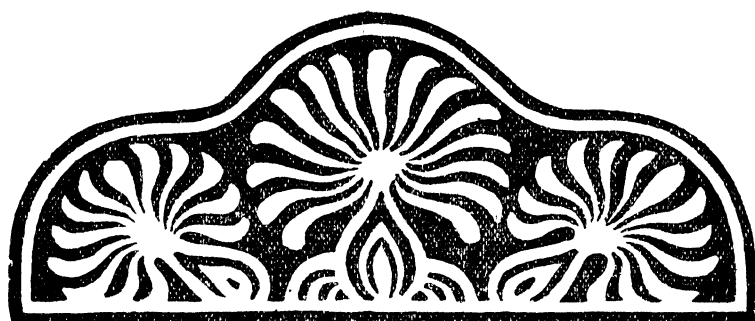
२

ब्रज-भारती

ब्रज की सीमाएं निश्चित करने का कार्य किसी पुरातत्ववेत्ता अन्वेषक पर छोड़ कर अभी मोटे रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि दिल्ली के दक्षिण से लेकर इटावे तक तथा अलीगढ़ से लेकर धौलपुर और ग्वालियर तक इसी जनपद का प्रसार है। ब्रज का अतीत अत्यन्त सुन्दर और गौरवमय है। इसी अतीत से सम्बन्धित इस जनपद की मौखिक परम्परा है जिसकी जड़ें धरती में हैं। यहां के लोकगीत इसी महामहिम मौखिक परम्परा के प्रतीक हैं। लोक-कथाओं में भी इसी की रूपरेखा प्रदर्शित होती है, लोकोक्तियां तथा पहेलियां भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। बहुत से टोने-टोटके और जन्त्र-मन्त्र भी इसी में आश्रय ग्रहण करते हैं और युगयुगान्तर से चले आने वाले लोक-विश्वासों से नाता स्थिर किए हुए हैं। समूचे रूप से इस मौखिक परम्परा का अध्ययन किया जाय तो एक निष्कर्ष यह निकलता है कि एक समय था जब मानव प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। उस समय वैयक्तिक रुचि-भिन्नता के स्थान पर सामूहिक भावना का आधिपत्य था। बल्कि यह कहा जा सकता है कि उस समय मानव जीवन में सङ्घर्ष कम था और नैसर्गिक प्रवाह अधिक। सभी जनपदों की यही अवस्था थी। एक हमारे देश ही में नहीं, समस्त संसार के देश उनके अनेक जनपद इस प्रकार के युग से गुजर चुके हैं। हर कहीं के जीवन की पृष्ठिभूमि में मौखिक परम्परा के अतीत को छूती हुई और धरती की आस्था में बँधी हुई गाथा सुन कर हम आनान्दित हो उठते हैं। इस गाथा में प्रत्येक व्यक्ति समूचे कुटुम्ब, जाति या राष्ट्र का प्रतिनिधि नज़र आता है, और सच पूछा जाय तो

अतीत के इस मानव के सम्मुख आज के उन्नत युग का सिर झुकने लगता है।

मौखिक परम्परा की अनेक परतें हैं। यह अन्वेषक का कार्य है कि वह एक-एक परत का अध्ययन करे और इस के पश्चात समूचे निष्कर्षों के आधारों पर देश की आयुष्मती आत्मा का इतिहास लिखने में सहायक बने। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक स्थान पर लिखा है: "जानपद जन के रूप में लोक के एक सदस्य का जब हम दर्शन करते हैं तो हमें समझना चाहिए कि जीवन की अनेक बातें ऐसी हैं जिन में हम उसे अपना गुरु बना सकते हैं। देहरादून के सुदूर अभ्यंतर में स्थित लाखामंडल गांव के परमा बढ़ई से जो सामग्री हमें प्राप्त हुई वह किसी भी प्रकाशित पुस्तक से नहीं मिल सकती थी। जौंसार बाबर के उस छोटे गाँव के शिव-मंदिर के आँगन में खड़े हो कर हमारे मित्र पं० माधवस्वरूप जी वत्स सुपरिंटेंडेंट आफ आर्किओलाजी, आगरा, जिस समय भोली भाली जौंसारी स्त्रियों के मुख से दूबड़ी आठें (भाद्रपद शुक्ल अष्टमी) के त्यौहार का, और अवसर पर छामड़ा पेड़ की डालों से बनाये जाने वाले आदम कद दानव का, जिसे वहाँ 'छामड़िया दानौं' कहते हैं, हाल सुनने लगे तो उन्हें आश्चर्य चकित हो जाना पड़ा कि इस दूबड़ी की पूजा में मातृत्व-शक्ति की पूजा की वही परम्परा पाई जाती है जो उन्हें हरप्पा की मूर्तियों में मिली थी। इसी जौंसार प्रदेश की चिया बिया प्रथा (बिया=जेठे भाई के साथ स्त्री का विवाह, चिया=अन्य छोटे भाइयों का उसके साथ पत्नीवत् व्यवहार) के विषय में और अधिक जानने की किसे इच्छा या उत्सुकता न होगी? ये और इन जैसे अनेक विषय लोकवार्ता के अन्तर्गत आते हैं, जिनका वैज्ञानिक पद्धति से संकलन और अध्ययन अपेक्षित है।"[1]

'लोकवार्ता' शब्द नया नहीं। परन्तु इसका वर्तमान प्रयोग अवश्य नया है। इसके लिये हम श्री कृष्णानन्द गुप्त के ऋणी रहेंगे जिनके सम्पादकत्व में 'लोकवार्ता' पत्रिका एक देशव्यापी कमी को पूरा करती रही है। खेद है कि कुछ दिनों से यह पत्रिका बन्द हो गई है। ब्रज साहित्य-मंडल की मुख्य पत्रिका 'ब्रज-भारती' भी लोकवार्ता के अध्ययन में बहुत सहयोग दे सकती है। लोकवार्ता शब्द अँग्रेज़ी के 'फोकलोर' से कहीं अधिक अर्थ-पूर्ण है। जनता जो कुछ युग-युग से कहती और सुनती आई है, अर्थात् मौखिक परम्परा की समूची सामग्री, वह सब लोकवार्ता के अन्तर्गत आ जाती है।

लोकावार्ता केवल अतीत की वस्तु हो, यह बात नहीं। अतीत से लेकर अब

1 लोकवार्ता शास्त्र, 'लोकवार्ता', जून १९४४, पृ० ७-९

तक की समस्त बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक और सामाजिक गति-विधि का सम्पूर्ण इतिहास लोकवार्ता में निहित है। इसके बिना देश के वास्तविक इतिहास का निर्माण असम्भव है।

विदेशों में लोकवार्ता का नृ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, भाषा-शास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान और पुरातत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। यूरोप के प्रत्येक छोटे-बड़े राष्ट्र की अपनी लोकवार्ता-परिषद् है। अनेक अन्वेषकों और विद्वानों ने इस दिशा में महान् कार्य किया है। एंड्र्यू लैंग, ग्राण्ट एलन, मैक्समूलर और हर्बर्ट स्पेंसर से लेकर प्रोफेसर वेस्टरमार्क, सर जे० जी० फ्रेज़र और सर जी० एल० गोमे जैसे विद्वान महान अन्वेषण करते आ रहे हैं। अकेले फ्रेज़र का 'गोल्डन बाउ' ग्रन्थ जिसे इस विषय की 'बाइबिल' कहा जा सकता है, बारह मोटी-मोटी जिल्दों में शेष हुआ है, और इस ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण जिसके बड़े आकार के ७५२ पृष्ठ हैं, इस विषय के प्रत्येक विद्यार्थी के हाथों में होना चाहिये। यूरोप की अनेक भाषाओं में इस ग्रन्थ के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। यदि कोई संस्था इसके संक्षिप्त संस्करण ही का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का भार अपने ज़िम्मे लेले तो इसकी पहुँच उन विद्यार्थियों और विद्वानों तक सम्भव हो सकती है जो अंग्रेज़ी से अनभिज्ञ हैं।

हमारे देश में टेम्पल और ग्रीयरसन के पश्चात् अब विलियम जी० आर्चर और बैरियर एलविन ने मौखिक परम्परा के संकलन तथा वैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया है। इनकी प्रेरणा से विशेषतया हमारे लोकगीत आन्दोलन को शक्ति प्राप्त हुई है, हिन्दी में श्री रामनरेश त्रिपाठी के यत्नशील उद्योग से ग्रामगीत संग्रह तथा प्रकाशन की नींव पड़ी, और उनके इस कार्य के सम्बन्ध में एक आलोचक की सम्मति से मैं पूर्णतया सहमत हूँ कि न्यायपूर्वक हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि इस दिशा में उनका प्रयत्न अत्यन्त प्रशंसनीय है, और भवि य में वे अपनी अन्य रचनाओं की अपेक्षा कविता कौमुदी पाँचवे भाग द्वारा ही भावी जनता के श्रद्धा भाजन बनेंगे।

परन्तु त्रिपाठी जी से कुछ लोगों को यह शिकायत रही कि उन्होंने अपने संग्रह में बुन्देलखण्ड और व्रज के गीतों को स्थान नहीं दिया। मैं यह कभी नहीं मान सकता कि त्रिपाठी जी ने जान-बूझकर इन दोनों जनपदों के प्रति उपेक्षा दिखाने की भूल की है। अतः मैं इसे अनुदारता ही कहूँगा कि किसी ग्रन्थ की आलोचना करते समय निजी पक्षपात को बीच में ले आयें। बहुत से अन्य जनपद भी तो ऐसे हैं जिनके गीतों को वे अपने ग्रन्थ में स्थान नहीं दे पाये। परन्तु यह दोष या कमी दिखाकर कोई उनके कार्य की महानता और पथ-प्रदर्शन

से तो इनकार नहीं कर सकता।

ब्रज की लोक-कविता की प्रशंसा मैंने पहले-पहल सन् १९३२में श्री बनारसी-दास चतुर्वेदी और श्रीराम शर्मा से सुनी। इसके दो वर्ष पश्चात् चतुर्वेदीजी ने अनुरोध किया कि मुझे ब्रज-यात्रा के लिए तुरन्त चल देना चाहिए। परन्तु मैं काश्मीर और सीमाप्रान्त की यात्रा पर चल पड़ा। उधर से लौटा तो मेरे पाँव मुझे गुजरात और राजस्थान की ओर ले गये। सन् १९३७ में फिर चतुर्वेदीजी ने ब्रज-यात्रा का ध्यान दिलाया और यहाँ तक कह दिया कि यदि मैंने ब्रज की अधिक अवहेलना की तो वे लिखकर इसकी कड़ी आलोचना करेंगे। यद्यपि मुझे इस बात का एतराफ़ करने से कुछ संकोच नहीं कि मैं एक ब्राह्मण के शाप के भय से ब्रज में पहुँचा था, परन्तु इसे भी कदाचित् किसी देवता का प्रसाद ही समझना चाहिए कि पहली ही यात्रा में मेरी दो सज्जनों से भेंट हुई जिनके हृदय और मस्तिष्क में ब्रज की मौखिक परम्परा के लिए अगाध आस्था और चेतना देखने में आई। मेरा संकेत श्री वासुदेवशरण अग्रवाल तथा श्री सत्येन्द्र की ओर है, जिनके सहयोग से इस जनपद में कई केन्द्रों में रहकर मैंने ब्रजभारती की सङ्गीतमय वाणी सुनी और ब्रज की संस्कृति के प्रतीक बहुत से लोकगीत स्त्रियों और पुरुषों के मुख से सुन-सुनकर ज्यों-के-त्यों लिख डाले। अगले वर्ष सन् १९३८ में मैं फिर ब्रज में पहुँचा, और इस बार फिर इन दोनों मित्रों के सम्पर्क से अपने अध्ययन को अधिक गहरा करने के अवसर प्राप्त हुए। इस बार श्री सत्येन्द्रजी की पत्नी-द्वारा संग्रहीत कुछ सुन्दर और उपयोगी गीत मुझे मिल गये। यह सुनकर मुझे बहुत खेद हुआ कि इस देवी का देहावसान हो चुका है। अतः उसके ऋण से उऋण होने का कोई उपाय न देखकर मैं केवल उसकी आत्मा को बारम्बार प्रणाम कर सकता हूँ।

ब्रज की अपनी दोनों यात्राओं के पश्चात् मैं इच्छा रहने पर भी फिर से इस जनपद के ग्रामों में नहीं घूम सका। कई बार सोचा कि अपने अध्ययन की कुछ बातें लिखकर ब्रजभारती के सम्मुख दो पुष्प चढ़ाऊँ। परन्तु मैं जब भी इन गीतों को खोलकर बैठा तो इनके रसास्वादन तथा वैज्ञानिक अध्ययन में इतना खो गया कि मैंने यही अच्छा समझा कि थोड़ा और रुक जाऊँ ताकि इस आयुष्मान और पुष्कल मौखिक परम्परा की सामग्री का समुचित परिचय कराने योग्य हो सकूँ।

इस बीच में श्री वासुदेवशरण और श्री सत्येन्द्रजी से कई बार भेंट हुई। सत्येन्द्रजी ने ब्रजभारती के सफल सम्पादकत्व के अतिरिक्त इस जनपद की लोक-वार्ता और विशेषतया यहाँ के गीतों के वैज्ञानिक सङ्कलन का जो आन्दोलन

चला रखा है, उसका समाचार सुनकर मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ और वासुदेव-शरणजी ने अपनी लेखनी-द्वारा मातृभूमि के लोक-जीवन तथा लोकावार्ता की वास्तविक महत्ता कुछ इस ढङ्ग से प्रदर्शित की है कि इसके द्वारा मेरे सम्मुख एक नया तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश आता चला गया। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—जितनी बड़ी पृथिवी है उतनी ही बड़ी वेदी है। इस परिभाषा का अर्थ यह है कि जितना भी विश्व का विस्तार है उसका कोई अंश ऐसा नहीं है जो मनुष्य के लिए काम का न हो अर्थात् जो मानवी यज्ञ की परिधि से बाहर हो। जो यज्ञ की वेदी में आ जाता है, वही यज्ञीय या मेध्य होता है, वही मनुष्य के केन्द्र के अंतर्गत आजाता है...जो कुछ उस वेदी के खम्बे से नहीं बांधा जा सका वह अमेध्य होता है। हम एक जीवन में जो यज्ञ का खम्बा खड़ा करते हैं जो कुछ उस खम्बे से नहीं बांधा गया वह उस जीवन के लिए उपयोगी नहीं बन पाता। यज्ञ से जो बहिर्भूत है उसे यज्ञ के अंतर्गत लेने का प्रयत्न जन्म-जन्मान्तर में चलता रहता है। लोकजीवन के अपरिमित विस्तार को हमारा बारम्बार प्रणाम है......जितना लोकजीवन उतना ही विशाल तो मानव है। मानव के बाहर लोक में कुछ भी शेष नहीं रहता। अथवा जैसा वेदव्यास ने महाभारत में बड़े उदार शब्दों में कहा—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

अर्थात् रहस्य ज्ञान की एक कुञ्जी तुम्हें बताता हूँ कि इस लोक में मनुष्य से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। इस सूत्र में लोकजीवन और सभी तरह के ज्ञान का मूल्य आंक दिया गया है। मनुष्य से सब नीचे हैं, मनुष्य सब से बढ़कर है। जो ज्ञान मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं वह दो कौड़ी का है। लोक-वार्ता-शास्त्र भी यदि वैज्ञानिक के शुष्क कुतूहल के लिए हो तो वह जीवन के लिए अनुपयोगी ही रहता है। मानव के प्रति सहानुभूति और मानव के कल्याण की भावना लोकवार्त्ता-शास्त्र को सरलता प्रदान करती है। लोक-वार्ता-शास्त्र की प्रतिष्ठा अन्ततोगत्वा मानव-जीवन के प्रति नये प्रतिष्ठा के भाव की स्वीकृति है। भारत जैसे देश में जहाँ लोकवार्ता और लोक-जीवन बहुत ही शांतिपूर्ण सहयोग और निर्विरोध आदान-प्रदान के द्वारा फूला फला है, लोकवार्ता-शास्त्र का बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। कौनसा विश्वास कहाँ से उत्पन्न हुआ, बीज रूप से जन्म लेकर मस्तिष्क और मन का कौनसा भाव वटवृक्ष की तरह चारों खूंटों की भूमि को दबा बैठा है, विकास परम्परा में कौन कहाँ से कहाँ पहुँच गया है, इन सब का विश्लेषण बहुत ही महत्वपूर्ण

होगा। क्योंकि वह अनेक प्रकार से एक ही प्रधान तत्व की विजय को सूचित करता है, और वह महान् धार्मिक तत्व मनुष्य का मनुष्य के लिए सहिष्णुता का भाव है। वनों के निषाद और शबरों के प्रति भी हिन्दूधर्म में सदा सहिष्णुता का भाव है। वनों के निषाद और शबरों के प्रति भी हिन्दूधर्म ने सदा सहिष्णुता की आरती सजाई है......चतुर्दिक जीवन के साथ सहानुभूति और सहिष्णुता का भाव इसकी विशेषता रही है। आज का हिन्दु-धर्म भारतवर्ष के महाकान्तार दंडकारण्य की तरह ही विशाल और गम्भीर है जिसमें अपरिमित जीवन के प्रतीक एक दूसरे के साथ गुँथ कर किलोल करते रहे हैं।"[1]

धरती मानव की जननी है। उसकी बांहें अगाध प्रेम और सहानुभूति की प्रतीक हैं। इसी मिट्टी से अन्न उगता है जो मानव को जीवित रखता है। धरती माता की कल्पना, अन्य भारतीय लोकगीतों ही की भाँति ब्रज की भी विशेषता है। मथुरा से तीन मील की दूरी पर महोली ग्राम में सुना हुआ गीत, जिसका बोआई के समय मन्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है, अत्यन्त स्थानीय वस्तु होते हुए भी सार्वभौमिकता के स्तर तक उभरता दिखाई देता है :

धरती माता ने हर्यौ कर्यौ
गऊ के जाये ने हर्यौ कर्यौ
जीव जन्त के भाग ने हर्यौ कर्यौ
महोली खेड़े ने हर्यौ कर्यौ
गंगा माई ने हर्यौ कर्यौ
जमुना रानी ने हर्यौ कर्यौ
धना भगत को हर ते हेत
बिना बीज उपजायो खेत
बीज बच्यौ सो सन्तन खायौ
घर भर आँगन भर्यौ

यह गीत लिखाने वाले वयोवृद्ध किसान ने बताया था कि इस जनपद में बांस का पोरा जिसमें से बोआई करते समय बीज डालते जाते हैं, योन्ना कहलाता है, बीज हमेशा चक्करदार गोलाई में डाला जाता है। एक चक्कर को 'फरा' कहते हैं, और एक चक्कर जिसके अन्तर्गत जलेबी की भांति कई बड़े छोटे कुंडलाकार चक्कर डाले जाते हैं, कुंड के नाम से पुकारा जाता है। 'कुंड' के अन्तर्गत अन्तिम 'कुंड' के रूप में बीज डालते समय विशेष रूप से इस गीत

१ 'महामहिम लोकजीवन' 'लोकवार्त्ता,' जनवरी १९४६, पृष्ठ ६४–६६

का महत्व माना जाता है। युग-युग से बैल के कन्धे पर अन्न उगाने का भार है। 'गङ्गा माई' और 'जमुना रानी' की कृपा भी आवश्यक है, यों प्रतीत होता है कि गीत की अन्तिम पंक्ति से पहले की तीन पंक्तियां जिनमें धना भगत का जिक्र किया गया है, बाद में जोड़ दी गई हैं। यह बात याद रखने की है, लोकगीत का रूप बदलता रहता है। ज्येष्ठ और आषाढ़ में समस्त जनपद में यह 'रसिया' गूँज उटता है—

आयो जेठ आषाढ़ बन बोय दे रे सिपाहिरा

कपास के लिये 'बन' शब्द का प्रयोग बहुत पुराने समय की याद दिलाता है। सिपाही से कपास बोने की बात क्यों कही जा रही है? इस प्रश्न का उत्तर कुछ यों दिया जा सकता है कि 'रसिया' की परम्परा उस समय का स्मरण कराती है जब एक प्रकार से प्रत्येक किसान सिपाही समझा जाता था क्योंकि आक्रमणकारियों से युद्ध करने के लिए राज्य को किसी भी समय नई सेना की आवश्यकता पड़ सकती थी अतः किसान को इतनी भी आशा नहीं होती थी कि जो फसल वह आज अपने हाथों से बो रहा है, पकने पर वह उसे काट भी सकेगा।

जैसे आक्रमणकारी किसी देश पर धावा बोल देते हैं, ऐसे ही किसान की सम्पत्ति पर टिड्डीदल आक्रमण करता है, और उस समय यदि पति परदेश में हो तो पत्नी बेचारी क्या कर सकती है? इसी विपत्ति का एक सजीव चित्र देखिए—

टीड़ी खाय गई बन कौ पत्ता, मेरौ बलम गयौ कलकत्ता
टीड़ी आई जोर जुल्म सो, घर में रह्यो न लत्ता
भैया मेर बन्द मेरो रोकन लागे, नेंक न छोड़यो रस्ता
टीड़ी आई जोर जुल्म सो, घर में रह्यो न लत्ता
लोग लुगाई देखन लागे, ऊपर चढ़ कैं अट्टा
टीढ़ी आई जोर जुल्म सो, घर में रह्यो न लत्ता
रोटी पानी कछू न कीनी, भूल गई सब रस्ता
टीड़ी आई जोर जुल्म सो, घर में रह्यो न लत्ता

कलकत्ते के जिक्र से इतना तो प्रत्यक्ष है कि इस गीत की आयु एक आध शताब्दी से अधिक नहीं हो सकती। यह भी सम्भव है कि कलकत्ते का जिक्र पुराने गीत पर पैबन्द के रूप में लगा दिया गया हो, जैसा कि मौखिक परम्परा की सामग्री में और भी अनेक स्थानों पर देखने में आया है। यह एक नारी की व्यथा का चित्र नहीं, यहां समस्त जनपद का कष्ट अभिव्यक्त हुआ है। नारी टिड्डीदल से कपास का खेत बचाने की चेष्टा करती है परन्तु बिरादरी के अन्य लोग उसका रास्ता रोक कर खड़े हो जाते हैं। स्त्रियां अपने-अपने कोठे पर चढ़

कर इस मृत्यु के बादल का निरीक्षण कर रही हैं। टिड्डीदल का जोर जुल्म रोकने का उपाय किसी की समझ में नहीं आता। इस वेदना में एक सांकेतिक वेदना है जो नायिका की पुकार को समूचे वर्ग की पुकार का रूप दे देती है।

रूस की एक आख्यायिका है कि जब भगवान ने उपहार बांटे तो उन्होंने यूक्रेन-निवासियों को बिल्कुल भुला दिया और अन्त में उन्होंने यूक्रेन-निवासियों को सङ्गीत का उपहार देकर खुश किया। इसीलिये कहा जाता है कि यूक्रेनी लोक-गीत जर्मन लोकगीतों से कहीं अधिक गहरे और रूसी गीतों से कहीं अधिक मधुर होते हैं, यदि ब्रज-निवासी चाहें तो इसी से मिलती-जुलती आख्यायिका की सृष्टि कर सकते हैं, क्योंकि ब्रज के लोकगीतों में दोनों गुण यथेष्ट मात्रा में नजर आते हैं, इनमें भावों की गहराई भी है और सङ्गीत का माधुर्य भी। 'झूला रे झूलत नागन डस गई' यह एक स्त्री-गीत की टेक है जिसे युवतियां झूले की रस्सियों को हवा में उछालते हुए मधुर लय में गाया करती हैं—

गूलरिया झक झालरी, गूलर रहे गदकार
झूला रे झूलत नागन डस गई
डस गई उँगली के बीच
झूला रे झूलत नागन डस गई
ससुर ते कहिओ मोरी बीनती
सास ते सात सलाम
झूला रे झूलत नागन डस गई
वा हर हारे ते नियों कहिओ
तेरी धन खाई काले नाग
झूला रे झूलत नागन डस गई
हर तौ छोड़यौ खेत में
म्वांई ते खाई आ पछार
झूला रे झूलत नागन डस गई
कां लाऊँ तो को बायगी
कां लाऊँ बैद हकीम
झूला रे झूलत नागन डस गई
दिल्ली ते लाऊँ तो को बायगी
मथुरा ते लाऊँ वैद हकीम
झूला रे झूलत नागन डस गई

गीत का मर्म-स्थल वही है जहां किसान को यह समाचार मिलता है कि

गूलर के पेड़ पर झूला झूलती उसकी पत्नी को नागिन ने काट खाया है और वह हल छोड़कर उसकी चिकित्सा की चिन्ता में मथुरा और दिल्ली तक हो आता है। यह नहीं बताया गया कि यह झूले की नायिका बच गई या प्राण छोड़ गई। यह कल्पना की जा सकती है कि यह कोई साधारण स्त्री नहीं होगी और पहली बार ससुराल आने पर उसके हृदय से भी यह गीत फूट निकला होगा--

रवादार ककना को मेरे पहरे
बेर बेर काकी, बेर बेर दादी को मेरे टेरे

ग्रामों में ऐसी कल्पनाशील युवतियां अब भी मिल जायंगी जो पायल का यह महत्व समझती हों कि इसकी झंकार सुनकर ससुराल में सास स्वयं द्वार तक चली आयगी और कहेगी--आगई, बहू, और इस प्रकार बहू को बाहर से पति की काकी दादी को आवाज़ देकर अपने आगमन की सूचना देने का कष्ट नहीं करना पड़ेगा।

इसी सजीव कल्पना के जादू से घर के कच्चे कोठे में 'रंगली रावटी' और हलवाहे पति में 'आलीजा' का स्वप्न देखने की चेष्टा की जाती है। यह भी समझ लिया जाता है कि चाँदनी रात के समय भी जब कि कमखर्ची के विचार से साधारण तेल का दिया भी बुझा दिया जाता है, 'तेल फुलेल' का दिया जल रहा है--

चन्दा की निरमल रात, एजी कोई आलीजा बुलावैं
रंगली रावटी जी महाराज
मैं कैसे आऊं महाराज एजी कोई आड़ी तो
सोवै त्यारी मायलीजी महाराज
जरि रह्यौ तेल फुलेल एजी कोई
सबरी रैन दिवला बले जी महाराज
चलीऊं बाबल के देस एजी कोई घड़ा तो
भरा दऊं तेल फुलेल को जी महाराज

यह तो प्रत्यक्ष है कि इस कल्पना का मध्यकालीन जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी कहा जा सकता है कि लोकगीत केवल निम्न वर्ग की ही बपौती नहीं मध्यवर्ग की भी प्रिय वस्तु हैं क्योंकि यहां उनके जीवन के सजीव चित्र भी सुरक्षित हैं। 'विजयरानी का गीत' मध्यवर्ग के जीवन का प्रतीक है--

चार बुर्ज चारों ओर बीच अटरिया
ए बिजैरानी ईंट की जी

हात दिबल सिर सौर धमकि अटरिया
ए बिजैरानी चढ़गईजी
खोलो राजा बजर केबार भीजे
ए राजा त्यारी गोरड़ी जी
नाएं खोलू बजर केबार पराए पुरख ते
ए डाबर नैनी चौं हँसी जी
आई धन तन मन मार मरेख कैं बैठी
ए बिजैरानी देहरी जी
लौहरी ननद बूझै बात आज अनमनी
ए बिजैरानी चौं भई जी
त्यारौ भइया असल गँवार कदर न जानी
ए बिजैरानी के जीअ की जी
करौ भाबी सोलेहुँ सिंगार पटिया तो पारौ
चोखे मोम की जी
हाथ दिबल सिर सौर धमकि अटरिया
ए बिजैरानी चढ़ गई जी
खोलो भइया बजर केबार बाहर भीजै
ए बिरन क त्यारी गोरड़ी जी
भीजै भीजन चौं न देउ पराए पुरख ते
ए बिजैरानी चौं हँसी जी
जाकौ भइया हँसनौ सुभाव हँसिबौ तो जायगो
ए बिजैरानी ढक लईजी
रोई धन हीअरा हिलोर आँसू तो पौंछे
ए भँवर सूए पेचते जी
जीऔ लाली त्यारो वीर भँवर मिलाओ
ए ननद रानी तैं कियो जी
दउँगी लाली दक्खनौ चीर गिरी ए छुहारो
ए ननद त्यारे मुख भरूँ जी

गीत की भाषा में एक स्थान पर 'डाबरनैनी' प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ है 'बड़ी-बड़ी आँखों वाली'। एक सज्जन के कथनानुसार 'डाब्रा' शब्द का अर्थ होता है 'बड़ा दोना' और डाबरनैनी का 'डाबर' शब्द इसी 'डब्रा' का दूसरा रूप है। कुछ भी हो 'डाबरनैनी' इस जनपद के लोकगीतों में प्रचुर मात्रा

में मिलता है। यदि विजयरानी 'डाबरनैनी' अर्थात् लोक-परम्परा के अनुसार असाधारण सुन्दरी न होती तो उसके पति ने बिरादरी के किसी अन्य पुरुष से हँसते देखकर उसके चरित्र पर सन्देह न किया होता। इसी मनोमालिन्य के कारण वह विजयरानी को हाथ में दिया थामें आते देखकर 'बजर केबार' बन्द कर लेता है। भला हो विजयरानी की ननद का जिसने अपने भैया को समझाया कि विजयरानी निर्दोष है क्योंकि हँसकर बोलना डाबरनैनी के स्वभाव में सम्मिलित है। झट 'बजर-केबार' खोले जाते हैं और विजयरानी अपने पति से मिल सकती है और ननद को पहनने के लिए दक्षिण का चीर और खाने के लिए गिरी छुआरे पुरुस्कार-स्वरूप देने की बात सोच रही है।

सामाजिक परिस्थितियों की पड़ताल में लोकगीत पग-पग पर हमारा साथ देते हैं। अब एक और प्रसंग लीजिये जो उत्तर-भारत के अनेक जनपदों के लोकगीतों में मिलता है। पति एक साधारण 'बटाऊ' या बटोही के वेष में अपने ग्राम के समीप अपनी पत्नी के सत की परीक्षा लेने का यत्न करता है—

बर के गोदे झूलती रे बटाऊ ढोला
सातसहेलिन बीच
सातौन के मुख ऊजरे मेरी डाबरनैनी
त्यारौ चौं रे मैलो भेस
सातौन के ढोला घर रहे रे बटाऊ ढोला
हमरे गये परदेस
संग चलौ तौ ले चलूँ मेरी डाबरनैनी
चलौ न हमारे साथ
सोने सौं कर देउँ पीयरी मेरी डाबरनैनी
चाँदी सों सेत सुपेत
आगि लगाऊँ तेरे पीयरी रे बटाऊ ढोला
मौंछन बड़ौ रे अँगार
डाढ़ी तो जारूँ तेरे बाप की रे बटाऊ ढोला
जरिजईयौ सेत सुपेत
जिन पीयन के रे हम गोरड़ी रे बटाऊ ढोला
तुमसे भरें कहार
एक बटाऊ ढोला नियों कहे मेरी सासुल रानी
चलो न हमारे साथ
कैसे तो विनके कापड़े मेरी बहुअल रानी

कैसी सूरत उनहार
धौरे तो बिनके कापड़े मेरी सासुल रानी
लौहरे दिवर उनहार
वेही तुमारे सायबा मेरी बहुअल रानी
गई चौं न बिनके साथ
भाजूँ तौ पहुँचूं नहीं मेरी सासुल रानी
हेला देते आवे लाज

इस गीत में 'डाबर नैनी' अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोग प्रतीत होता है। 'डाबर' उस नीची जमीन को कहते हैं जहां पानी ठहरा रहे। तुलसीदास ने एक स्थान पर लिखा है 'भूमि परत भा डाबर पानी, जिमि जीवहि माया लपटानी।' किन्तु डाबर नैनी या डाबर जैसी बड़ी-बड़ी आंखों वाली सुन्दरी का प्रयोग एक नये चित्र की सृष्टि करता है, और हमें पीयरे लूई की 'अफ्रोडाइट' याद आती है जिसमें हिन्दुस्तानी गुलाम कन्या जलंतशचन्द्रा क्राइसिस की सुन्दरता का बखान करते हुए कहती है: 'तेरे केश मधुमक्खियों के झुण्ड के समान हैं जो किसी बड़े वृक्ष की टहनियों से उलझ गई हों। और तेरी आंखें ऐसी गहरी झीलें हैं जिन पर बेदमुश्क की टहनियां झुकी हुई हों।' 'डाबर नैनी' कहकर ब्रज के लोक-मानस ने इससे मिलती-जुलती छवि चित्रित की है। जिन्होंने अजन्ता के चित्र देखे हैं वे कह सकते हैं कि भिक्षु चित्रकारों ने डाबर नैनी नारी ही को पग-पग पर उपस्थित किया है। डाबर नैनी नारियों की आज भी ब्रज के ग्रामों में कुछ कमी नहीं। बड़ी-बड़ी आंखें, जिनमें आर्द्रता की यथेष्ट मात्रा उपस्थित हो, लोक-कवि के लिए आज भी प्रेरणा की वस्तु हैं।

ब्रज की 'डाबर नैनी' की बहिनें गढ़वाल में भी मिलेंगी जिनके सत की परीक्षा के गीत बड़े अनुराग से गाये जाते हैं। रामी का गीत इस तरह आरम्भ होता है—

बाट गोड़ाई कख तेरो गांऊ
बोल बौराणि क्या तेरो नांऊ
घाम दोफरा अब होई गैगे
एकली नारी तू खेत रैंगे
धुर जेठाणा तेरा कख छीन
तोंकी जनानी कख गई गीन

—'हे रास्ते के खेत में निराई करने वाली, तेरा ग्राम कहां है
बोल, बहू रानी, तेरा क्या नाम है?

अब दोपहर का घाम हो गया ।

तू अकेली नारी खेत में रह गई ।

तेरे देवर और जेठ कहां हैं ?

उनकी पत्नियां कहां चली गईं ?'

गढ़वाली गीत काफ़ी लम्बा है । इसी का एक रूपान्तर कुमायूँ में भी प्रचलित है, जिसमें रामी के स्थान पर रूपाका परिचय प्राप्त होता है। कमायूंनी गीत का आरम्भ देखिये—

बाटा में की सेरी रूपा वै यकली वय धान गोडे
यकली मैं हुँलो बटवा दुकली कै लौंलो हो
कथ गया त्यरा रूपा द्यौराणी ज्यठाणी वै
कथ गया त्यरा द्यवर ज्यठाणा हो
कथ कई तेरी रूपा वै ननद पौणी हो
कां कई त्यरा रूपा वै सासु सौरा हो

—'रास्ते के निकट के खेत में, हे रूपा, तू क्यों अकेली धान निराती है ?

हे पथिक, मैं तो अकेली ही हूँ । अपने साथ किसे लाऊँ ?

रूपा, तेरी देवरानी जेठानी कहाँ गई, तेरे देवर जेठ कहाँ गये ?

रूपा, तेरी ननद और पौणी[1] कहाँ गई ?

रूपा, तेरे सास ससुर कहां गये ?'

यह गीत भी लम्बा है । इसी श्रेणी के एक पंजाबी लोकगीत का आरम्भ इस प्रकार हुआ है—

खूह ते पानी भेरंदिए घुट्ट कु पानी पिया
आपणा ते भरिया वारी न दियाँ लज्ज पई भर पी
लज्ज तेरी नूं घुंघरु गोरिए हथ्थ लावाँ झड़ जा
हेठ दा घोड़ा मर जाय काठी रह जाय हथ्थ
घर जाँदियाँ नूं पियो मारे वे बीबा
पै जाँय सिपाहियां दे हथ्थ
सिर दी झज्जरी भज्ज पये गोरिए इन्नू रह जाय हथ्थ
घर जाँदियाँ नूँ माँ मारे गोरिए पै जाँय साडे बस्स

—'हे कुँए पर पानी भरने वाली, एक घूँट पानी मुझे भी पिला ।

अपना भरा पानी मैं नहीं दूँगी ।

[1] पति की बड़ी बहिन

लेजुर पड़ी है। स्वयं पानी भरो और पी लो
तेरी लेजुर को घुँघरू लगे हैं,ओ गोरी,हाथ लगाऊँ तो घुँघरू गिर जायँगे
भगवान् करे, तेरे नीचे का घोड़ा मर जाय, काठी तेरे हाथ में रह जाय
भगवान् करे घर पहुँचने पर तेरा पिता तुझे मारे, साजन !
तू सिपाहियों के काबू आ जाय
तेरे सिर की मटकी टूट जाय, हे गोरी, ईंडरी तेरे हाथ में रह जाय।
घर पहुँचने पर तुझे तेरी माँ मारे, तू मेरे काबू आ जाय।'
इस गीत के अगले भाग का अनुवाद इस प्रकार है—
घर आने पर माँ पूछती है—साँझ हो गई, तू कहाँ से आई है ?
माँ, एक लम्बे कद का युवक था, वह मुझ से विवाद करने लगा।
तेरे पिता का जमाता, हे पुत्री और तेरे सिर का सरदार !
सहेलियों से मिलकर पूछती है—रूठे प्रीतम को कैसे मनाऊँ ?
हाथ में दूध का कटोरा लो और सोये हुए प्रीतम को जगाओ !
तुम सोये हो या जागते हो या बाज़ार चले गये हो ?
न मैं सोया हूं न जागता, न बाज़ार गया हूँ, तुम कुएँ के बोल सुनाओ !
छोटी आयु में भूल हो गई, प्रियतम, अब तो मन से भुला दो !
शाबाश तेरी बुद्धि को, हे गोरी, धन्य है तुझे जन्म देने वाली माँ !
तेरे लिए मैं मनौतियां मांगती हूँ, प्रियतम मेरे लिये तेरी माता !

तुलना के लिए यह अच्छा होगा कि गढ़वाली और कुमायूँनी गीतों के पूरे अनुवाद हमारे सम्मुख आ जायँ—

रामी का गीत

ओ रास्ते के खेत में निराई करने वाली, तेरा ग्राम कहां है ?
बोल, बहू रानी, तेरा क्या नाम है ?
अब दोपहर का घाम हो गया है,
तू अकेली नारी खेत में रह गई,
तेरे देवर और जेठ कहां हैं ?
उनकी पत्नियां कहाँ चली गईं ?
आज तेरा स्वामी कहां है ?
सास ससुर क्या काम कर रहे हैं ?
बोलो तुम किस अनाज की निराई कर रही हो ?
बहु रानी अपनी जुबान खोलो।
बटोही जोगी, तुम यह यह मुझ से क्यों पूछते हो ?

तुम किसको पूछते हो, तुम्हें क्या चाहिये ?
मैं रावत की बेटी हूँ, मेरा नाम है रामो,
सेठों की बहू हूँ, मेरा गाँव है पालो,
मेरे जेठ कचहरी गये हैं,
देवर भैंसे चरा रहे हैं,
देवरानी मायके गई है,
जेठानी को आज ज्वर आ गया,
मेरी सास घर पर रह गई ।
अब स्वामी की याद आने लगी,
आंखों से पानी बह निकला,
मेरा स्वामी मुझे घर पर छोड़ गया,
मुझ पर वह निर्दयी हो गया ।
उनके लिए घर में कहां स्थान,
जिनके लिए स्वामी का विच्छेद हो गया ?
जाओ, जोगी, अपना रास्ता लो,
मेरे शरीर में आग न लगाओ ।
वह रोने बैठ गई, स्वामी याद याद आने लगे,
हाथ की कुटली[1] छूट गई ।
सावन के मेघ की तरह हृदय भर आया,
हे स्वामी, मेरा तो गल रुंधा जा रहा है !
चलो, बहू रानी, छाया में बैठ जायँ,
अपना दुःख मुझे सुना ।
अब दोपहर का घाम हो गया,
समस्त खेत में छाया ढल कर चली गई ।
नारी, तू क्यों इस प्रकार रोती है ?
क्यों व्यर्थ अपना यौवन खोती है ?
एक बोल तो बोल दिया, दूसरा न बोल,
पापी जोगी जुबान न खोल,
तेरे साथ तेरी बहिनें बैठेंगी,
पतिव्रता नारी तुझे चेतावनी देती है,

1 निराई करने का औज़ार

ओ राजा की बहू रानी, गाली न दे,
मैंने तेरा क्या खाया है कि मुझे शाप दे रही ?
रामी, मुझे गांव का रास्ता बताओ,
अखंड विधवा की भांति तू दुःख सहे,
ओ जोगी, मैं तुझे शाप दे रही हूँ।
मन के क्रोध को थाम लो,
मुझे बहुत भूख लगी है !
सयाना रावत कहां रहता है ?
रमता जोगी रास्ते पर चला गया,
रामी के मन में क्रोध आ गया।
हे स्वामी, पिछली रात तुम स्वप्न में आये,
तुम मेरी अवस्था देखकर चले गये,
आज के दिन मेरे पास
खास मेरे डेरे पर आने को कहा था,
क्या मेरा स्वप्न झूठा हो गया ?
क्या मेरा स्वामी परदेस में ही रह गया ?
मुझे तो कहा था कि मैं घर आऊँगा,
मेरे स्वामी ने कहा था—मैं दौड़कर आऊँगा।
गांव में जाकर जोगी ने अलख जगाई—
माई मुझे भिक्षा दो !
माई, मैं कल रात से भूखा हूँ,
मेरे लिये सूखा सोधा[1] न लाना
मुझे भात और साग देना,
नहीं तो तुम्हें पाप लगेगा।
बुढ़िया माई को दया आ गई,
रामी बहू को बुलाने लगी—
बहू, झटपट आओ,
डेरे पर एक साधु भूखा है !
हे मेरे मन, आज तू क्या क्या बोल रहा है ?
यह जोगी आज क्या क्या बोल रहा है ?

१ बिना पका हुआ अन्न

हे सास, मैं इसकी रोटी नहीं पकाऊँगी,
इसने मुझे खोटी खोटी गाली दी है !
हे निर्लज्ज जोगी, तुझे शरम नहीं,
तू हमारे बीच कैसे आ गया ?
माई, अपनी बहू को समझाओ,
तुम जा कर मेरे लिए भोजन बनाओ !
जा, मेरी बहू, भात पकाओ,
साधु को देख कर हाथ जोड़ो,
साधुओं का तो शिव का भेस है,
जिनका मन विरक्त हो चुका है !
रामी रसीले खाने पकाने लगी,
उसे अपने स्वामी की याद आने लगी ।
हे गौरा माई, तुम कृपा करो,
नल दमयन्ती की तरह मुझे पती मिले,
मुझ पर इतना कृपा करो,
हे माता, मेरे मन का दुःख हरो !
साधु घाम में बैठा रह गया,
रामी की सास को दया आ गई,
अब साधु के समीप माता आ गई ।
चलो, साधु, भोजन तैयार हो गया,
मालू के पत्ते पर भोजन रखा है ।
तुम्हारे भात को मैं हाथ नहीं लगाऊँगा,
रामी के स्वामी की थाली माज लो,
भात और रोटी मैं आज उसी मैं खाऊँगा ।
मैं स्वामी की थाली में किसी को भोजन नहीं दे सकती
उसमें भात और रोटी क्यों दूँ ?
तुझे खाना है तो खाले,
ओ जोगी, तुम नहीं खाते तो अपना रास्ता लो,
बहुत से जोगी झोली लेकर,
दिनभर फिरते रहते हैं और कोई उन्हें भिक्षा नहीं देता,
पतिव्रता नारी का सत तेजस्वी होता है !
डगमग डगमग, जोगी का शरीर काँपता है,

जोगी माता के चरणों पर गिर गया,
रामी बहू देखती रह गई ।
हे माता, मैं तेरा पुत्र हूँ,
अन्य राज्य से घर आया हूँ,
मैं पलटन में भरती हो गया,
चीन जापान तक जा पहुंचा,
मैंने नौ वर्ष नौकरी की,
मेरी नौ रुपये पेनशन हो गई ।
पुत्र से माता भेंट करने लगी,
रामी का मन दुबधा में पड़ गया,
अनुराग का सागर उमड़ गया,
वह जोगी के शरीर की भस्म धोने लगी,
पतिव्रता नारी चकित रह गई,
वह स्वामी के चरणों पर झुक गई,
रामी को वर्षों से दर्शन अभिलाषा लगी थी,
आँखों का रुदन वह थाम नहीं सकती,
मेरे स्वामी, तुम निर्मोही बने रहे
घर छोड़ परदेश चले गये !

रूपा का गीत

रास्ते के खेत में, हे रूपा, तू क्यों अकेले धान निराती है ?
हे पथिक, मैं तो अकेली हूँ, अपने साथ किसको लाऊँ ?
रूपा तेरी देवरानी और जेठानी कहाँ गईं ?
तेरे देवर और जेठ कहाँ गये ?
रूपा, तेरी और पौणी[1] कहाँ गई ?
रूपा, तेरे सास ससुर कहाँ गये ?
हे पथिक, मेरी जेठानी चूल्हे की रसिक है,
हे पथिक, मेरी देवरानी पशुशाला की घसियारी है,
हे पथिक, मेरा जेठ सभा में बैठा है,
हे पथिक, मेरा देवर भैंसों का चरवाहा है,
हे पथिक, मेरी ननद और पौणी ससुराल गई हैं,

१ पति की बड़ी बहिन

मेरे सास ससुर वृद्ध हो गये हैं,
हे रूपा, रास्ते के खेत में दोपहरी में, कौन से धान निराती है?
हे पथिक, मैं साल और जमोल[1] निराती हूँ?
हे रूपा, तेरा प्रियतम कहाँ चला गया,
हे पथिक, छोटी आयु में वह मुझ से ब्याह करके चला गया,
हे पथिक, उस दिन से वह पलट कर नहीं आया,
उसके लगाये सिलिंग का वृक्ष फूलों से लद गया,
हे पथिक, मेरे भर जोबन के दिन हैं,
उसने उस दिन से मुझे पलट कर नहीं देखा!
हे रूपा, मैं ही तेरा प्रियतम हूँ!
हे पथिक,तू अपनी माँ और बहिन का प्रियतम होगा,
एक बोल तो बोल दिया अब दूसरा न बोलना,
दूसरा बोल बोलेगा तो मैं तुझे बहिन की गाली दूंगी।
चल, चल, हे रूपा, सिलिग की छाया में, ओ रौतेली रूपा!
सिलिंग की छाया में, पीपल की हवा में!
मेरे प्रियतम के पैरों में नली वाला जूता था,
उसकी जंघा में दुडो[2] का पाजामा था,
उसके बदन पर गंगाजल के रंगवाला वस्त्र था और सिर पर प्वतवै[3],
हे पथिक, कमर में रेशमी फेंटा था, हाथ में लोहे के मुट्ठे वाली छड़ी!
हे रूपा, नली वाला फट गया,
दुडी वस्त्र का पजामा भी फट गया,
हे रूपा, यदि मैं तेरा प्रियतम होऊंगा तो तुझे पालकी में ले जाऊंगा,
यदि कोई लबार हुआ तो तेरे हल जोतूंगा।

चारों गीतों की तुलना करने से पहले फिर से ब्रज के गीत की मोटी-मोटी बातों का अवलोकन उचित होगा। गीत का आरम्भ यों होता है कि वट-वृक्ष की शाखा पर झूला पड़ा है। झूले पर झूलती हुई एक कोई युवती कह उठती है—हे बटोही ढोला, मैं सात सहेलियों के बीच झूला झूल रही हूँ। बटोही कहता है—सहेलियों के मुख तो उजरे हैं। तुम्हारा मैला भेस क्यों है? मेरे साथ चलो तो ले चलूँ। ओ बड़े-बड़े नयनों वाली, मेरे साथ चलो ना। मैं तुझे स्वर्ण से पीली कर दूँगा, और चाँदी से श्वेत। वह कहती है—तेरे पीले

१ धानों की जातियाँ २ एक प्रकार का वस्त्र ३ एक प्रकार के वस्त्र की पगड़ी

रङ्ग को आग लगाऊँ और तेरा श्वेत रङ्ग भी जल जाय। तेरे पिता की दाढ़ी झारूँ ओ बटोही, तेरी मूँछों पर अँगार रखूँ। मैं जिस पिया की गोरी हूँ, उसके यहाँ तो तेरे जैसे लोग पानी भरते हैं। घर पहुँच कर वह अपनी सास से कहती है--सासुल रानी, एक बटोही मिला था, जो कहता था कि मेरे साथ चलो चलो। सास पूछती है--उसके वस्त्र कैसे थे और उसकी उनहार कैसी थी। बहू कहती है-उसके श्वेत वस्त्र थे। छोटे देवर जैसी उनहार। सास कह उठती है-वही तो तुम्हारा प्रियतम था। तू उसके साथ क्यों नहीं गई? बहू निराश होकर उत्तर देती है—भागूँ तो भाग नहीं सकती, पुकारते हुए मुझे लाज आती है।

गढ़वाली गीत की शैली वर्णनात्मक अधिक है। कथा-वस्तु के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कथन है कि यह एक सच्ची घटना से ली गई है। कहते हैं गत महायुद्ध सन् १६१४ से लौट कर एक सिपाही ने सचमुच इसी प्रकार अपनी पत्नी के सत की परीक्षा की थी। यह भी हो सकता है कि यह गीत गत महायुद्ध से कहीं अधिक पुरातन हो और पुराने गीत में कुछ परिवृद्धि करके इसे अर्वाचीन रूप देने की चेष्टा की गई हो। इस गीत की तुलना उस किले से की जा सकती है जिसका निर्माण किसी पुरातन किले के भग्नावशेष पर हुआ हो। नारी के सत की परीक्षा का कथानक गत महायुद्ध से कहीं अधिक पुराना है। गीत की गति तीव्र नहीं। यह बैलगाड़ी की गति से धीरे-धीरे पहाड़ी चित्रपट पर उभरती है। कुमायूंनी गीत भी आरम्भ में गढ़वाली गीत की ध्वनि लिए हुए नज़र आता है। यद्यपि इसका कथानक खेत ही में शेष हो जाता है। इसका अन्त अत्यन्त आकस्मिक है। जब रूपा का पति कह कर उठता है कि यदि मैं तेरा प्रियतम होऊंगा तो तुझे पालकी में बिठाकर ले जाऊंगा, और यदि कोई लबार होऊंगा, तो तेरे यहां हल जोतूंगा, तो हम सोचते रह जाते हैं कि आगे क्या हुआ होगा। पंजाबी गीत की शैली दूसरी है और यह काफी हद तक ब्रज के गीत से अधिक पूर्ण है। इन दोनों के गीतों की शैली चित्रकला की उस शैली के समीप है जिसमें कलाकार तूलिका के गिने-चुने शीघ्रगामी स्पर्शों से चित्र उपस्थित कर देता है।

चारों गीतों की तुलना से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि पुरातन काल से विभिन्न जनपदों की लोक-कला में अनेक आदान-प्रदान होते आये हैं। एक जनपद की कन्या दूसरे जनपद में ब्याही जाती थी, या जब एक जनपद से सगे-सम्बन्धी पास पड़ौस के जनपद में पहुँचते होंगे तो वे अवश्य लोक-कला की कोई-न-कोई वस्तु अपने साथ लेकर जाते होंगे। इसमें से कुछ-न-कुछ वहां छोड़ आते होंगे और कुछ-न-कुछ वस्तु वहाँ की लोक-कला से अपने साथ अवश्य लेकर आते होंगे। तीर्थ-यात्राओं के द्वारा भी विभिन्न जनपदों की जनता

में अवश्य लोक-कला के आदान-प्रदान का क्रम चलता रहता होगा।

जैसा कि आरनल्ड बाके ने एक स्थान पर स्पष्ट किया है यूरोप के देशों में भी यह देखा गया है कि एक जनपद की लोक-कला किसी-न-किसी रूप में पास पड़ौस के जनपदों को पार करती हुई सुदूर जनपदों तक जा पहुँची है। उन्होंने इस कलात्मक आदान-प्रदान के कई प्रकार उपस्थित किए हैं, कई बार केवल किसी विशेष गीत के स्वर ही दूसरे जनपद में जा पहुँचे और वहां इन स्वरों ने लोक-कवि की सहायता से शब्दों का नया चोला बदला। कई बार स्वर और शब्द दोनों ही दूसरे जनपद की बपौती में सम्मिलित हो गए। यद्यपि कभी-कभी स्वर और शब्द दोनों या किसी एक दृष्टि से इसमें कुछ परिवर्तन भी हुए। कई बार केवल शब्दों ने ही यात्रा की, और दूसरी भाषा में इनका अनुवाद हो गया, और गीत को एक दम नये स्वर प्राप्त हुए। इस प्रकार यह आदान-प्रदान की क्रिया विभिन्न जनपदों की लोक-प्रतिभा की भरपूर समृद्धि का कारण बनी। लोक-गीत को इस आदान-प्रदान पर सदैव गर्व रहेगा। हमारे देश के विभिन्न जन-पदों के लोकगीतों के सम्बन्ध में भी यह बात बहुत हद तक सत्य है।

ब्रज के गीतों में सावन के गीत बहुत लोकप्रिय हैं, और सावन के गीतों में 'मोरा' गीत की स्वरलहरी हमारा मन मोह लेती है—

भर भादों की मोरा रैन अँधेर
राजा की रानी पानी नीकरी जी
काहे की गगरी रे मोरा काहे की लेज
काहे जड़ाऊ धन ईंडरी जी
सोने की गगरी रे मोरा रेसम लेज
रतन जड़ाऊ धन की ईंडरी जी
आगें आगें मोरा चाले पीछे पनिहारि
जी पीछे राजा जी के पहरुआ जी
एक बन नाँघौ, दूजौ बन नाँघि
तीजे बन पहुँची है जाइकें जी
जोई भरै मोरा देइ लुढ़काइ
पंख पसारि मोरा जल पीवै जी
परेंरे सरकि जा मोरा भरन दे नीर
मो घर सास रिसाइगी जी
त्यारी तो सासुल धनियाँ हमरी है माय
आज बसेरो हरिअल बाग में जी

परें रे सरक जा मोरा भरन दै नीर
मो घर ननद रिसाईगी जी
त्यारी तो ननदुल धनिया हमरी है भैन
आज बसेरो हरिअल बाग में जी
उठि उठि सासुल मेरी गगरी उतारि
ना तो फोड़ूँ चौरे चौक में जी
किन तौ ए बहुअल बोले हैं बोल
कौनें दीने तोइ तांइने जी
ना काऊ सासुल मोसे बोलें हैं बोल
ना काऊ दीने हैं तांइने जी
बनकौ मोरा सासुल बनही मैं रहत है
बाकी कौहौक मेरे मन बसीजी
उठि उठि बेटा मेरे मोर पछार
तेरी धन रीझी बन के मोरला जी
मोइ देउ अम्मा मेरी पांचौं हथियार
मोई देउ पांचौं कापड़े जी
एक बन नांघौ राजा दूजौ बन नांघि
तीजे बन मोरा पछारिए जी
मारि-मूरि राजा लाए लटकाइ
लाइ धरौ है धन की देहरी जी
उठि उठि धनियां मेरी हरदी जौ पीस
मोरा छौंकि बनाइए जी
हरदी के पीसे राजा जलदी न होई
मोरा के छौंकैं मेरौ जी जरै जी
बन कौ तौ मोरा राजा बन ही में रहत है
बाकी कौहौक मेरे मन बसी जी
जो तुम्हें धनियां मेरी मोरा की साध
सौने कौ मोर गढ़ाइए जी
सोंने कौ मोरा राजा चोरी में जाइ
बाकी कौहौक, मेरे मन बसी जी
जो तुम्हें धानियां मेरी मोरा की साध
काठ कौ मोरा बनाइए जी

काठ कौ मोरा रे राजा जरि-बरि जाइ
बाकी कौहौक मेरे मन बसी जी
जो तुम्हें धनियां मेरी मोरा की साध
छाती पै मोर गुदाइए जी
छाती कौ मोरा रे राजा बोलै न बोल
बाकी कौहौक मेरे मन बसी जी

ठीक यही प्रसङ्ग एक गुजराती लोकगीत में भी प्रस्तुत किया गया है, जो श्री झवेरचन्द मेघाणी के गीत-संग्रह 'रढियाली रात' में मौजूद है। एक-दो राजस्थानी और पंजाबी गीतों में भी इस प्रसङ्ग की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। यहां मयूर उसी प्रकार एक आदर्श-प्रेमी का प्रतीक है जैसी यूनानी लोकवार्ता में हंस को उपस्थित किया गया है। साधारण गृहस्थी में राजा और रानी की कल्पना इस बात की दलील है कि ब्रज का यह गीत मध्यकालीन रचना है जबकि राजा रानी साधारण जनता की आन्तरिक आकांक्षा के क्षितिज पर सदैव उभरते चले जाते थे।

ब्रज के जन-मानस तथा 'मोरा' जैसे उच्चकोटि के गीत के सम्बन्ध में श्री सत्येन्द्र लिखते हैं—

"जन-मानस और मुनि-मानस का सङ्घर्ष आज का नहीं है। मुनि ने सदा यह दावा किया है कि उसकी रचना में शाश्वत सत्य प्रकट होता है, और उसने जहां तक हो सका है जन और उसकी कृति की अवहेलना की है, उसे हेय बतलाया है। उसने अपनी सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि से भी विशेषतायें पाईं और दिखाईं। उसे अपनी रचना में जीवन-सन्देश मिला, श्रेय और प्रेय, सत्य, शिव और सुन्दर, दिव्य अनुभूति, अलौकिक अभिव्यञ्जना मिली है। इस वर्ग के गर्व ने विश्व की जितनी क्षति की है, क्या इस पर कभी विचार किया गया है? निश्चय ही इसने शास्त्रों के सूक्ष्म विधान कर अपनी प्रशंसा अपने आप करने का कुशल ढंग स्थापित किया, किन्तु यह सदा परास्त होता रहा है। जन-मानस ने कभी कोई दावा नहीं किया। उसकी सुश्री ही ऐसी अभिनव रही है कि मुनि के कला-कौशल का गर्व स्वतः चूर्ण हो गया है।

"शताब्दियों पूर्व वेदों की रचना हुई। उन्हें जिस वर्ग ने निर्माण किया, उसी वर्ग के अन्य व्यक्तियों ने उसे अलौकिक और अपौरुषेय बतलाया। ऐसा उनका अपना आतङ्क और प्रभाव जमाने के लिये किया जाता रहा। यह अधिक काल तक न रह सका। लौकिक काव्य की भी उद्भावना हुई और आदि-कवि वाल्मीकि ने रामायण रच डाली, वह उनकी रचना मुनि-मानस का प्रतिफल न था, नहीं तो

उसे लौकिक न कहा जाता। किन्तु मुनि-मानस एक और धाँधली करता रहा है। जन-मानस की सृष्टियों को वह अपनी बनाता रहा है। वाल्मीकि और उनके वर्ग की रचनायें फिर मुनि--मानस की वस्तुयें हो गईं। जन का जो सुन्दर था उसे अपना लिया गया। वह परिमार्जन और संस्कार करना जानता है। लोक-मानस से सामग्री लेकर उन पर केवल कलई मुनि-मानस कर देता है। मुनि को विद्वान कहा जा सकता है, तत्वदर्शी कहा जा सकता है, किन्तु उसके पास जो कला है वह अपनी नहीं। कला के लिए उर्वरा भूमि की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता और उन्मुक्ति ही उर्वरता है।

"जन-मानस निर्विकार होता है। उसके पास न कोई आदर्श है, न शास्त्र और नियम, उसकी स्फूर्ति में व्यक्ति और व्यक्तित्व का कोई अर्थ नहीं, वह भी विचार करता है। उसकी धृति ज्ञान और विज्ञान की धृति नहीं। शुद्ध प्रकृति की धृति है।

"ब्रज-क्षेत्र में श्रावण में जो गीत गाये जाते हैं उनमें पनिहारिन, नटवा, चन्दना, बिजैरानी, मोरा सभी प्रबन्ध गीत हैं, और उन सब में ऐसे भावुक वर्णन हैं कि प्रशंसा करनी पड़ती है। इन गीतों को अश्लील समझा जाता है और एक मात्र स्त्रियों में इनका प्रचार रहा है, मोरा नाम के गीत को देखिये। इस सीधी-सी गीत-कहानी में जन-मानस ने जो जीवन की अन्तर्व्यापिनी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की है, वह कितनी अनुपम है, कितनी सहज और कामोद्दीप्ति से शून्य, एक सहज संवेदना के फल सी। और क्या इसमें सूक्ष्म मनोविश्लेषण नहीं मिलता? रानी के हृदय में मोर की कुहुक का बस जाना, और उसकी प्रतिस्पर्द्धा का परिमार्जन मोर को मार कर किया जाना, और फिर भी अमिट कुहुक का ज्यों का त्यों बने रहना जैसे कोई दार्शनिक सूत्र हो, जिसकी व्याख्या में नश्वर यह काया या उसको अमर अभिव्यक्ति का चिरन्तन सत्य उपस्थित किया जा रहा हो--और मोरा ने मोर के रूप में ही रह कर तो इस कहानी को, रूपक की भांति अनेक अर्थों से पूर्ण कर दिया है। शब्द-सौष्ठव इस गीत में नहीं, पर आकर्षण कितना अधिक है, और विचारशील विवेचक के मस्तिष्क के लिए तो इसमें कितनी सामग्री है।"[1]

'मोरा' में प्रियतम के प्रतीक की कल्पना का सूत्र उस युग का स्मरण कराता है जब मानव की दृष्टि में प्रकृति की विशाल और स्निग्ध गोद का स्पर्श सबसे

१ श्री सत्येन्द्र एम० ए०, 'लोक मानस के कमल', जयाजी प्रताप, ३ फरवरी, १९३८

अधिक महत्व रखता था। अनगिनत शताब्दियों को लांघता हुआ मानव यन्त्र युग की दहलीज़ पर खड़ा नज़र आता है। यन्त्र युग की यन्त्र संस्कृति में उलझी हुई मानव-चेतना छटपटाती है, और अपने अतीत का ध्यान करते हुए मानव की आँखों में अनेक परिवर्तन फिर जाते हैं जिनके साथ उसके इतिहास की कड़ियां जुड़ी हुई हैं। ईर्ष्या ज्यों की त्यों कायम है : आज भी नारी को किसी मानव 'मयूर' की ओर आकर्षित देख कर पुरुष के हृदय में ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा की ज्वाला भड़क उठती है।

चन्द्रावली के गीत का प्रधान स्वर भी पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पर्श करता है। मध्यकालीन युग से चली आने वाली सम्मिलित कुटुम्ब की पद्धति को इस जैसे अनेक गीतों की पृष्ठभूमि में रंग भरने का श्रेय प्राप्त है। श्रावण भादों में झूला झूलती हुई कन्याओं के सम्मुख अनायास ही चन्द्रावली का चित्र उभरने लगता है। झूला हवा की लहरों पर तैरता है और झूले की सहेलियां अतीत की स्मृति में खो जाती हैं, जब नारी के सम्मुख आज के टिके हुए जीवन से कहीं अधिक कठिन समस्या उपस्थित रहती थी। यह स्पष्ट है कि चन्द्रावली उन नारियों की प्रतीक समझी जाती है, जिन्होंने शत्रु के पंजे में फँस कर भी अपने सत को आंच नहीं आने दी। कदाचित यह गीत मुग़ल युग के आरम्भ की ओर संकेत करता है। कथानक इतना ही है कि श्रावण के दिनों में चन्द्रावली एक चिड़िया से कहती है कि वह उसके मायके में उसका सन्देश ले जाय। उसका भाई उसे मायके लिवा ले जाने के लिए आता है, और मायके के रास्ते में चन्द्रावली के डोले को एक मुग़ल सिपाही रोक लेता है। चन्द्रावली एक चिड़िया से विनय करती है कि वह उसका सन्देश उसके ससुराल तक ले जाय। ससुराल से ससुर, जेठ और चन्द्रावली का पति तीनों घोड़ों पर चढ़ कर उसकी सहायता को आते हैं। परन्तु उससे कहीं अधिक चन्द्रावली को स्वयं ही अपनी सहायता करनी पड़ती है—

सरग[1] उडंती चिरहुली[2]
लागौ सामन मांस
हमरे बाबल सों नौं कहौ
अपनी बेटी ऐ लेइ बुलवाइ
लागौ सामन मांस
ले डुलिया बीरन चले

1 स्वर्ग (आकाश) 2 चिड़िया

लागौ सामन मांस
जाइ पहुँचे जीजा दरबार
भेजो जीजा जी बहैन कों जी
भैया कूं राँधूगी सैंमई जी
ऊपर बूरौ खांड
सैयां कूं कोंधई[1] जी
ऊपर रोटी साग
लै जाओ सारे अपनी बहैन जी
लै बहैना बीरन चले
लागौ सामन मांस
सरग उडंती चिरहुली
जइयौ ससुर दरबार
डोला तौ घेर्यो पठान ने
लागौ सामन मांस
सरग उडंती चिरहुली
जइयौ ससुर दरबार
हमरे ससुर जी से न्यौं कहौ
डोला लिया है घेर
लागौ सामन मांस
लै हाथी ससुरा चले
हथिनी ओर न छोर
लै रे मुगल अपनी भेंट लै
लागौ है सामन मांस
बहुअल तौ छोड़ौ चन्द्रावली जी
हाथी तो मेरे बहुत हैं
हथिनी ओर न छोर
ना छोड़ूं चन्द्रावली
जाइगी जी के साथ
जाओ सुसर घर आपने
रक्खूं पगड़ी की लाज

1 कोदों

सरग उडंती चिरहुली
जइयो जेठ दरबार
हमरे जेठ जी से न्यौं कहौ
डोला लियौ है घेर
लागौ है सामन मांस
लै घोड़ा जेठा चले
घोड़ी ओर न छोर
लै रे मुगल अपनी भेंट ले
लागौ है सामन मांस;
बहुअल तौ छोड़ौ चन्द्रावली जी
घोड़ा तौ मेरे बहुत हैं
घोड़ी ओर न छोर
ना तौ रे छोड़ूं चन्द्रावली
जाइगी जी के साथ
जाओ जेठ जी घर आपने
राखूं घूंघट की लाज
सरग उडंती चिरहुली
जाइयो पिया दरबार
हमरे साहिबा से न्यौं कहौ
डोला लियो है घेर
लै मोहरें राजा चले
थैली ओर न छोर
लै रे मुगल अपनी भेंट लै
लागौ सामन मांस
गोरी तौ छोड़रे चन्द्रावली
रुपिया तो मेरे बहुत हैं
थैली ओर न छोर
ना तौ रे छोड़ूँ चन्द्रावली
जाइगी जी के साथ
जाओ राजा जी घर आपने
राखूं फेरन[1] की लाज

[1] भांवर

पानी न पीउंगी पठान कौ
सेजौं धरूंगी न पांव
इतनी सुनि राजा चलि दिए
लागौ सामन मांस
जा रे मुगल के छोहरा[1]
लागो सामन मांस
प्यासी मरे चन्द्रावली
जैसी राजदुलारी
प्यासी मरे चन्द्रावली
जिस के माई ना बाप
लै लोटा मुगल चलौ
तँबुआ दे लई आग
हाड़ जरै जैसे लाकड़ा
केस जरें जैसे घास
हाइ हाइ मुगला करै
ठाडें खाइ पछार
घेरी ही बरती नहीं
लागौ सामन मांस
देखी ही चाखी नहीं
ऐसी राजदुलारी
इतनी सुनि सुसरा रो दिए
मेरी राज दुलारी
बहू भली चन्द्रावली
राखी पगड़ी की लाज
इतनी सुनि जेठा जी रो दिए
मेरी राज दुलारी
बहू भली चन्द्रावली
राखी घूँघट की लाज
इतनी सुनि राजा रो दिए
राखी फेरन की लाज
रानी भली चन्द्रावली

[1] लड़का

खानों न खायौ पठान कौ
सेजों पै रक्खो न पाँव
लागौ सामन मांस

यह गीत किसी न किसी रूप में युक्तप्रान्त के विभिन्न जनपदों में बार-बार प्रतिध्वनित हो उठता है। बुन्देलखण्ड में 'मानो गूजरी' का गीत इसी शृङ्खला की एक कड़ी है। बिहार में 'भगवती का गीत' भी भारतीय नारी की गौरव गाथा को इसी रङ्ग में पेश करता है। पंजाब में सुन्दर पनिहारिन का गीत भी इसी एक बात पर केन्द्रित है कि एक मुग़ल सिपाही के चंगुल में फँसी हुई भारतीय नारी किस तरह अपनी जान पर खेल जाती है। चन्द्रावली और सुन्दर पनिहारिन सगी बहिनें प्रतीत होती हैं। ये सभी गीत प्रान्तीय सीमाओं को लांघ कर एकता के आदर्श पर टिकने के कारण ही लोकपरम्परा में अपना स्थान बनाये हुए हैं।

ब्रज के स्त्री-गीतों में मुग़ल की चर्चा लोकगीत के ऐतिहासिक विकास की ओर संकेत करती है। एक गीत में कोई ग्रामीण कुल-वधू किसी मुग़ल सिपाही को यों फटकार सुनाती है—

नदिया के उल्ली पल्ली पार
उड़न लागे दो कागला
नदिया के उल्ली पल्ली पार
दूखें तो मेरी दो अँखियाँ
कै तेरो पीहर दूर
कै तेरो घर में सास लड़ी
उड़ जा रे मुग़ल गँवार
तुझे मेरी का परी
न मेरो पीहर दूर
न मेरे घर में सास लड़ी

नदी के इस पार और उस पार दोनों आँखों का एक प्रकार से दुखने लगना बहुत बड़े दुःख और अपमान का प्रतीक है। परन्तु इस विवादपूर्ण पृष्ठभूमि को दोनों भुजाओं से परे धकेलती हुई नारी अपने सत की रक्षा किए जा रही है, यह देखकर किस देशवासी का सिर गर्व से ऊँचा नहीं उठ जायगा।

आज भी भाई सावन में अपनी बहिन को ससुराल से लिवा ले चलने के लिए पहुंचता है। सावन के गीत प्रायः झूले की हिलोर पर पनपते हैं, और कहीं-कहीं बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से जीवन की रूपरेखा में रंग भरते हैं। एक गीत में

बहिन-भाई के प्रश्नोत्तर यों आरम्भ होते हैं:—

सामन भादों जोर कै
भइया मैंने ले जाय
सामन जिन जायरे
हूँ कैसे आऊँ मेरी बेंदुली
तेरो नाग ने घेरो है घाट
सामन जिन जाय रे
नागन दूध पियाय
भइया मैंने ले जाय
सामन जिन जाय रे

बहिन के लिए बेंदुली शब्द का प्रयोग सावन के गीतों की विशेषता है। सौ-सौ बहाने बनाने वाले भाइयों को ब्रज की कुल-वधुयें चिरकाल से निमन्त्रण देती आ रही हैं। 'सामन जिन जाय रे' की टेक शीघ्रगामी सावन को पकड़ कर रखना चाहती हैं। प्रत्येक कुलवधू यही चाहती है उसका भइया अवश्य आये और सावन बीतने से पहले ही उसे मायके में लिवा ले जाय। बालिकायें अलग झूले पर तान छेड़ देती हैं—

झुकि जा रे बदरा
बरस च्यों न जाय

बादल को सम्बोधित करने के इस अन्दाज़ से गहरी जान-पहचान और बराबरी की भावना प्रगट होती है। यह 'बदरा' तो कोई मेघ-बालक ही होगा जिसे ब्रज के बालक किसी भी समय खेलने के लिए बुला सकते हैं।

सावन का एक गीत यों आरम्भ होता है—

जन्म जनन्ती री माय
तैं ने च्यों न जन्मी री
बागन बिच की कोयली
रहती बागन ई के बीच
काऊ अलबेले मजलसिये
कुहक सुनावती

यह कोयल बनकर बाग में रहने की भावना रसखान की याद दिलाती है। कन्हैया के लिए 'मजलसिया' का प्रयोग इस गीत की मध्यकालीन परम्परा का प्रमाण है।

रो रो कर जौ पीसने वाली बहिन का चित्र यों अंकित किया गया है—

आले से जौ कौ री माँ मेरी पीसनों
कोई रोय रोय पीसे चून
जनी ते कहियो री
मेरो विरन मोय ले जाय
जनी ते कहियो री

एक गीत में बाप-बेटी की बातचीत सुनिए—

मेरे बाबल रे सोने के दोय कलसा लै दे
मेरे बाबल रे नित नित कलसिया फूटती
मेरे बाबल रे नित नित सासुल कोसती
मेरी लाड़ो री कैसे कैसे कोसती
अरमल परमल बाप चटरमल
मां पटरानी भावज रानी वीर कन्हैया कोसती
मेरे बाबल रे वीर कन्हैया कोसती

'चन्दना', 'मरमन', 'रमझोल', 'सिपाहिरा' और 'बनजारा' इत्यादि गीत अपने-अपने ढङ्ग के उत्तम उदाहरण हैं परन्तु स्थानाभाव के कारण यहां उनकी विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं।

हास्यरस भी ब्रज के लोक-जीवन में बार-बार छलक उठता है। झूले के एक गीत में बाजरे की प्रशंसा सुनिये—

आध पाव बाजरा कूटन बैठी
उछल उछल घर भरियो, शैतान बाजरा
कानों देवर मरियो, शैतान बाजरा
आध पाव बाजरा पकावन बैठी
खदक खदक हँडिया भरियो, शैतान बाजरा
कानों देवर मरियो, शैतान बाजरा

होली और फाग के गीतों का प्रसार ब्रज में सबसे अधिक हुआ है। इनका ताल निराला-निराला है और इनकी एक विशेषता यह कि होली के परम्परागत प्रसङ्ग से हट कर ये जीवन के किसी भी चित्र को प्रदर्शित करने की सामर्थ्य रखते हैं—

खोटो है काम किसान को नादान को
सुख नाँने रे
मिलो धूर माटी में
नहीं मिलैं बख्त सिर रोटी

जा की बुरी कमाई खोटी

लोक-कवि पतोला रचित एक होली सुनिये—

फागुन में पर्यौ तुसार
चैत में उखटा
कां ते रँगाय देउँ दुपटा

होली की वास्तविक विशेषता शृङ्गार में उभरती है—

कोठे पै ठाड़ी नार
झूमका सोने को
जा ए लगौ चाव गौने को

पतोला को यही तीन कड़ी की होली अधिक प्रिय थी। यद्यपि उसके समकालीन और उसके परवर्ती लोककवियों ने सदैव होली की परिधि को अधिक-से-अधिक विस्तृत करते हुए काफी बड़ी-बड़ी होलियाँ रचने का यत्न किया है। एक होली में पतोला ने अपनी आत्म-कथा पेश की है—

अन्न टका भर खाय
सूख गयो चोला
मेरौ पड़ि गयौ नाम पतोला

उदाहरणस्वरूप एक बड़ी होली भी सुनिए, जिसमें ऋण के भार से दबा हुआ किसान किसी बौहरे या साहूकार को सम्बोधित करते हुए उसे खरी-खरी सुना रहा है—

गेंहुन में रतुआ लगौ
चनन में लागी सुड़ी
हरैर में कीरा लगौ
सब भांति फूटी मुड़ी
परि गए पथरा
लरका वारे परे उघारे
तोय परी अपनी अपनी
पैसा नांय पास बौहरे
बेसक करि आ दावा
मत देइ दुआर पै कावा[1]

विवाह के गीत अलग महत्व रखते हैं। इनके अनेक प्रकार हैं, विवाह की

[1] चक्कर

एक-एक क्रिया गीतों के साथ गुँथी हुई है, सोहर के गीतों की भी इस जनपद में कुछ कमी नहीं, लोरियाँ और बच्चों के खेल गीत, व्रत और पूजा गीत, देवी और माता के भजन, तीर्थ और पर्व स्नानादि के गीत, त्योहारों के गीत, धोबियों, कुम्हारों और मछेरों इत्यादि विभिन्न वर्गों के गीत, अनेक रसिये, कड़खे और जिगड़ी भजन—ये समस्त सामग्री ब्रज के ग्रामों में बिखरी हुई है। इस मशीन युग में, जब कि सिनेमा और ग्रामोफोन इत्यादि ने बुरी तरह परम्परागत लोकसङ्गीत पर आक्रमण शुरू कर रखा है, यह नितान्त आवश्यक है कि लोकगीतों के संकलन तथा अध्ययन की एक विशेष योजना बनाई जाय बल्कि हम मशीन से मदद लेंगे, और इन गीतों को सुरक्षित रखने का यत्न करेंगे। अनेक जनपदों में लोकगीत आन्दोलन जोर पकड़ रहा है, रेडियो पर विभिन्न जनपदों के लोकगीत जब आपस में गले मिलते हैं तो इन जनपदों का पारस्परिक स्नेह बढ़ने का आभास दिखाई देने लगता है। ब्रज के अनेक गीत इतने सुन्दर और महत्वपूर्ण अवश्य हैं कि वे अन्तरप्रान्तीय लोकगीतों की बिरादरी में बड़े शौक से गाये जायँ।

रसिया में रस का झरना प्रवाहित होने लगता है, यद्यपि कहीं-कहीं इस रस की गति-विधि मर्यादा का उल्लंघन करने से भी नहीं चूकती। मर्यादा के उल्लंघन को बात सुनकर चौंकने की आवश्यकता नहीं, लोकगीत अपनी मर्यादा स्वयं स्थिर करता है। रसिया के स्वर कभी-कभी कुछ अधिक चंचल हो उठते हैं। इन्हें बांधकर रखने का प्रयास लाभप्रद नहीं होगा। हो सकता है कुछ रसिया सुनते समय किसी कदर संकोच अनुभव करें। परन्तु यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि रसिया की विशेषता इसकी सर्वाङ्ग सुन्दरता में है। इसके हृदयस्पर्शी स्वरों की उठान इसकी सुन्दरता को और भी बढ़ा देती है। रसिया आनन्दविभोर मन की वाणी है, दैनिक जीवन इसका धरातल है।

रसिया लोक-जीवन का रस है। इसकी परम्परा अखंड है, अविभाज्य है। रसिया के विभिन्न बोल एक-से-एक बढ़कर चित्र प्रस्तुत करते हैं। हो सकता है कुछ लोग इन चित्रों की अस्त-मस्त रेखाओं में कुछ-कुछ मर्यादा का उल्लंघन देखकर इनकी कड़ी आलोचना करें। पर जब एक-से-एक ज़ोरदार रसिया मेघ-गम्भीर स्वरों में प्रस्तुत किया जाता है तो हमें स्वयं ही सुरुचि की न्यूनता की शिकायत व्यर्थ प्रतीत होने लगती है—

लम्बरदारी में लगाइ दै बैरी आग
परेला लै दे कंचन कौ

× ×

घटा गई पीहर को
परमेसर ह्वै गई मांदी
× ×
हरे की अँगिया जो पैरे
जाय रीझै लम्बरदार
× ×
बल्मा झोक लगै लटकन की
मो पै अटा चढ़्यौ न जाय
× ×
बछेरी डोले पीहर में
जा पै को होइगौ असवार
× ×
पद्मा पुजारिन बन बैठी
तुलसी के पत्ते चबाय
× ×
अँगिया गोटादार
भूलि आई जंगल में
× ×
लपट आवै निबुअन की
रस बगिया कितनी दूर
× ×
गैलऊआ गोला दै जइयो
कैरी हरियल पक रही ज्वार
× ×
मेरी रातों जरी मसाल
बगद गयौ पुल पै ते
× ×
कोंधनी सोने की
बनवाई दै दावेदार
× ×
बैठक पोखर पै बइवाई दै
कलावती के दादा
× ×

मेरे इन हाथन की मेंहदी
काऊ दिन सुपनौ है जायगी
× ×
उठीए जुआनी या ढब ते
जैसैं आंधी में भबूड़ौ बल खाय
× ×
हेल मो पै गोबर की
लड़ुआ काहे को दिखावे लम्बरदार
× ×
तेरौ खसम दरोगा
अब डर काहे कौ
× ×
लम्बरदार की लुगाई
तो ते राम डरपै
× ×
चना के लड़ुआ चौं लायौ
मेरे पीहर में जलेबी रसदार
× ×
बम्बा पै बोली तीतरिया
तू बन परवाइवे कब जायगी
× ×
मँझोली न लइयो
मेरौ गूँठो पामन जाय
× ×
तेरे मन्दे बाजें बीछिया
बदलवाइ लै
× ×
चिलकने गोटे पै
तेरौ सब जोबन लहराय
× ×

ये सब रसिया के आरम्भिक बोल हैं जो ब्रज के वातावरण में सदैव तैरते रहते हैं। कुछ लोग तो टेक ही में उलझ कर रह जाते हैं। परन्तु रसिया का

पूरा रस इसके पूर्ण में ही पनपता है। रसिया के दो तीन पूरे उदाहरण भी लीजिए—

तू भँवर बन्यौ बैठ्यौ रहिओ
चल बस मोरे पियौसार
घोड़ी लै लै दऊँ नाचनी
हर्यौ बनाती जीन
चल बस मोरे पियौसार
नथ के घड़ाय दऊँ गोखरू
खनवारे की छल्ला छाप
चल बस मोरे पियौसार
दही जमाऊँ भूरी भेंस कौ
औऊ पुरा भर खाँड़
चल बस मोरे पियौसार
चन्दन चौकी पै बैठनों
औ उ अचरन ढोरुं बियार
चल बस मोरे पियौसार

× ×

कारी चूँदरिया रंगाय दै
मेरौ जोबन लच्छेदार
जब ते आई तेरे घर में
गुजर करी टूटे छप्पर में
ना देखे तेरे महल तेवारे
ना सोई पलँग नेवार
मेरौ जोबन लच्छेदार

× ×

लै आए हमारे महाराजा
आज हमें छल करकें
ए सइयाँ तेरे राज में
कबहुँ न पैरी चूरियाँ
कलइयाँ भर भर के
ले आए हमारे महाराज
आज हमें छल करकें

× ×

जुआनी सरर सरर सर्रावे
जैसे अंगरेजन कौ राज
अँगरेजन को राज
जैसे उड़ै हवाई जहाज
जुआनी सरर सरर सर्रावे
जैसे अंगरेजन कौ राज
काजर दै-मैं का करूं
मेरे वैसेई नैन कटार
जुआनी सरर सरर सर्रावे
जैसे अंगरेजन कौ राज
जाते मिल जाय निगाह
वही मेरा है जाय ताबेदार
जुआनी सरर सरर सर्रावे
जैसे अंगरेजन कौ राज
उमर खिचे पै कोई न पूछे
जुआनी कौ संसार
जुआनी सरर सरर सर्रावे
जैसे अंगरेजन कौ राज

रिचर्ड सी० टेम्पल ने पंजाबी लोकगीत संबन्धी अपने कार्य की चर्चा करते हुए लिखा है—"मैं उत्सवों में, मेलों में, दावतों में तथा शादियों और स्वांगों में सम्मिलित हुआ हूं। यथार्थ यह है कि मैं प्रत्येक ऐसे स्थान पर गया जहाँ किसी गायक के आने की सम्भावना हो सकती थी। मैंने उन गायकों को ऐसे फुसलाया कि वे मेरे निजी लाभ के लिए भी गावें। मेरे सन्मुख ऐसे मामले भी थे जिन में ऐसे अवसरों पर झगड़े उठ खड़े हुए हैं और उनसे उस गायक का पता लगा है जो इस अवसर पर पौरोहित्य कर रहा था, और तब उसे मेरे लिए गाने को प्रेरित किया जा सका है, और कभी कभी स्वांग खेलने वाले पढ़े लिखे लोगों को स्वांगों की उन की निजी हस्तलिखित प्रति मुझे देखने देने के लिए प्रेरित किया जा सका है। जब कभी केवल ग्रीष्म ऋतु में मैं घूमने वाले जोगी, मीरासी, भराई तथा ऐसे ही लोगों से गलियों और सड़कों पर मिला-हूं, तब उन्हें रोक कर यथा समय उनसे जो कुछ वे जानते थे उगलवा लिया है! कभी कभी देशी राजाओं और सरदारों के दूतों और प्रतिनिधियों से मिलने और बातचीत करने का भी अवसर मिला

है··· ये वे लोग हैं जो अपने स्वार्थ तथा लाभ के लिए कुछ भी करने को सदैव तत्पर रहते हैं······ उन्हें इस सम्बन्ध में संकेत मात्र कर देने से एकाधिक लोकगीत मुझे प्राप्त हुए हैं। अन्त में व्यक्तिगत भेंट तथा पत्र-व्यवहार, गोरे और काले सभी प्रकार के ऐसे व्यक्तिओं से, जो सहायता कर सकते थे, उपयोगी सिद्ध हुआ है, और बहुत सी सामग्री मुझे इस प्रकार प्राप्त हुई है।" वस्तुतः लोकगीत संकलनकर्त्ता अपने कार्य में उसी अवस्था में सफल हो सकता है जब कि उसे अपने कार्य की सच्ची लगन हो।

ब्रज की लोकगीत-यात्रा के सम्बन्ध में मुझे अनेक स्थान देखने का अवसर मिला। मथुरा, प्रेमसरोवर, बरसाना, नन्दगांव, ऊंचागांव, कोसी, पुष्पसरोवर, गोवर्धन, राधाकुंड, मुखरई, कटेरु का नंगरा, आनरा छायली, उर्खरा, शाहदरा, नुनियाई और धाँधूपुर सभी स्थान से मैंने अनेक गीत प्राप्त किये।

ब्रज साहित्य मंडल ने ब्रज के लोकगीतों के संकलन की ओर विशेष ध्यान दिया है। इसके लिये मंडल को बधाई दी जानी चाहिए। सोनई, बरसाना, नन्दगाँव, कोसी, गिड़ोह, अकबरपुर, खायरा, चौमुहा, पसौली और बिलौठी—इन दस केन्द्रों से मंडल के कुछ स्नेहियों ने श्री सत्येन्द्र के पथ प्रदर्शन में दो तीन सौ के लगभग गीतों का संकलन किया है। आशा है कि मंडल की ओर से इन गीतों का प्रकाशन शीघ्रातिशीघ्र हिन्दी जगत् के सम्मुख उपस्थित किया जायगा।

ब्रज के लोकगीत ब्रज भारती के प्रतीक हैं, ब्रज की आत्मा को इनसे अलग करके देखना समझना सम्भव नहीं। हो सकता है कि कुछ लोग यह देख कर कि इन गीतों की भाषा साहित्यिक ब्रज-भाषा की भांति बनी-संवरी नहीं, नाक-भौं चढ़ायें। यह नई लीक डालने का इच्छुक कोई भी कलाकार इनके अनूठेपन पर गर्व कर सकता है, एक से एक नई ही प्रेरणा ले सकता है, क्योंकि इन पर प्रादेशिकता की छाप कहीं भी इतनी गहरी नहीं हो पाई कि असीम मानवता की आवाज़ दब जाय।
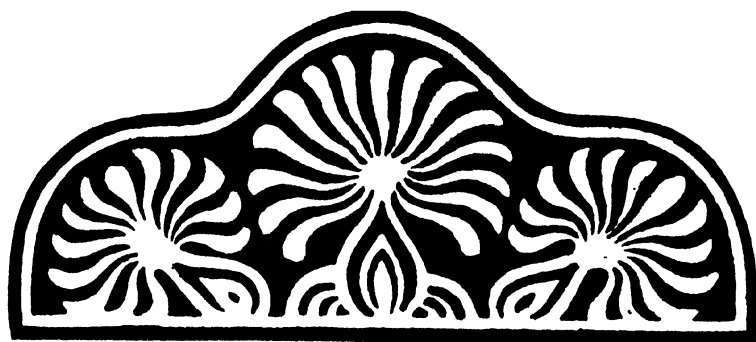
३

मेघ-गम्भीर गुजरात

रूसी लोकगीतों के सम्बन्ध में प्रायः कहा जाता है कि उनका वास्तविक रस उनके स्वरों पर तैरता हुआ हम तक पहुँचता है। और वह भी उस समय जब कि गायक स्वयं एक रूसी हो। यही बात गुजराती लोकगीतों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। काका कालेलकर के कथनानुसार, 'जिस समय कवि मेघाणी जैसे अपने मेघ-गम्भीर कण्ठ से इन गीतों को गाते हैं, तब इस बात का सहज ही ध्यान आ जाता कि हमारा पुराना लोक-जीवन कितना प्रबल और पौरुष-पूर्ण रहा होगा।' आज मेघाणी जी तो जीवित नहीं कि हम उनसे अपने बहुमूल्य संग्रह से कोई महत्त्वपूर्ण गीत सुनाने का अनुरोध करें, पर उनके गाये हुए कुछ गुजराती लोकगीतों के रिकार्ड आज भी उपलब्ध हैं। मेघाणीजी का अपूर्व गीत-संग्रह गुजराती संस्कृति के बहुमूल्य चित्र प्रस्तुत करता है। जैसे नवप्रभात की सुनहली किरणें प्रत्येक वस्तु पर सोने का पानी फेर दें, नीड़ों में पक्षी चहचहा उठें, ऐसे ही शतशत वर्षों को लांघती हुई लोक-प्रतिभा सुखद सुन्दर चेतना की प्रतीक बन जाती है। शब्द सदैव इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि किसी के कंठ से निकल कर गीत में ढल जायँ। लोक-जीवन के ताने-बाने में अविच्छिन्न रूप से बुने हुए गान ही लोक-कला के वास्तविक 'पैटर्न' कहला सकते हैं, क्योंकि इनमें एक ऐसा टिकाऊपन होता है जिसके बिना कोई भी कला गर्व से सिर ऊँचा नहीं कर सकती। ढेर-ढेर गीत जो इधर-उधर बिखरे रहते, उन्हें मेघाणीजी ने अपने संग्रहों में जुटाया और आज ऐसा लगता है कि अतीत

के गान नई संस्कृति के बीज बखेरने का दम रखते हैं। पर शर्त यही है कि इन्हें संगीत के रूप में अपनाया जाय। स्वर-ताल की सहज आत्माभिव्यक्ति से पृथक करके हम गुजराती लोकगीत की वास्तविक गति और चेतना से परिचित नहीं हो सकते, इसी मत को स्थिर करते हुए मेघाणीजी ने सदैव संगीत-पक्ष पर विशेष जोर दिया था।

लोक-संगीत का ह्रास होता चला जाय, और लोकगीतों के खाली शब्द सांस्कृतिक थाती के रूप में किसी भी जनपद के पास रह जायँ, यह अवस्था तो बड़ी अपमानजनक होगी। इस दिशा में गुजरात खूब सजग है। काठियावाड़ तो और भी सजग है, क्योंकि वहीं मेघाणी जी ने लोकगीत-संग्रह का कार्य सम्पन्न किया था! यदि लोक संगीत केवल एक प्रादेशिक वस्तु होती तो वह उसी जनपद तक सीमित रहती जहां उसका चलन है, पर ऐसी बात नहीं है। जब भी एक समर्थ कलाकार इसे इसके मूल-जनपद से दूर ले जाकर प्रस्तुत करता है वहां भी श्रोताओं को इसका सिक्का मानना पड़ा है। जब मेघाणीजी ने शान्ति-निकेतन में पधार कर गुजराती लोक-सङ्गीत की बानगी दिखाई, रवीन्द्रनाथ टाकुर ने मुग्ध होकर इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। गुजराती लोकगीतों का कला-पक्ष कितना महत्वपूर्ण है इसका कुछ अनुमान हमें सहज ही हो सकता है। पग-पग पर एक चित्र उभरता है, यही गुजराती लोकगीतों की विशेषता है: शब्द रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं, स्वर-ताल रस में रंग भरते हैं।

संगीत से पृथक् होने पर केवल रूपरेखा रह जाती है। पर रूपरेखा का भी अपना महत्व है, इस का भी अपना कला-पक्ष है। उदाहरण-स्वरूप एक काठिया-वाड़ी सोरटा लीजिए—

जेनी जोइए बाट, ई मानवी आवी मिले
उघड़े हइया ना हाट, कूँची नहीं कामनी

—'जिसकी बाट जोहें, वह आदमी आ मिले
हृदय की दुकान खुल जाती है, कुञ्जी की जरूरत नहीं पड़ती।'

बारहवीं शताब्दि के एक जर्मन गीत में भी नारी का ज़बरदस्त तराना प्रस्तुत किया गया है—'तुम मेरे हो, मैं तुम्हारी हूँ, मुझे दृढ़ विश्वास है। सदैव तुम मेरे हृदय में, जिसमें ताला लगा है, बन्द हो। और मेरे हृदय की कुञ्जी परे फेंकी जा चुकी है। सदैव इस हृदय के भीतर तुम्हें रहना होगा।'

एक काठियावाड़ी सोरठे में अच्छे बुरे का भेद बताया गया है—

एक आवे दुःख ऊपज, एक आवे दुःख उलाये
एक विदेस गया ना वीसरे, एक पासे बैठा न सुहाय

—'एक आता है, दुःख उपजता है; एक आता है, दुःख ठंडा पड़ता है, एक परदेस जाता है तो बिसरता नहीं, एक पास बैठा भी नहीं सुहाता। देश-देश में विरह का गान गाया गया है। जिसके हृदय में प्रियतम की मूर्ति स्थापित है, वह उसी से सन्तुष्ट रहती है। विरह भी आवश्यक है, क्योंकि इसी से प्रेम पुष्ट होता है।'

स्वर्ग से लौटकर एक आदमी अपने दोस्तों से कह रहा है, कि इस धरती का जीवन कहीं बेहतर है—ब्राउनिंग की कविता में यह दृश्य अङ्कित है। वह कहता जाता है—न स्वर्ग में किसी चीज़ की कमी है, न वहाँ कुछ बढ़ती ही होती है। न अदल-बदल है। न शुरू, न आख़िर। अच्छे बुरे में वहाँ कभी मुकाबला नहीं होता। सभी तो सुखी हैं, वहाँ। कोई दुखी नहीं। सभी सम्पूर्ण हैं, और मैं तो इस सम्पूर्णता से घबरा उठा। फिर मेरे मन में प्रेम और घृणा का, आशा और निराशा का बखेड़ा-सा होने लगा। मैं मर्त्यलोक के जीवन के लिये उत्कंठित हो उठा। मैं चाहता था, भिन्नता। सब कुछ एकसा देखने से जी नहीं भरता था। ऊँची-नीची असमता के बीचों-बीच एकता का क्रम देखने की इच्छा से कितनी खुशी होती है, आदमी के दिल को। ओ आदमियो! तुम्हें शक हुआ करता है। आशा भी, और भय भी तुम्हारा दिल छुआ करते हैं। तुम्हें वेदना हुआ करती है। तुम मरते भी हो, तो क्या? जीवन का लक्ष्य नज़र से ओझल, थोड़ा हो जाता है। मेरे दिल में ये भाव जाग उठे तो एक ने मुझे बताया—'ओ रैफ़न! यहाँ का तुम्हारा वक्त ख़तम हुआ। अब तुम्हारी जगह, धरती पर होगी।'

एक आदमी सदियों तक स्वर्ग में रहा, आनन्द से। फिर उसका पुण्य कमज़ोर पड़ गया। उसे धरती पर लौट आना पड़ा। रवीन्द्रनाथ टाकुर की एक कविता में यह झांकी पेश की गई है। 'स्वर्ग से विदा'—स्वर्ग छोड़ते समय यह आदमी बहुत घबराया। स्वर्ग में वह आंसू देखेगा, ऐसी उम्मेद उसे कभी न हुई थी। स्वर्ग तो आनन्द का स्थान ठहरा; दुःख कहां? वह सोचने लगा कि अगर स्वर्ग पर दुःख का साया पड़ जाय तो उसकी ख़ूबसूरती कितनी बदल जाय। निर्मल ज्योति मलिन हो जाय। हवा में मर्मर-ध्वनि समा जाय। नदी बहती-बहती करुण आवाज़ पैदा करती चले। प्रकाशवान् दिन के बाद सायंकाल की लाली ज़ाहिर हो। पर स्वर्ग में यह सब नहीं होने का। यह वैपरीत्य तो धरती की चीज़ है। आनन्द वहाँ दुःख से मिला है और इसी से वह इतना अधिक सुन्दर हो गया है। स्वर्ग की अप्सरा प्रेम तो करती है, पर उसे कभी वेदना नहीं होती, न अतृप्ति ही। विरह में जो आकांक्षा हुआ करती है, मिलन की, वह उसे मालूम

नहीं, विच्छेद का दुःख भी उसे कभी नहीं होता। धरती पर विरह और मिलन द्वारा प्रेम में पूर्णता आ गई है। स्वर्ग में वह नहीं दीखता।

गुजराती लोकगीत में विरह को प्रचुर स्थान मिला है। एक गीत नहीं, सैकड़ों गीत विरह की कोख में जन्मे हैं। जिसे स्वर्ग में जगह नहीं, वह विभूति काठियावाड़ी सोरठों में प्रचुर मात्रा में मिलती है—

कापड़ फाटिउँ होय एनें ताणो लई ने तुनिएँ
कालज फाटियाँ होय ई कोई काले संधाये नहीं

—'कपड़ा फटा हो तो इसे रफू कर लें, धागा लेकर,
कलेजा फटा हो तो किसी भी रीति से जुड़ता नहीं यह!'

इसी भाव को एक और सोरठा में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

भाणू भागिऊँ होय एनें रेण देई ने राखिये
कालज फाटियाँ होय ई कोई काले संधाये नहीं

—'बरतन टूटा हो तो इसे टांका लगाकर रख सकते हैं;
कलेजा फटा हो तो किसी भी रीति से जुड़ता नहीं यह!'

पंजाब के एक लोकगीत में नारी ने गाया है—'यारी टुट्टी दा की लाज बनाइये, रस्सी होवे संढ ला लिये!' (टूटे प्रेम का क्या इलाज करें? रस्सी हो तो उसे जोड़ लगालें) बंगाल के एक गीत में, जिसे मैंने कूचबिहार के क़रीब एक ग्राम में सुना था, परदेशी की प्रीत को तुलना मिट्टी के घड़े से की गई है, जो एक बार टूट जाय तो फिर उसे जोड़ा नहीं जा सकता। देश-देश में, प्रांत-प्रांत में विरह के ये गीत एक-से स्वरों में ओत-प्रोत हैं।

हृदय में टाँका लग जाता है, निर्मोही प्रीतम ज़रा मुसकरा कर इधर देखे तो सही—

म्हारे अन्तरे थी उड़े छे आछा अम्बार
अन्तरे थी उतरे छे आछा अम्बार
दिलड़े आनन्द लहेर आजे के उठती
अणु अणु सुखमानी सैरी छूटती
माथे थी उतरे छे भेद तणे भार

—'मेरे अन्तर से एक भावना उठ रही है;
अन्तर से एक भावना उतर रही है!
आनन्द की लहर उठ रही है दिल में;
अणु अणु से सुख छूटा पड़ता है।
सब भार उतर गया माथे पर से!'

हक्स्ले ने एक जगह लिखा है कि मानव-समाज में जब दुःख, निराशा और वेदना ऊँच-नीच पैदा करने से रह जायँगी, तब आदमी के पास कहने-सुनने को और गाने को कुछ नहीं रह जायगा, और आदमी का साहित्य बाँझ हो जायगा।

किसी बड़े विरह के पश्चात् ही काठियावाड़ी नारी ने इस सोरठे को जन्म दिया होगा—

त्रवेणी ने तीर अमें सागवन सरजा नहीं
नहीं तो आवतड़ो अहीर दातण करवा देवरो

—'त्रिवेणी के तीर पर ईश्वर ने मुझे सागवान नहीं बनाया ?

नहीं तो यहाँ अहीर आता मैं दतुअन करने को दिया करती !' 'अव्यक्त भावनाएँ मूर्तिलाभ करने का सुअवसर पाने के लिए सोते जागते प्रेत के समान मन के अन्दर घूमती फिरती हैं।'

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर ठीक ही कहा है—'अव्यक्त... वृक्षों के जो फल पूर्णरूप से विकसित हो जाते हैं, वे यह विचार करते हैं कि डालियों में बँधे रहने से ही हमारा उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। हम पक कर रसों में भरकर, रंगों से रंगकर, गंध से मस्त होकर, और गुठलियों से सख्त होकर, वृक्ष को छोड़कर बाहर जायँगे। उस बाहर की ज़मीन पर यदि हम ठीक तौर पर गिर सकें तो हमारा अस्तित्व सार्थक नहीं हो सकता। भावुकों के मन में जब भावनाएँ भाव के रूप में बन जाती हैं, तो वे भी इसी प्रकार विचार करती हैं कि यदि कोई सुअवसर मिला, तो विश्व-मानव की मानसिक भूमि पर नये जन्म और अनन्त-जीवन की लीला करने के लिए हम निकल पड़ेंगी। पहले पैदा होने का सुयोग, फिर विकसित होने का सुयोग, और उसके बाद बाहर निकलकर अच्छी भूमि प्राप्त करने का सुयोग, यदि ये तीनों सुयोग मिल जायँ, तो मनुष्य के मन की भावनाएँ कृतार्थ हो जाती हैं। भावनाएँ सजीव पदार्थ के समान मनुष्य को एकमात्र इसी सफलता की ताकीद किया करती हैं। इसी कारण मनुष्य-मनुष्य का चुपचाप सम्मेलन हो रहा है। अपनी भावनाओं के भार को हलका कर देने तथा अपने मन की भावनाओं को दूसरों के मनोंद्वारा विचारे जाने के लिए, एक मन दूसरे मन को ढूँढ़ रहा है। इसीलिए स्त्रियां घाटों में इकट्ठी होती हैं। मित्र मित्र के पास दौड़कर आते हैं...मनुष्य के मन की भावनाएँ सफलता की प्राप्ति के लिए अन्दर ही अन्दर मनुष्य को बल-पूर्वक ताकीद करती रहती हैं; मनुष्य को अकेला नहीं रहने देतीं; और इसी की ताड़ना से सारी पृथ्वी के मनुष्य चुप होकर और बोलकर

दिन-रात कितना अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं, इसका कुछ ठिकाना नहीं है! वह सब प्रलाप कितनी कथा-कहानियों में... गद्य पद्य में...प्रवाहित हो रहा है।'

विरह का एक गुजराती गीत है 'कुंजलड़ी'। पुरुष परदेस में है। नारी उड़ती कुंजलड़ी के हाथ उस तक सन्देश भेजना चाहती है। कुंजलड़ी सारस या क्रौंच की जाति का पक्षी है; राजस्थान में इसे प्रायः 'कुंज' कहते हैं, और वहाँ के गीतों में इसे कुरभ और कुंजलड़ी भी कहा गया है; पंजाब में इसे 'कूँज' कहते हैं। गुजरात का यह गीत, एक मधुर करुणा लिये, न जाने कब से यहाँ के लोक-मानस में रस का सञ्चार करता आ रहा है। गुजराती नारी ने इसे हज़ारों बार गाया है। आज भी वह गा रही है—

कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
माणस होय तो मुखो मुख बोले
लखो अमारी पंखलड़ी रे
कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
सामा काँठाना अमें पंखीड़ा
ऊड़ी ऊड़ी आ काँठे आव्या जी रे
कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
कुंजलड़ी ने वा' लो मीठो मेरामण
मोर ने वा' लुँ चोमासों जी रे
कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
राम लखमण ने सीता जी वा' लां
गोपियों ने वा' लो कानड़ो जी रे
कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
प्रीति काँठा ना अमेरे पंखीड़ाँ
प्रीतम सागर बिना सूना जी रे
कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
हाथ परमाणे चुड़लो रे लावजो
गुजरी माँ रत्न जुड़ावजो जी रे
कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
डोक परमाणे झरमर लावजो
तुलसीए मोतीड़ाँ बँधावजो जी रे
कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
पग परमाणे कडलाँ लावजो

काबीयुँ माँ घुघर बँधावजो जी रे
कुंजलड़ी रे संदेशो अमारो जई बालम ने के'जो जी रे
—'ओ कुंजलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !
आदमी होती तो मुँह से बोलती
मेरे पंखों पर सन्देश लिख दो !
ओ कुंजलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !
हम उस पार के पक्षी हैं
उड़ते-उड़ते इस पार आ पहुँचे हैं हम !
ओ कुंजलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !
कुंजलड़ी को प्रिय लगता है मीठा सागर
मोर को प्रिय है चौमासा;
ओ कुंजलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !
राम औ लक्ष्मण को प्रिय है सीता,
गोपियों को प्रिय है कृष्ण;
ओ कुंजलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !
हम प्रेम-किनारे के पक्षी हैं,
प्रीतम सागर बिना हम सूने हैं !'
ओ कुंजलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !
'हाथ के नाप का चूड़ा लाना',
'गुजरी' हाट में जाकर इस पर रत्न जुड़वाना !
ओ कुंजलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !
गले के नाप का 'झरमर' गहना लाना !
तुलसी की माला में मोती बँधाकर लाना !
ओ कुंजलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !
पैर के नाप का 'कडंला' गहना लाना !
'काम्बियूँ'[1] में घुंघरू बँधवाना !
ओ कुञ्जलड़ी ! मेरा सन्देश जाकर बालम से कहना !

पक्षी के हाथ सन्देश भेजने की कल्पना देश-देश के लोक-गीत में व्यापक है। हंगरी के एक ख़ानाबदोश ने अपने एक गीत में कहा है—'ओ अबाबील, ओ मेरी नन्हीं अबाबील, उड़ जा मेरी प्रेयसी की खिड़की की ओर। उससे कहना

1 पैर का दूसरा गहना

मेरे पास चाँदी की रकाबी है। इसमें मैं उसका नाम खुदवाकर उसमें सोने का तार भरवाऊँगा !'

'कुंजलड़ी' मानव की भाषा तो नहीं जानती। पर उसने यह बात नारी को किस भाषा में समझा दी ? कुंजलड़ी सीता से परिचित है, और गोपियों से भी। गुजराती ने उसके पंखों पर जो सन्देश लिखा उसमें एक नहीं, लगते हाथ पाँच गहनों की फ़रमाइश कर दी। एक दम हमारे सम्मुख एक नारी का चित्र उभरता है जिसके अंग पर एक भी गहना नहीं--पर कल्पना का चितेरा जाने कहां-कहां से गहने लाकर उसका शृंगार किये चला जाता है।

: २ :

शरद ऋतु है। पूर्णमासी की रात्रि। गुजराती नारियां आनन्दविभोर होकर गरबा नाच रही हैं। अब तो गरबा को शहरी जीवन में एक नया ही सम्मान मिल गया है, जिसका यह नृत्य हकदार भी है। गरबा के गीत बहुत भावपूर्ण होते हैं। यों इससे मिलती-जुलती वस्तु अन्य प्रान्तों में भी व्यापक है। गृह-जीवन के दृश्य, ताने-बाने की भांति गुँथे हुये, जिनमें सन्तोष भी है और चुटकी भी ली गई है, उछलती भावनाओं में पिरोये गये हैं। पचास से कुछ ही कम स्त्रियां होंगी। सम्मिलित स्वरों में गाया जा रहा गीत दूर तक गूँज रहा है—

आसो मासे शरद पुननी रात जो
चाँदलियो ऊग्यो रे सखि म्हारा चौक माँ
ससरो म्हारो देरा माँ नो देव जो
सासूड़ी देरासर की रे पूतली
जेठ म्हारो अषाढ़ी नो मेघ जो
जेठाणी झबूके बादल बीजली
दीयर म्हारो चाँपलिया नो छोड़ जो
देराणी चाँपलिया केरी पाँखड़ी
नणदी म्हारी बाड़ी माँ नो वेल जो
नणदोई म्हारा बाड़ी माँ नो बाँदरो
गोरी नो परणियो चतुर सुजान जो
परणियो वाहण कमावा जाय जो
वाहण कमाई ने लावे खारेक टोपरा
खारेक खाऊँ तो गोरी ने ऊँचावले

—'आश्विन मास में शरद् पूर्णिमा की रात है !

मेरे आँगन में चाँद चढ़ गया, ओ सखी !
मेरा ससुर मन्दिर का देवता है !
सास 'देरासर' पर की मूर्ति है !
मेरा जेठ आषाढ़ का मेघ है !
जेठानी चमकती है बादल में बिजली-सी !
मेरा देवर चम्पा का पेड़ है !
देवरानी चम्पा की पँखड़ी है !
मेरी ननद बाग में की लता है !
मेरा ननदोई है बाग में का बन्दर !
मुझ रूपवती का पति है चतुर सुजान !
वह सागर के रास्ते कमाने जाता है।
सागर-पार की कमाई से वह छुहारे और सूखे नारियल लाता है !
छुहारे खाना तो मुझ रूपवती को पसन्द नहीं।'

सास-ससुर, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी और ननद-ननदोई के चित्र स्थान-स्थान पर लोकगीत में अङ्कित किये गये हैं। यहाँ इस रूपवती ने अपने चतुर सुजान पति की सागर-पार की कमाई से मोल लिये छुहारे पसन्द नहीं किये, यह भी एक मीठी चुटकी है। पुराने ज़माने में सागर-पार करके लोग दूर-दूर कमाई के लिये निकल पड़ा करते थे, इसको मूल में 'वाहण कमावा' कहा गया है। श्री के० एम० मुंशी की सुपुत्री, सरला बहन ने मुझे यह गीत, पहले-पहल, अपने सरल कंठ से, गाकर सुनाया था; उन्होंने सागर-पार की कमाई से सम्बन्धित एक गुजराती लोकोक्ति भी मुझे बताई थी—'जो जाये जावे, ते पाछो नहीं आवे; ने जो आवे तो परिया-परिया मोती लावे !' 'जो जावा जाता है, वह लौटता नहीं, और यदि लौटता है तो इतने मोती लाता है कि कई पीढ़ियां तक वे ख़तम नहीं होते।' ससुर की तुलना इस गीत की स्त्री ने मन्दिर के देवता से की है; ऐसा प्रतीत होता है घंटियों के मंगल-नाद की प्रेरणा से ही, जिसे हम सुन चुके हैं, यह सुन्दर भाव उपज सका है। आषाढ़ के बादल और बिजली की तुलना भी सुन्दर है, चम्पक और उसकी पँखड़ी की भी। ननद लता है और ननदोई निरा बन्दर—ज़बरदस्त व्यंग्य है।

आश्विन शुक्ला प्रतिपदा से नवमी तक के नौ दिन—नवरात्र, में ही पहले-पहल, गरबा-नृत्य का जन्म हुआ था; इसी शुभ समय पर, सदियां से, इसका चलन जारी रहा है, और ज्यों-ज्यों इसकी लोकप्रियता में वृद्धि हुई, अन्य शुभ

अवसरों पर भी इसे स्थान देते लोक-मानस ने सङ्कोच नहीं किया। आश्विन की पूर्णमासी तक तो इसकी हिलोर रहती ही है, यों यह लहर दीवाली तक भी जारी रहे, तो कोई आश्चर्य नहीं।

अभी रात के साढ़े नौ भी नहीं बजे। घर-घर स्त्रियां जल्दी-जल्दी काम-काज से निबट रही हैं। हर एक के दिल में उमंग है। ग़रीबी को तो, ज़बर्दस्ती भी, चन्द दिन के लिए भगा ही देना चाहिए। पति ने लाख कहा था, पैसे थोड़े हैं। तो क्या? ये दिन फिर पूरे एक साल बाद आयेंगे। नये वस्त्र, अधिक नहीं तो दो-चार ही, या एक-दो ही, अवश्य बनवा लिये गये हैं। जिसके पति के पास पैसे अधिक थे उसने गहने भी बनवाये हैं। बेटी ने बाप से मनचाही सौग़ातें पा ली हैं, कमाऊ भाई से बहिन को कुछ न कुछ अवश्य मिल गया है। वाह! सब सज गईं। ऊँच-नीच तो अब भी झाँक रही हैं, हर कोई एक-से गहने, एक-से वस्त्र कहाँ से लाती। सकुचाने का काम नहीं। जो ज़रा अमीर है वह खुद ग़रीब बहन के शृङ्गार की प्रशंसा कर रही है—ऐसा करना वह अपना फ़र्ज समझती है। सब खुश हैं; अपने घर का मान हर एक को है, ग़रीब को भी। पहले इस सामने की गली में चलिये। पंद्रह-बीस स्त्रियां, छोटी-बड़ी, जमा हैं। घेरा बना है। बीच में दीपक है। स्त्रियां घूम रही हैं, वे ताल दे रही हैं हाथ की तालों से, और पैरों की पटकन से। और वे गा भी रही हैं। एक स्त्री इस नृत्य की सरदारिन है, पहले वह गाती है, और फिर बाकी सखियाँ दोहराकर गाती हैं। वे आगे की ओर लचक-लचककर घूम रही हैं, नृत्य में एक कमनीय छटा आ गई है। शरीर के साथ इन भली नर्तकियों के दिल भी तो नाच रहे हैं। रस है। लावण्य है। कुछ भी तो कमी नहीं। कंकणों और झांझनों की झनकार भी समाँ बाँध रही है। बीच में का धवलघट जिसमें दीपक रखा हुआ है और जिसके ऊपर गोल, छोटे छेद किये गये हैं दायरों में 'गरबो' कहलाता है। यह देवी—जगदम्बा, दुर्गा का प्रतीक है।[1] इस टोली में एक बुढ़िया भी आ शामिल हुई है। बुढ़िया है तो क्या, आज जैसे उसके मन में, शरीर में यौवन का कुछ-कुछ

[1] इस 'गरबो' घट के कारण ही यह नृत्य 'गरबा' कहलाता है। पर यह शब्द कैसे बना, कुछ ठीक से तो नहीं कहा जा सकता। कौन जाने 'गर्व', जो अपभ्रंश में 'गरब' बन गया है, इसका जन्मदाता हो; जगदम्बा दुर्गा की आराधना में स्त्रियों ने एक प्रकार का मंगलकारी 'गर्व' महसूस करके इस गर्व के प्रतीक-स्वरूप शायद शुरू में दीप-घट को यह नाम दिया हो।

उल्लास लौट आया है। इसे देखकर तो मुझे पंजाबी बुढ़िया का एक गीत याद आ रहा है—'तन पुराणा मन नमाँ, अक्खाँ ओही सुभा! मैं तैनूँ आखाँ जोबना वे इक वेर फेर आ!!' (तन पुराना है, मन नया है और आँखों का वही पहला स्वभाव क़ायम है! ओ यौवन, मैं तुमसे कहती हूं, एक बार फिर से आ जाओ ना!) ऊपर आकाश पर रात का वह दूल्हा—चाँद, गुजरात की इन बेटियों की ओर एकटक देख रहा है।

ऐसे दृश्य तो कई गलियों में मिलेंगे। वह देखिये, उस सामने के चौक मे भी तो बहुत रौनक है। तीस से ऊपर हम-उमर युवतियों ने गरबा रचा रखा है। सुन्दर वस्त्र। सुन्दर गहने। यह भाव-भङ्गी कौन सिखा गया इन्हें?

क्या कहा किसी घर में चलकर देखा जाय। ठीक। दूर काहे को जाना है। सुनते हैं बगल के बड़े घर में सेठानी ने व्रत रखा है; घर में जगदम्बा को स्थापित किया है, और उसने अपनी सखियों को निमंत्रित किया है। खूब रौनक है। अपने सर पर 'गरबो' घट उठाये सेठानी गरबे में शामिल हुई है। रात भर यह नृत्य जारी रहेगा। हमें इसे देखने की आज्ञा तो मिल ही गई है, यहीं डटेंगे। होने दो भोर।

सुनते हैं पहले-पहल गरबा गीतों में केवल इस अलबेली मैया का बखान ही रहता था। फिर धीरे-धीरे समस्त जीवन की भाव-धारा इन गीतों में समाती चली गई। यशोदा, कृष्ण, राधा और गोपियाँ भी अनेक गीतों में मौजूद हैं—

नंदजी के घेर नवलख दूजे
वलोणाँ नी वेणुँ वाजे रे लोल
माता यशोदा, तमारा कान्ह ने
महिड़ा वलोववा मेलो रे लोल
अमारा कान्ह तो पारणीये पोढ्या
महिड़ा नी वात शूँ जाने रे लोल
सात समदरियानी गोली रे कीधी
मेरू नो कीधो रवायो रे लोल
एक कोर कालो कान्हजी घुमावे
एक कोर राधा गोरी रे लोल
हाथे छे कांकणी ने वेढ झबूके वालो
लटके नेत्रां ताणे रे लोल
हलवा हलवा ताणो छबीला
नन्दवाश महिड़ां नी गोली रे लोल

नन्दवाशे गोली ने ऊजशे छाँटा
नवरंग चूँदड़ी भींजशे रे लोल
एटलुं कीधूँ ने कान्ह रिसाई चाल्या
जई वनरावन बसिया रे लोल
सोलसे गोपियों टोले वली ने
कान्ह ने मनावा चाली रे लोल
कान्ह रे कान्ह मारा भरवाण भाणेज
आवड़ले मत कोणे दीधी रे लोल
मननी कीधी ने कान्ह मन्दिर पधारिया
गोपियों महा सुख पामीं रे लोल

—'नन्दजी के घर में नौ लाख (गऊएँ) दूध देती हैं,
दही बिलोने की आवाज़ आ रही है।
यशोदा मैया!'—राधा कहती है—'अपने कृष्ण को
दही बिलोने को भेजो।'
'हमारा कृष्ण तो झूले में पड़ा है—
दही की बात वह क्या जानता है?'
सात समुद्रों की मटकी बना ली;
मेरू की मथानी बना ली।
नौ कुलों के साँपों की रस्सी बनाई;
चन्द्रमा का ढकना बना लिया।
एक छोर घुमाता है काला कृष्ण;
एक छोर घुमाती है राधा गोरी!
प्यारे के हाथ में कङ्कण है और उसकी अंगूठी चमकती है!
लटक सहित वह रस्सी खींच रहा है!
'धीरे-धीरे खींचो छबीले!
दही की मटकी टूट जायगी।
मटकी टूट जायगी छींटे उड़ेंगे;
मेरी नवरंग चुनरी भीग जायगी!'
इतना कहने से कृष्ण रूठकर चल पड़ा
जाकर वृन्दावन में बस गया!
सोलह सौ गोपियां जुटकर, मिलकर
कृष्ण को मनाने चली हैं!

'कृष्ण ! ओ रे कृष्ण ! ओ हमारे गोप के भानजे !
यह मति तुम्हें किसने दी है ?'
मान-मनौती करके कृष्ण लौट आया घर में ;
गोपियों ने महा सुख पाया !'

गीतों की यहाँ क्या कमी है। एक के बाद दूसरा, फिर और, फिर और, क्रम नहीं टूटता। हां, तो सुनिये पास का भाई जो हमारी तरह गरबा देखने आया है, कह रहा है कि इसी तरह आठ रातें और यह महफिल यहाँ लगा करेगी। लो, बताशे बांटे जा रहे हैं। यह तो बहुत गनीमत है। 'तो क्या हर रात बताशे बँटा करेंगे ?' 'जी हां ! हर रात।' इसे 'लहाणी' कहते हैं; और फिर यह जरूरी नहीं कि जिसके घर गरबा हो वही नौ की नौ रातें अपने घर से बताशे बांटे ; ऐसा भी होता है कि बाकी स्त्रियां में से जो यह भार अपने ऊपर ले सकें, 'लहाणी' बांटने में अपनी जेबों के पैसे खर्च करना पुण्य-कार्य समझती हैं। त्योहार के अन्तिम दिन, सुनते हैं, 'गरबो' घट पास की किसी नदी में या सरोवर में विसर्जन के लिए ले जाया जाता है—यह जगदम्बा का प्रतीक।

गाये जा, ओ गुजरात ! तेरे गीत सुन्दर हैं, मधुर भी, भावपूर्ण और चित्र-सुलभ भी। चिरंजीवी हो, तेरा गरबा--तेरा 'रासनृत्य'। और 'गरबा की ढोलक, जिसका स्थान शहरों में अन्य वाद्य यन्त्र ले रहे हैं, ज़रूर बजती रहे। शहर में हाथ की ताली का स्थान छोटे-छोटे डण्डों और मंजीर ने ले लिया है, पर लोक-नृत्य की वह मौलिक प्रेरणा—हाथ की ताली, बिल्कुल विलीन नहीं हो जानी चाहिये।

गरबा का वह विस्मृत प्रकार—वह 'गोफा', जिसमें बीच के खम्भे या इस मतलब के लिए गाड़े गये बाँस के ऊपर के सिरे से बँधी अनेक रस्सियां नीचे तक लटकती हैं, और प्रत्येक युवती एक-एक रस्सी पकड़कर घूमकर नाचती है ऐसा नृत्य आंध्र-देश में 'कोलाटम' नाम से बहुत लोकप्रिय है और यूरोप के 'मे पोल' की याद दिलाता है, फिर से ज़िन्दा किया जा रहा है, यह तो हमारे गर्व की बात है।

गरबा से मिलते-जुलते लोक-नृत्य देश के अन्य जनपदों में भी मिलते हैं। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने एक स्थान पर इसका उल्लेख किया है—"जो गरबा और बारहमासी हमारे गुजरात की विशेषता माने जाते हैं, वे थोड़े से हेर-फेर के साथ हरेक प्रांत के लोक-साहित्य में मिलते हैं। हम समझ बैठे हैं कि 'गरबा' नृत्यगीत का इजारा गुजरात की स्त्रियों ने ही ले रखा है। पर बात ऐसी नहीं है। शारंगधर ने प्रमाण दिया है कि पार्वती ने शंकर-भक्त

बाणासुर की लड़की उषा को 'लास्य नृत्य' सिखाया था और उसने सौराष्ट्र (गुजरात) की स्त्रियों को सिखाया। मगर अभी-अभी जब मैंने अपनी आंखों से देखा तब जाना कि आंध्र, तामिलनाड और केरल में भी ये असुर कन्यायें आकर रहीं थीं और वहाँ की स्त्रियों ने भी ऐसे ही गरबा—नृत्य गीत—हमारे जाने बिना सीख लिये थे। हमारा इजारा अटकल पच्चू था।"

: ३ :

काल की डिबिया में दुबके रह गये एक मल्लार-गीत की याद में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बहुमूल्य रेखा-चित्र प्रस्तुत किया है—

'याद आती है उस दुपहरिया की। क्षण-क्षण में वर्षा की धारा जब थकने लगती है, तो हवा के झोंके आकर फिर उसे उन्मत्त कर देते हैं।

[illegible]र में अँधेरा है, काम में मन नहीं लगता। बाजा हाथ में लिये वर्षा का गीत मल्लार सुर में गाने लगा।

'पास के घर से एक बार वह सिर्फ द्वार तक आई। फिर लौट गई। फिर एक बार बाहर आकर खड़ी हो गई। उसके बाद धीरे-धीरे वह भीतर जाकर बैठ गई। उसके हाथ में सीने का काम था, सिर झुकाकर सीने लगी। उसके बाद सीना छोड़कर खिड़की के बाहर धुँधले पेड़ों की ओर देखती रही।

'वर्षा थमने लगी, गीत भी थम गया। वह उठकर बाल बांधने चली गई।

'बस इतनी ही-सी बात है, और कुछ नहीं। वर्षा-गीत, फुरसत और अँधेरे से लिपटी हुई सिर्फ वही एक दुपहरिया।

'इतिहास में राजा-बादशाह और युद्ध-विग्रह की कहानियां बड़ी सस्ती हैं—मारी-मारी फिरती हैं। पर उस दुपहरिया की एक छोटी-सी बात का टुकड़ा दुर्लभ-रत्न की तरह काल की डिब्बी में दुबका ही रह गया—सिर्फ दो ही आदमी उसे जानते हैं।'

मल्लार के स्वर गुजराती लोक-मानस को छू-छू गये हैं। अनुभूति, कल्पना और चिन्तन ने वर्षा-गान को लाड़ लड़ाया है। स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण, प्रेम, यौवन तथा सौन्दर्य का छम-छम-छनाक, एक-एक करके हमारे सामने से गुज़रते हैं। भले ही इतिहास इनकी परवाह न करे, पर जनता की आत्मकथा में इन्हें यथायोग्य स्थान मिला है।

शत शत असम्बद्ध भाव, जो स्त्री-पुरुषों के मन में उठा करते हैं, श्रृङ्गारी चेष्टाओं में बँधकर, उनींदी आंखों से श्यामल मेघों में छिपे चन्द्रमा की ओर एकटक देखती आखों की भांति, एकता की परम्परागत स्मृति पा लेते हैं।

विशेष रूप से लोकगीत की दुनियां में हमें सौन्दर्य की अनेक सुरंगें लांघनी पड़ती हैं एक वर्षा गान में किसान जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया है, की झांकी मौजूद है। किसान अपनी पत्नी के सतीत्व की परीक्षा लेता है, जिसमें वह पूरी उतरती है—

क्यां रे गाज्यो ने क्यां वरसीयो रे
क्ये गाम भरीया तलाव, रे मेवाड़ा
ओतर गाज्यो न दखण बरसीयो रे
राणपुर भरीयाँ तलाव, रे मेवाड़ा
पादरड़ां खेतर खेड़ीयाँ रे
वावी धं लुड़ी जार, रे मेवाड़ा
त्रणे गोठीया तेवतेवड़ा रे
पोंक ते पाड़बा ने जाय, रे मेवाड़ा
पोंक पाड़ी ने खावा वेसीया रे
सांभरी घरड़ां नी नार, रे मेवाड़ा
त्रणे गोठीया तेव तेवड़ा रे
वड़ताल भाड़ा भरवा जाय, रे मेवाड़ा
भाई रे भाड़ाती वीरा वीनवूं रे
मुज ने धड़ुलो चड़ाव्य, रे मेवाड़ा
फाड़ज्य घड़ो ने कर कांछला रे
मारी वेल्ये बेठी आव, रे मेवाड़ा
घड़ो फोड़े तारी मावड़ी रे
वेल्य माँ वेसे तारी भेन, रे मेवाड़ा
भाड़ा भरी ने घेर आवीया रे
दादा ! बहु ने तेड़वा जाव, रे मेवाड़ा
धोला ने धमला जोड़िया रे
बहु ने तेड़ी घेरे आव्या, रे मेवाड़ा
डावा ते हाथ मां दीवड़ो रे
जमणा हाथ मां थाल, रे मेवाड़ा
रमझम करतां मेड़ीए चड़थां रे
दीठा दीधेलां, बार, रे मेवाड़ा
कां तों घोड़्यों ने धारण मेलियां रे
कां तो डस्यो कालो नाग, रे मेवाड़ा

नथी घोंट्यो ने धारण मेलीयाँ रे
नथी डस्यो कालो नाग, रे मेवाड़ा
वनरा ते वन ने मारगे रे
गोरी ! तारा बोलड़िया संभारच्य, रे मेवाड़ा
तमें ते वन ना मोरला रे
श्रमें छलकती ढेल्य, रे मेवाड़ा
तारी तलवारे त्रण फुमकां रे
तारी मूछे त्रण लींबु, रे मेवाड़ा

—'कहाँ गरजा है और कहाँ बरसा है, अजी ओ ?
किस ग्राम के तालाब भर दिये हैं मेंह ने, ओ मेवाड़ ?'
'उत्तर में गरजा है, दक्षिण में बरसा है, अजी ओ !
राणपुर के तालाब भर दिये हैं, ओ मेवाड़ !
ग्राम से सटे खेतों में जोताई हो चुकी है, अजी ओ !
वहाँ सफेद ज्वार बोई गई है, ओ मेवाड़ !
तीनों भाईबंद हैं बराबरवाले, अजी ओ !
ज्वार भुनाने जा रहे हैं वे, ओ मेवाड़ !
ज्वार भुनाकर खाने बैठे हैं वे, अजी ओ !
एक को अपने घर की नारी की याद आ गई है, ओ मेवाड़ !
तीनों भाई-बन्द हैं बराबरवाले अजी ओ ?
भाड़े का माल गाड़ी में भर वह बड़ताल की ओर चल पड़ा ओ मेवाड़ !
लम्बे कद की रूपवती नारी है, कमर पतली है उसकी, अजी ओ !
बिचली नारी का रंग कुछ-कुछ श्यामल है, ओ मेवाड़ !'
'ओ भाई ! भाड़े का माल ले जा रहे भाई !! मैं विनती करतो हूँ !
'मुझे यह घड़ा उठवा दो !' ओ मेवाड़ ! बिचली नारी बोली—
'घड़ा फोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दो ! अरी ओ !
मेरी बैलगाड़ी पर बैठकर मेरे साथ चलो !' ओ मेवाड़ !
'घड़ा फोड़े तेरी माँ, अरे ओ !
बैलगाड़ी पर बैठे तेरी बहन !' ओ मेवाड़ !
भाड़े का माल भरने से निपट कर पुरुष घर लौटा, और बोला—
'पितामह ! बहू को लाने जाइये !'—ओ मेवाड़ !
पितामह ने गाड़ी में सफेद और भूरा बैल जोत लिये, अजी ओ !—
बहू को लेकर वह घर लौटा, ओ मेवाड़ !

बहू के दाहिने हाथ में दीया है, अजी ओ !
बायें हाथ में है थाल, ओ मेवाड़ !
रमझम करती वह ऊपर की मंज़िल पर चढ़ गई, अजी ओ !
उसने देखा, द्वार बन्द है, ओ मेवाड़ !
'ऊँघ रहे हो क्या, या नींद में ग़ुलतान हो, अजी ओ !
या काले नाग ने डस लिया है क्या ?' ओ मेवाड़ !
'न मैं ऊँघ रहा हूँ, न नींद में गुलतान हूँ, अरी ओ !
न मुझे काले नाग ने ही डसा है !'—ओ मेवाड़ !
वृन्दावन के रास्ते में, अरी ओ !
मुझसे बोले बोल याद करो, ओ रूपवती !'—ओ मेवाड़ !
'तुम तो बन के मोर हो', अजी ओ !
लचक-लचक चलती मैं हूँ मोरनी !—ओ मेवाड़ !
तेरी तलवार पर तीन फुँदने लगे हैं, अजी ओ !
तेरी मूँछों पर तीन नीबू लटकते हैं, ओ मेवाड़ !'

अन्तिम पंक्तियों में नारी ने पुरुष की वीरता की बात कहकर उसे रिझाने का यत्न किया है। और गीत आगे नहीं बढ़ा। ज़रूर पुरुष ने द्वार खोल दिया होगा। अन्दाज़ से यह बात कही जा सकती है। मूँछ पर से नीबू लटकने की बात एक लोकोक्ति में भी मौजूद है—'अरे एणी मूँछ पर त लींबु लटके छ' ('अरे उसके मूंछ पर तो नीबू लटकता है'—अर्थात् वह जवाँमर्द है) ।

छमछम-छनाक—उसकी पायल को पुरातन पर चिर-नवीन भाषा ने अजब समाँ बाँध दिया होगा ! और वह दीया, जो उस नारी ने दाहने हाथ में पकड़ रखा था, उसकी गम्भीर मुद्रा पर एक लजीलो-सा प्रकाश डाल रहा होगा। कौन जाने वह अपने बायें हाथ में, थाल में परोसकर, क्या-क्या पकवान लाई थी ! गीत में जो बातें नहीं दी गईं, उन्हीं की ओर मन दौड़ता है। कैसी साड़ी पहने हुए होगी वह। जब वह द्वार बन्द पाकर, कह उठी थी—'लचक-लचक चलती, मैं हूँ मोरनी ?' हरी ज्वार-सा उसका व्यक्तित्व—उसी ज्वार-सा जो राणपुर में, जहाँ वह ब्याही गई है, सदियों से उगती आ रही है, द्वार खुलने की प्रतीक्षा में आखिर तक शान्त रहा था, या बीच-बीच में खीझ उठा था !

एक पंजाबी लोकगीत में इससे मिलता-जुलता चित्र मौजूद है। एक लड़की का पति ब्याह के बाद तुरन्त फ़ौज में भरती हो गया। कई साल गुज़र गये। लड़की अपने माँ-बाप के पास ही रही। फिर एक दिन वह सिपाही लौटा। ग्राम से बाहर ही दैवयोग से उसे वह लड़की मिल गई। अपने पति को वह पहचान

न पाई। पति ने उसकी परीक्षा लेनी चाही। गीत में नाटकीय ढंग से लोक-जीवन की यह कथा अमर हो गई—

रोड़े गोहे चुगेंदिये मुटियारे नी
कण्डा चुभ्भा तेरे पैर क पतलिये नारे नी
मेरे कण्डे दी तैनूँ की पई सिपाहिया वे
तूँ राहे राहे तुरिया जा भोलिया राहिया वे
कौन कढ्ढे तेरा कण्डड़ मुटियारे नी
कौन सहे तेरी पीड़ भोलिये नारे नी
भाबो कढ्ढे मेरा कण्ढड़ा सिपाहिया वे
वीर सहे मेरी पीड़ भुल्लिया राहिया वे
खूहे ते पानी भरेंदिये मुटियारे नी
घुट्टक पानी पिला भुल्लिये नारे नी
आपण कढ्ढिया न दियाँ सिपाहिया वे
लज्ज पई भर पी भुल्लिया राहिया वे
लज्ज तेरी नूँ घुँघरू मुटियारे नी
हथ्थ लाइयाँ भड़ जान पतलिबे नारे नी
साफे दी वारी कर लै लज्ज सिपाहिया वे
छित्तर बना लै डोल पतलिया राहिया वे
घड़ा ताँ तेरा भज्ज जाय तेरा मुटियारे नी
इन्नूँ ताँ रह जाय हथ्थ भोलिये नारे नी
नीला घोड़ा तेरा मर जाय सिपाहिया वे
चाबूक रह जाय हथ्थ भुल्लिया राहिया वे
घर जाही नूँ तैनूँ माँ मारे मुटियारे नी
तूँ पै जाँय साडड़े वस्स भोलिये नारे नी
रत्तड़े पीढ़े बैठिये तुम माये नी
सिर तों घड़ा लुहा रानिये मायेनी
घड़ा ताँ तेरा लुहा दियाँ सुन धीये नी
किथ्थों आई एँ तिरकालाँ पा रानिये धीयेना
लम्माँ ते भम्माँ गभ्भरू सुन माये नी
बैठा सी भगड़ा ला रानिये माये नी
गली दे परौहने सुन माये नी
देनीएँ पलंग डहा रानिये माये नी

मेरा आया जवात्रा, सुन धीये नी
तेरा सिर सरदार, रानीये धीयेनी
भर लै कटोरा दुद्ध दा, सुन धीये नी
लै चबारे जा, रानिये धीये नी
चढ़ चबारे सुत्तिया जी सिपाहिया जी
बूहे दा कुण्डड़ा खोल क असीं तेरे महरम हाँ
बूहे दा कुण्डड़ा न खोलाँ मुटियारे नी
तूँ ते खूहे दे बोल सम्हाल भोलिये नारे नी
निक्की हुन्दी व्याहियाँ जी सिपाहियाजी
रही न सुरत सम्हाल क असीं तेरे महरम हाँ
शाबाशे तेरी बुद्ध दे मुटियारे नी
धन्न जनेदड़ी माँ, भोलिये नारे नी
तेरियाँ सुखनाँ मैं दिया सिपाहिया जी
मेरियाँ वारी तेरी माँ क असीं तेरे महरम हाँ

—'कंकड़ीली, खुली ज़मीन पर से उपले चुन रही, ओ युवती !
तेरे पैर में काँटा चुभ गया है, ओ पतली नारी !'
मेरे काँटे का तुझे क्या पड़ी, ओ सिपाही !
तुम अपने रास्ते से चले जाओ, ओ भोले मुसाफ़िर !
कौन निकालेगा तेरा काँटा, ओ युवती ?
कौन सहेगा तेरी पीड़ा, ओ भोली नारी ?
भावज निकालेगी मेरा काँटा, ओ सिपाही !
भाई सहेगा मेरी पीड़ा, ओ गुमराह मुसाफ़िर !

× ×

कुयें पर से पानी भर रही ओ युवती !
एक घूँट पानी पिला, ओ गुमराह नारी !
अपना निकाला हुआ पानी मैं न दूँगी, ओ सिपाही !
लेजुर पड़ी है, डोल से भर कर पानी पी ले, ओ गुमराह मुसाफ़िर !
तेरी लेजुर को घुँघरू लगे हैं, ओ युवती !
हाथ लगाने से वे गिर पड़ते हैं, ओ पतली नारी !
पगड़ी की लेजुर बना लो, ओ सिपाही !
जूते का बना लो डोल, ओ पतले मुसाफ़िर !
घड़ा तो तेरा टूट जाय, ओ युवती !

ईंडरी तो आ रहे तुम्हारे हाथ में, ओ भोली नारी !
तेरा यह नीला घोड़ा मर जाय ओ सिपाही !
तेरा चाबुक हाथ में रह जाय, ओ गुमराह मुसाफ़िर !
घर जाने पर तुझे मा मारे, ओ युवती !
तुम मेरे वश में आ जाओ, ओ भोली नारी !

× × ×

लाल पीढ़े पर बैठी, ओ मा सुनो !
मेरे सिर पर से घड़ा उतरवा दो, ओ रानी मा !
घड़ा तो तेरा उतरवा देती हूँ, सुन, बेटी !
कहाँ से इतनी देर करके साँझ समय लौटो हो, ओ रानी बेटी ?
'लम्बा, बाँका एक नवयुवक था, सुन, ओ मा !
बैठा झगड़ रहा था मेरे साथ, ओ रानी मा !'
गली के मेहमान के लिए, सुन, ओ मा !
तुम घर में पलंग डलवा दिया करती हो, ओ रानी मा !
मेरा दामाद आया है, सुन, ओ बेटी !
तेरे सिर पर का सरदार ! ओ रानी बेटी !
दूध का कटोरा भर ले, सुन, ओ बेटी !
उसे लेकर ऊपर चौबारे में अतिथि के पास जाओ, ओ रानी बेटी !

× × ×

चौबारे पर चढ़कर सो रहे अजी ओ सिपाही !
द्वार का कुण्डा खोलो, मैं तुम्हें जानती हूँ !
द्वार का कुण्डा मैं न खोलूँगा, ओ युवती !
अपने कुएँ वाले शब्द सँभाल, ओ भोली नारी !'
छोटी उमर में विवाह हुआ था मेरा, अजी ओ सिपाही !
जान-पहचान न रही थी अब मैं तुम्हें जानती हूँ !
शाबाश ! तेरी यह बुद्धि ! ओ युवती !
धन्य है तुझे जन्म देनेवाली मा, ओ भोली नारी !'
तुम्हारे लिए मैं मनौती मानती हूँ, अजी ओ सिपाही !

वह सिपाही इस बीच में घर पहुँच चुका था। उसे देखकर युवती और भी आगबगूला हो गई। ऐसा मुसाफिर जो भले घर की बेटी से यों झगड़ा मोल लेता फिरे, यों आतिथ्य पाये, यह देखकर उसे बेहद हैरानी होती है।

मेरे लिए मनौती मानती है तुम्हारी माँ, मैं कुर्बान जाऊँ, मैं तुम्हें जानती हूँ !'

प्रान्त-प्रान्त में, लोकगीतों की यह आपसदारी हिन्दुस्तानी संस्कृति की एकता का एक ज़बरदस्त प्रमाण है। अनेक क्षुद्रताओं के बीचों-बीच लोक-जीवन का रचनात्मक सौंदर्य हज़ारों वर्षों से इन गीतों में नाना रंग भरता रहा है। भाषायें बदलती रही हैं; भाषा का चोला बदल-बदल कर भी लोकगीत ने अपनी पुरातन पुकार कायम रखी है। और आज जब अलग-अलग प्रान्तों की विकासोन्मुख क्रियाशील प्रतिभा—आदान-प्रदान के लिए उत्सुक रचना-शक्ति, हमारी जाग रही राष्ट्रीयता का आलिंगन करती नज़र आ रही है, लोकगीत का यह अध्ययन एक विशेष महत्व रखता है।

स्थानीय रंग का अन्तर तो है ही। और इसकी दिलचस्पी लोकगीत के विद्यार्थी के लिए कुछ कम विशेषता नहीं रखती। गुजराती गीत में हम राणपुर के लबालब भरे तालाब देखकर जब ग्राम से सटे हुए ज्वार के खेतों में पहुंचते हैं, मल्लार के स्वरों में बसो कहानी सुनने के लिए हमारी उत्सुकता बढ़ जाती है। भुनी ज्वार खा रहे तीन मित्रों में से एक को मायके गई पत्नी की याद आ जाती है—यह चित्र आज भी अपनी पुरानी ताज़गी लोक-जीवन में बनाये हुए है।

पंजाबी गीत में सिपाही को अपनी पत्नी की प्रशंसा करते सुनकर, हम यह सोचते हैं कि गुजराती नारी के लिए भी उसके पति ने द्वार खोल दिया होगा अपना अन्दाज़ ठीक हो तो प्रतीत होता है।

'क्या तुम लेखक बनना चाहते हो ?' एक रूसी लेखक का कथन है, 'अपने जन-साधारण की चिर-संचित वेदनाओं का इतिहास पढ़ो। यदि इस इतिहास को पढ़ते समय तुम्हारे हृदय से लहू न टपक पड़े तो कलम फेंक दो।' इन शब्दों में मर्म-भरी आवाज़ व्यापक हो उठी है। दुःख-गीत, जो जनता की वेदना से भरे पड़े हैं—जिनके पात्र व्यक्ति नहीं, बल्कि जिनके भीतर से देश का दिल रो उठा है, शताब्दियों से बहते चले आ रहे हैं। आँसू, दिल के लहू में से जन्मे क़तरे (जैसा कि ग़ालिब का कथन है—'रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं क़ायल, जो आँख से ही न टपका तो फिर लहू क्या है ?') लोकगीत की विशेष वस्तु हैं।

पारिवारिक दुःख के गीत जाने कब से जन्म लेते आ रहे हैं। इनकी कहीं भी कमी नहीं। जापान में एक ऐसा स्थान देखकर, जहाँ दो सिपाही आपस में लड़ मरे थे, विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक सुन्दर, नन्हीं कविता लिखी थी—'दो भाई क्रोध में आकर मनुष्यता को भूल गये। और उन्होंने धरती माता

के वक्षःस्थल पर एक दूसरे का रक्त बहाया। प्रकृति ने यह देखकर ओस के रूप में अपने आंसू बहाये और मनुष्य जाति की इस चिर-रंजित हत्या को हरी-हरी दूब से ढांक दिया!' गुजराती दुलहिन का गीत—उस लड़की का गीत जिसे अपने पति के हाथों ज़हर पीकर प्राण देने पड़े थे और वह भी बिना किसी बड़े कसूर के ही, स्वयं जनता की प्रतिभा के करुण स्पर्श से जाग उठा था एक दिन; इसमें जो कहानी मौजूद है, वह लोक-जीवन की कोख से जन्मी है। ननद क्या है बारूद की पुड़िया ही तो है। पहले-पहल वह दुलहिन के खिलाफ कार्रवाई शुरू करती है। दुलहिन की बुझी चिता गुजराती लोक मानस के मसान में अपनी रुपहली राख आज भी बराबर संभाले हुए है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही लिखा है—'संसार को एक काव्य के रूप में देखें तो मृत्यु ही मुख्य रस प्रतीत होगी...संसार की असीमता भी इसी मृत्यु पर आश्रित है...आदमी की सारी कविता, सारा संगीत, सारा धर्म-तत्व, सारी अतृप्त वासना सागर-पार के पक्षी की तरह घोंसले की तलाश में उड़ती रहती है।'

अब वह गुजराती गीत लीजिए—

गाम मां सासरूँ गाम मां पियरिऊँ रे लोल
दीकरी कर जो सुख दुख नी वात जो
कवलां सासरियां मां जीवबूँ रे लोल
सुख ना वारा ते माड़ी वही गया रे लोल
दुख ना उग्यां छे भाड़ां भाड़ जो
कवलां सासरियां मां जीववूँ रे लोल
पछावड़े ऊभी नणदी सांभले रे लोल
बहू करेछे आपणा घरनी वात जो
बहुए वगोव्यां मोटां खोरड़ां रे लोल
नणदीए जई सासु ने सम्भलाव्यूँ रे लोल
बहु करेछे आपणा घरनी वात जो
बहुए वगोव्यां मोटां खोरड़ां रे लोल
सासुए जई ससरा ने सम्भलाव्यूँ रे लोल
बहू करेछे आपणा घर नी बात जो
ससरा ए जई जेठ ने सम्भलाव्यूँ रे लोल
बहू करेछे आपणा घर नी वात जो
बहुए वगोव्यां मोटां खोरड़ां रे लोल

जेठे जई परण्यां ने सम्भलाव्यूँ रे लोल
बहू करेछे आपणा घर नी बात जो
बहुए वगोव्यां मोटाँ खोरड़ाँ रे लोल
परण्ये जई तेजी घोड़ो छोड़्यो रे लोल
जई उभाड़्यो गाँधीड़ा ने हाट जो
बहुए वगोव्याँ मोटां खोरड़ां रे लोल
अध शेर आहल्याँ तोलाव्यां रे लोल
पा शेर तोलाव्यो सोमलखार जो
बहुए वगोव्याँ मोटां खोरड़ां रे लोल
सोनला वाटकड़े अमल घोलियाँ रे लोल
पियो गोरी नकर हूँ पी जाऊँ जो
गटक दईने गोराँदे पी गयाँ रे लोल
घरचोकाँ नी ठाँसी एणें सोड़ जो
बहुए वगोव्याँ मोटां खोरड़ां रे लोल
आठ काठ ना लाकड़ाँ मंगाव्याँ रे लोल
खोखरी हांडली माँ लीधी आग जो
बहुए वगोव्याँ मोटाँ खोरड़ाँ रे लोल
पहेलो विसामो घरने ऊम्बरे रे लोल
बीजो विसामो भाँपा बहार जो
बहुए वगोव्याँ मोटाँ खोरड़ाँ रे लोल
त्रीजो विसामों गाम ने गोंदरे रे लोल
चौथो विसामों समशान जो
बहुए वगोव्यां मोटां खोरड़ां रे लोल
सोनला सरखी बहू नी चेह बले रे लोल
रूपला सरखो बहू नी राख जो
बहुए वगोव्यां मोटां खोरड़ां रे लोल
बाली भाली ने जीवड़ो घरे आव्यो रे लोल
हवे माड़ी मन्दिरिए मोकलाण जो
भवनो ओशियालो हवे हूँ रह्यो रे लोल
बहुए वगोव्यां मोटां खोरड़ां रे लोल

—'जिस ग्राम में कन्या की ससुराल है उसी ग्राम में नैहर है—
बेटी, अपने सुख दुःख की बात बताओ,

बेलिहाज़ ससुराल में जीना दूभर है !
सुख के दिन तो, ओ मां, बीत गये !
दुःख के छोटे झाड़ उगे हैं !
बेलिहाज़ ससुराल में जीना दूभर है !
पिछवाड़े में खड़ी ननद छिपकर सुन रही है—
दुलहिन अपनी ससुराल की बात कर रही है,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
ननद ने जाकर दुलहिन की सास को ख़बर कर दी—
दुलहिन अपनी ससुराल की बात कर रही है !
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
सास ने जाकर ससुर को ख़बर कर दी—
दुलहिन अपनी ससुराल की बात कर रही है,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
ससुर ने जाकर दुलहिन के जेठ को ख़बर कर दी—
दुलहिन अपनी ससुराल की बात कर रही है,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
जेठ ने जाकर पति को ख़बर कर दी—
दुलहिन अपनी ससुराल की बात कर रही है'
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
पति जाकर तेज़ घोड़े पर चढ़कर चल पड़ा,
जाकर पनसारी की दुकान पर उसने घोड़ा खड़ा किथा,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
आध सेर नशा तुलवाया उसने,
पाव भर तुलवाया सोमलखार ज़हर,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
घर आकर सोने की बाटी में ज़हरीला नशा घोला पति ने,
इसे पी लो, ओ रूपवती, नहीं तो मैं पी जाता हूँ इसे,
दुलहिम ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
गट्ट से रूपवती नारी उस ज़हरीले नशे को पी गई,
'घरचोलु' अंगिया पहनकर वह सो गई,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
पति ने 'आठ काठ' की लकड़ी मँगवाई,

टूटी हाँडी में आग ली,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
लाश उठाने वालों ने पहला विश्राम लिया है घर की देहली पर,
दूसरा विश्राम लिया द्वार के बाहर,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
तीसरा विश्राम लिया ग्राम की सीमा पर,
चौथा विश्राम लिया श्मशान में,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
सोने सरीखी जल रही है दुलहिन की चिता,
चाँदी सरीखी बजती जा रही है दुलहिन की राख,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
दुलहिन को भस्मीभूत करके पति घर आया,
अब तो, ओ मा, घर तुम्हारे लिए चौड़ा हो गया है,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !
अब तो, ओ मा, इस घर में दौड़ो, मँडराओ,
जन्म-भर के लिए आश्रय ताकनेवाला हो गया हूँ अब मैं तो,
दुलहिन ने लांछन लगाया है एक बड़े घराने को रे !'

'घरचोलू' अंगिया, जिसे पहनकर दुलहिन हमेशा की नींद सो गई, अपने पीछे एक लोक-विश्वास लिये हुए है। गाँव वालों का विचार है कि इसे मृत्यु से पहले पहन लेने से नारी अगले जन्म में भी पूर्वजन्म के पति से ब्याही जाती है।

मरने से पहले घरचोलू अँगिया पहनकर दुलहिन ने अपने पति के प्रति—उस पुरुष के प्रति जिसने उसे ज़हर पिलाया, एक बेजोड़ आस्था का परिचय दिया है पारिवारिक जीवन में कभी-कभी एक छोटी-सी बात को लेकर किस प्रकार एक बड़ा बखेड़ा उठ खड़ा होता है, उसी का इस दुःखान्त गीत में एक ज़बरदस्त चित्र खींचा गया है। दुलहिन जब न रही, तब पति को अपनी मूर्खता का पता चला। तब वह मन ही मन पछताया। 'अब तो, ओ मा, यह घर तुम्हारे लिए चौड़ा हो गया है!'''अब तो, ओ मा, इस घर में तुम दौड़ो, मँडराओ !'—उसके इन शब्दों में करुण रस छलका पड़ता है।

गुजराती के एक दूसरे लोकगीत में जीवन की एक और दुःखान्त गाथा प्रस्तुत की गई है। बारह साल बाद एक राजपूत सिपाही घर लौटा है। रात का समय है। महल में, जहाँ वह फौज में भरती होने से पहले सोया करता था, पहले की

तरह दीया जल रहा है। मा से मिलकर वह ऊपर जाता है। पत्नी से मिलने के लिए उसके दिल में प्रेम की एक बाढ़-सी ही तो आई हुई है। लो, वह ऊपर भी नहीं मिली। सिपाही फिर नीचे आता है। मा से पूछ-ताछ करता है। मा एक-एक करके कई स्थान बताती है। अभी लौटेगी वह, मा कहती है। हर जगह जाकर सिपाही अपनी जीवन-सखी की ढूँढ़-भाल करता है। पर वह कहां मिल सकती हैं? उसे तो सिपाही की मा मौत के घाट उतार चुकी है। आखिर घर में से उसने अपनी पत्नी की लहू-लुहान साड़ी ढूँढ़ निकाली। महल में अब भी दीया जल रहा है। फिर सिपाही अपनी पत्नी के वस्त्र और आभूषण निकाल-निकाल कर देखता जाता है। उनका कोरापन, जो नारी के बारह साल लम्बे शृंगारहीन वियोग की करुण गाथा का परिचायक है, सिपाही की वेदना को हमारे हृदय के समीप ले आता है।

श्री झवेरचन्द मेघाणी ने यह गीत 'नो दीठी' (नहीं देखी) शीर्षक से प्रकाशित किया था। गुजराती लोक-मानस की यह कृति एक बेजोड़ अभि-व्यक्ति है—

माड़ी बार-बार बरसे आवियो
माड़ी नो दीठी पातली परमार्‌थ रे जाड़ेजी मा
मोलूँ माँ दियो शग बले रे
दीकरा हेठो वेसीने हथियार छोड़्‌य रे कलइया कुँवर
पानी भरी हमणां आवशे रे
माड़ी कुवा ने वाव्यूँ जोई लव्यो रे
माड़ी नो दीठी पातली परमार्‌य रे जाड़ेजी मा
मोलूँ माँ दियो शग बले रे
दीकरा हेठो वेसीने हथियार छोड़्‌य रे कलइया कुँवर
दलणां दली हमणां आवेश रे
माड़ी घंटियों ने रथड़ा जोई वलव्यो रे
माड़ी नो दीठी पातली परमार्‌य रे जाड़ेजी मा
मोलूँ माँ दियो शग वले रे
दीकरा हेठो वेसीने हथियार छोड़्‌य रे कलइया कुँवर
धान खांड़ी ने हमणां आवशे रे
माड़ी खारणीया-खारणीया जोई वलव्यो रे
माड़ी नो दीठी पातली परमार्‌य रे जाड़ेजी मा
मोलूँ माँ दियो शग बले रे

दीकरा हेठी बेसीने हथियार छोड़न्य रे कलइया कुँवर
धोणूँ धोई ने हमणां आवशे रे
माड़ी नदियों ने नेरां जोई बलन्यो रे
माड़ी नो दीठी पातली परमारन्य रे जाड़ेजी मा
मोलूँ माँ दियो शग वले रे
एनां बचका मां कोरा बांधनी रे
एनी बांधनी देखी ने बावो धाउ रे गोंजारण मा
मोलूँ मां आम्बो मोड़ियो रे
एना बचका मां कोरी टीलड़ी रे
एनी टीलड़ी ताणी ने तरसूल ताणूं रे गोजारण मा
मोलूँ मा आम्बो मोड़ियो रे

—'ओ मा, बारह वर्षों के बाद आया हूँ मैं !
ओ मा, कहीं नज़र नहीं पड़ी वह पतली परमार कन्या
ओ 'जाड़ेजा' नारी—मेरी मा,
महल में दीये की बत्ती जल रही है !
बेटा, नीचे बैठो, हथियार उतारो, ओ प्रतापी कुँवर,
पानी भरकर अभी आयगी वह !
ओ मा, कुएँ और बावलियाँ देख आया हूँ,
ओ मा, कहीं नज़र नहीं पड़ी वह पतली परमार कन्या,
ओ 'जाड़ेजा' नारी - मेरी मा, !
महल में दिये की बत्ती जल रही है !
बेटा, नीचे बैठो, हथियार उतारो, ओ प्रतापी कुँवर,
पीसन पीसकर अभी आ जायगी वह !'
ओ मा, चक्कियाँ और रथड़े[1] देख आया हूँ –
ओ मा, कहीं नज़र नहीं आई वह पतली परमार कन्या,
ओ 'जाड़ेजा' नारी—मेरी मा,
महल में दीये की बत्ती जल रही है !
बेटा, नीचे बैठो, हथियार उतारो, ओ प्रतापी कुँवर,
धान कूटकर अभी आ जायगी वह !

[1] रथड़ा=बैल या भैंसे द्वारा चलाया जाने वाला बड़ा जाँता, जो पंजाब में 'खरास' कहलाता है ।

ओ मा, सब ओखलियाँ देख आया हूँ,
ओ मा, कहीं नज़र नहीं पड़ी वह पतली परमार कन्या,
ओ 'जाड़ेजा' नारी—मेरी माँ,
महल में दिये की बत्ती जल रही है,
बेटा, नीचे बैठो, हथियार उतारो, ओ प्रतापी कुँवर,
कपड़े धोकर अभी आ जायगी वह !
ओ मा, नदियाँ और नहरें देख आया हूँ,
ओ मा, कहीं नज़र नहीं पड़ी वह पतली परमार कन्या,
ओ 'जाड़ेजा' नारी मेरी मा,
महल में दीये की बत्ती जल रही है !
इस बकुचे में कोरी साड़ी पड़ी है अजी ओ,
इस साड़ी को देखकर जी में तो आता है कि साधु
बन जाऊँ, ओ हत्यारी मा,
महल में आम का वृक्ष सुखा डाला गया !
इस बकुचे में माथे
कोरी 'टीलड़ी' पड़ी है रे,
इस टीलड़ी को खींचकर त्रिशूल खींचलूँ[1], ओ हत्यारी मा !
महल में आम का वृक्ष सुखा डाला गया !'

गीत के अन्तिम भाग में आय 'बाँधणी' शब्द का अनुवाद 'साड़ी' किया गया है। कुछ लोग इसे चुनरी भी कहेंगे। वस्तुतः 'बाँधणी' एक विशेषण है—बाँध-बाँध कर रँगी हुई।

इस गीत के सम्बन्ध में श्री रमणीक कृष्णलाल मेहता लिखते हैं—"बारह बरस के बाद घर आने वाला सिपाही घर में अपनी स्त्री को ढूँढता है। किन्तु उस सुकुमारी का कुछ पता ही नहीं चलता। पापिष्ठा माता ने उसकी हत्या करके उसकी रक्त-रंजित चुनरी छप्पर पर फेंक रखी थी। सिपाही अब तक अपने प्रेम को दबाये हुए था। अब उसके प्रेम ने उग्र-रूप धारण करके सब लज्जा को छोड़ दिया। वह अपने को काबू में न रख सका। माता ने अनेक झूठी बातें गढ़ीं। किन्तु पुत्र हथियार किस तरह छोड़े ? नदी-नाले सब कहीं वह पत्नी को ढूँढ चुका था। किन्तु कहीं भी वह दीख नहीं पड़ी थी। अन्त में छप्पर पर रखी हुई चुनरी से भेद खुल जाता है। उस समय की उसकी वेदना को आज का

१ अपनी हत्या करलूँ।

कवि किस तरह व्यक्त कर सकता है? उसके हृदय से कितने निःश्वास और उद्‌गार निकल पड़े। आज का कवि तो लम्बा-चौड़ा विलाप लिखकर उसमें रति-क्रीड़ा की अश्लील पुट दे देता, जिससे करुण रस का घात हो जाता है। किन्तु इस गीत में उस वेदना को शब्द देने वाली अवश्य कोई स्त्री होगी। वह जानती होगी कि प्रिया की मृत्यु होने पर सच्चे प्रेमी के हृदय में कैसी चोट लगती है। मरनेवाली के वस्त्र देखने के लिए पति लालायित हो उठता है। वस्त्र देखकर विरह-वेदना और भी भड़क उठती है। वह पत्नी की गठरी खोलता है कि शायद उसमें कोई चिट्ठी-पत्री हो। कृशाङ्गी पत्नी की गठरी में क्या था? कागज़ का एक भी टुकड़ा न था। केवल एक बिलकुल कोरी टीलडी और चुनरी थी। जितने प्रेम को वे दिखला रही थीं उतना प्रेम असंख्य पत्र भी नहीं दिखला सकते। ग्राम-गीत की रचियता ने एक 'कोरी' शब्द में ही बारह वर्ष तक धारण किये हुए उस शृंगारहीन शीलव्रत का और वियोग-वेदना का प्रमाण दे दिया है। सुकुमार पत्नी किसके लिए शृंगार करती? स्त्रियों का वस्त्राभूषण तो सौभाग्य-चिह्न है, उपभोग की वस्तुएँ नहीं। उन चिह्नों ने अपनी मूकवाणी में सब कुछ कह दिया। और इस वाणी को समझने वाले पति ने उसे समझ भी लिया।"[1]

गुजराती लोकगीत के महल में दीये की बत्ती आज भी जल रही है। यह दीया कभी बुझने का नहीं। आज भी वह सिपाही, जिसकी सुन्दर पत्नी को उसकी माता ने जीवन के उस पार मृत्यु के प्रदेश भेज दिया है, इस दीये की धीमी ज्योति में पत्नी की कोरी साड़ी और टीलड़ी की ओर निहार रहा है। और सिपाही की माता? वह भी पास खड़ी, पाप से भयभीत, समीप आ रही मृत्यु को देख रही है। पतझड़ की झुलसी पत्ती-सी, वह क्या सोच रही है? अब वह किस मुँह से क्षमा माँगे?

इस लड़ी का एक गीत जिला अम्बाला की स्त्रियों को भी याद है, जिसे वे 'तीज' के झूले झूलती न जाने कब से गाती चली आ रही हैं। गीत की भाषा से कहीं अधिक पुरानी होगी लोक-जीवन की यह करुण गाथा जो प्रान्त-प्रान्त के नारी-हृदय को छूती रही है।

दुलहिन सास के पास रहती है। सास सौतेली है। दुलहिन का पति परदेस में है। एक तो वियोग की वेदना, दूसरे सास का बुरा व्यवहार। इसी कष्ट में कई वर्ष बीत गये। दुलहिन को न अच्छा खाने को मिला, न पहनने को।

२ 'युगान्तर' (लाहौर) में, सन् १९१४ में प्रकाशित, 'गुजराती ग्राम-गीत'।

हाँ, सास की डाँट डपट में कभी नागा न पड़ा। फिर एक दिन परदेसी पति के लौटने का समाचार मिलता है उसके आने से पहले ही सास ज़हरीला पकवान खिलाकर दुलहिन को मौत की नींद सुला देती है। सौतेली सास न लड़के को चाहती है न दुलहिन को—

और दिनों तो सूखी सी टिकिया
आज क्यों दी सास खीर की थाली री
पहले तो बहू तेरी कटी अकेले
आज घर आये तेरा बालम री
और दिनों तो खट्टी सी लस्सी
आज क्यों दिया दूध कटोरा री
पहले तो बहू थी मेरी अयानी
अब होई तू किसी जोगी री
और दिनों तो टूटी सी खटिया
आज दिया, सास, लाल पलंग री
अम्मा भी देखी बहनें भी देखीं
एक न देखी मैंने सजनों की धी री
ऊँची अटारी लाल किवाड़ी
वहाँ चढ़ सोई सजनों की धी री
मैंने पुकारा बाँह भी हिलाई
फिर भी न बोली सजनों की धी री

—'और सब दिन तो मुझे सूखी, रोटी मिलती रही।
आज क्यों दी है, ओ सास, यह खीर की थाली?
पहले तो, ओ दुलहिन, तू वियोगिन थी,
आज तेरा बालम घर आयगा री!
और सब दिन तो मुझे खट्टी छाछ मिलती रही है
आज क्यों दिया है यह दूध भरा कटोरा?
पहले तो मेरी दुलहिन छोटी आयु की थी,
अब तो तू किसी के योग्य हो गई है
और सब दिन तो टूटी खाट मिलती रही
आज, ओ सास, मुझे लाल पलंग दिया है!
मैंने मा को भी देखा, बहिनों को भी देखा,
एक सास-सुसर की बेटी ही नहीं देखी!

ऊँची अटारी है, उसमें लाल किवाड़ लगे हैं,
वहां चढ़ कर सोई है तेरे सास-ससुर की बेटी !'
उसे पुकारा मैंने, उसकी बाँह भी हिलाई
फिर भी नहीं बोली वह सास ससुर की बेटी !'[1]

एक राजस्थानी लोकगीत[2] में भी इस घटना का एक अपूर्ण-सा चित्र अंकित है। यह गीत 'पपइयो' (पपीहा) शीर्षक से विख्यात हुआ है। नारी-हृदय की वह वाणी जो रौंदे हुए फूल-से हृदय में मृत्यु का धक्का लगने से उत्पन्न होती है, हमें बुलाती है, खींचती है--

माय काली रे कालायण ऊमड़ी
माय गुडल सा बरसै मेह
पपइयो बोल्यो हरियाले खेत में
माय भर रे नाडा भर नाडिया
माय भरियो रे भीम तलाव
पपइयो बोल्यो खाबड़ रे खेत में
माय म्हे ही ने सिधावाँ चाकरी
माय घर री तोय भलवाण
पपइयो बोल्यो हरियाले खेत में
बेटा किता रे वरसाँ री चाकरी
बेटा किता रे वरसाँ रो कोल?
पपइयो बोल्यो खाबड़ के खेत में
माय बारा रे वरसाँ री चाकरी
माय तेरा रे वरसाँ रो कोल
पपइयो बोल्यो खाबड़ रे खेत में

१ लड़का जाकर देखता है एक करुण दृश्य। दुलहिन के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे।

२ देखें 'राजस्थान के लोकगीत', ठाकुर रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी, १९३८, पृष्ठ ४४०—४२ : 'यह गीत अधूरा लगता है। माता का टालमटोल करके बहाने बनाना अन्वेषक प्रेमी और पाठकों के हृदय में आशंका तो पैदा कर देता है, पर परिणाम संदिग्ध रहता है। यह सन्देह गीत में एक असह्य बेचैनी पैदा कर देता है। भाव का बादल उमड़कर झुका रहता है—बरसता नहीं।'

माय खट रे कमाय घर आविया
माय किथी ए सैणां री धीव
पपइयो बोल्यो खाबड़ रे खेत में
बेटा ईंधन-पाणी बहू गई
बेटा छोटोड़ो देवरियो साथ
पपइयो बोल्यो खाबड़ रे खेत में
माय जल-थल सब मैं ढूँढ़िया
माय नहीं रे सैणाँ री धीव
पपइयो बोल्यो खाबड़ रे खेत में
बेटा घटी रे पीसण बहू गई
बेटा छोटोड़ी नणदल साथ
पपइयो बोल्यो खाबड़ रे खेत में
माय घर घर घट्टी मैं जोई
माय नहीं रे सैणाँ री धीव
पपइयो बोल्यो खाबड़ रे खेत में

—'ओ मा, काली घटा उमड़ आई है,
ओ मा, गहरा, घना मेंह बरसता है,
पपीहा बोल उठा हरियाले खेत में !
ओ मा, तालाब भर रहे हैं,
ओ मा, भीम तालाब भर गया है,
पपीहा बोल उठा खाबड़ के खेत में !
ओ मा, मैं तो जाऊँगा चाकरी पर,
ओ माँ, घर तुम्हारे अधिकार में रहेगा,
पपीहा बोल उठा हरियाले खेत में !
बेटा, कितने वर्षों की चाकरी करने जाओगे ?
बेटा, कितने वर्षों का क़ौल करोगे ?
पपीहा बोल उठा खाबड़ के खेत में !
ओ मा, बारह वर्षों की नौकरी पर जाऊँगा मैं,
ओ मा, तेरह वर्षों का क़ौल करके जाऊँगा
पपीहा बोल उठा खाबड़ के खेत में !
ओ मा, खट-कमा कर मैं घर आया हूँ
ओ मा, कहाँ है सजनों की बेटी ?

पपीहा बोल उठा खाबड़ के खेत में ।
बेटा, ईंधन और पानी लाने गई है दुलहिन,
बेटा ! छोटा देवर उनके साथ है --
पपीहा बोल उठा 'खाबड़' के खेत में ।'
ओ मा, जल-थल तो मैं सब ढूँढ़ आया,
ओ मा, कहीं नहीं है सज्जनों की बेटी,
पपीहा बोल उठा खाबड़ के खेत में !
बेटा, चक्की पीसने गई है दुलहिन.
बेटा, छोटी ननद साथ में है,
पपीहा बोल उठा खाबड़ के खेत में !
ओ मा, घर-घर चक्की देख आया मैं,
ओ माँ, कहीं नहीं है सज्जनों की बेटी,
पपीहा बोल उठा खाबड़ के खेत में !'

दुःखान्त गीतों में देश की वेदना आज भी प्रतिध्वनित हो रही है, प्रान्त-प्रान्त में गले मिल रही है । अम्बाला ज़िले के तथा राजस्थान के दोनों गीतों का गुजरात के 'नो दीठो' गीत के साथ यह सम्मिलन लोक-मानस की एकता का प्रतीक है ।

हर रोज़ यह लड़की मस्त हिरनी की तरह नाच-नाच कर खेला करती थी । आज वह जाने सुस्त क्यों है । उसका चेहरा क्यों उतर रहा है ? आंखों में आँसू क्यों उमड़ आये हैं ? यहीं से एक गुजराती विवाह-गीत उभरता है—

एक ते राज द्वारिका मां रमतां
बेनी बा दादे ते हसी ने बोलावीयां
कां कां रे धेड़ो तमारी देहज दूबली
आंखलड़ी रे जले भरी
नथी नथी रे दादा देहज मारी दूबली
नथी रे आँखलड़ी जले भरी
एक ऊँचो ते वर नो जोशो रे दादा
ऊँचो ते नत्य नेवां भांगशे
एक नीचो ते वर नो जोशो रे दादा
नीचो ते नत्य ठेवे आवशे
एक धोलो ते वर नो जोशो रे दादा
धोलो ते आप बखाणशे

एक कालो ते वर नो जोशो रे दादा
कालो ते कुटुम्ब लजावशे
एक कहेड़े पातलीयो ने मुखरे शामलीयो
ते मारी सैयरे बखाणीयो
एक पाणी भरती ते पाणीयारीए वखाण्यो
भलो रे बखाण्यो मारी भाभीए

—'एक दिन द्वारिका में खेलती हुई
लाड़ली बेटी को दादाजी ने हँसकर बुलाया—
क्यों, बेटी, तेरी देह दुबली क्यों हो रही है ?
आंखें क्यों जल-भरी हैं ?
नहीं, दादा, मेरी देह दुबली नहीं है,
न मेरी आंखें ही हैं जल-भरी—
कोई ऊंचा वर न देखना, दादा,
ऊंचा वर तो छप्पर का सिरा तोड़ डाला करेगा।
एक नीचा वर न देखना, दादा,
नीचा वर तो सदैव ठुकराया जायगा।
कोई गोरा वर न देखना, दादा,
गोरा वर तो अपने ही रूप का बखान करेगा।
कोई काला वर न देखना, दादा,
काला वर तो कुटुम्ब भर को लज्जित करेगा।
उसकी कमर है पतली और मुख श्याम,
मेरी सहेलियों ने उसका बखान किया है,
पानी भरती पनिहारिन ने उसका बखान किया है,
मेरी भाभी ने भी उसे बहुत सराहा है।'

पनघट पर एक पतली कमर वाले और सांवले रंग के युवक को देखकर कन्या ने झट अपनी आंखें अपनी सहेलियों की ओर मोड़ ली होंगी और यह देखकर कि वे सब उसका मन टोहकर खुश हो रही हैं, वह कुछ-कुछ लजा-सी गई होगी। सहेलियों में उसकी भाभी भी थी। वह भी जान गई कि उसकी ननद ऐसा वर पाकर फूली न समायेगी। दादा के सम्मुख वह शायद यों अपने मन का भाव मुँह पर न लाती। पर जब दादा ने स्वयं पूछ लिया तो उसने बतलाया कि उसे न ऊँचा वर पसन्द है, न नीचा, न गोरा, न काला। यों लगता है कि एक युवक, जो न बहुत ऊँचा है न नीचा, उसे भा गया है। इस

चुनाव में उसकी सखियों और भाभी की राय भी शामिल है। पर कन्या की बात सुनकर दादा कुछ बोला क्यों नहीं--

एकाएकी मेरे आंखें उस चित्र की ओर मुड़ती हैं जो एक राजस्थानी विवाह-गीत में मौजूद है :

काची दाख हेठ बनड़ी
पान चाबै फूल सूँघै
करे ए बाबेजी सूँ बेनती
बाबाजी देस देता परदेस दीज्यो
म्हांरी जोड़ी रो वर हेरज्यो
कालो मत हेरो बाबाजी
कुल ने लजावै
गोरो मत हेरो बाबाजी
अंग पसीजै
लाम्बौ मत हेरो बाबाजी
साँगर चूंटे
ओछो मत हेरो बाबाजी
बावन्यूँ बतावै
ऐसो वर हेरो
कासी रो बासी
बाई रे मन भासी
हसती चढ़ आसी
हँस खेल ए बाबेजी री प्यारी बनड़ी
हेरयो ए फूल गुलाब रो

—'कच्चे अंगूर की बेल के नीचे ब्याही जानेवाली लड़की
पान चबाती है, फूल सूँघती है,
अपने दादा से विनती कर रही है—
दादा, देश की बजाय परदेश में भले ही ब्याह देना,
मेरी जोड़ी का वर ढूँढ़ना।
काला वर मत देखना दादाजी,
वह पसीना पसीना हो जाया करेगा।
लम्बा वर मत देखना, दादाजी,
वह शमी वृक्ष की फलियां तोड़ने का काम ही तो देगा।

ठिगना वर भी न देखना, दादाजी,
उसे हर कोई बौना बतायगा।
ऐसा वर देखो
जो काशी का वासी हो
वह तुम्हारी बाई के मन भायगा,
वह हाथी पर चढ़कर आयगा।
हँस खेल, ओ दादा की प्यारी कन्या,
मैंने गुलाब का फूल देख लिया है।'

ऐसा प्रतीत होता है कि कन्या उसे चाहती थी जो काशी में रहकर शिक्षा पा चुका हो। पर दादा ने उसके लिए पहले ही से एक 'गुलाब' ढूँढ़ रखा था।

अतीत काल में वर और कन्या अपनी पसन्द को ही मुख्य रखते थे। फिर ज्यों-ज्यों समय बदलता गया, कन्या अपनी स्वतन्त्रता खो बैठी। न जाने कितनी शताब्दियों से वह अपने पिता या दादा का मुँह ताकती आ रही है। शहरों में कन्या फिर से अपना फैसला अपने हाथ में लेने जा रही है। पर गांव की कन्या क्या पुरानी पगडण्डी पर ही चलती रहेगी?

पुराने विवाह-गीतों में उस युग के चित्र भी मिलते हैं जबकि विवाह के लिए वर और कन्या के परस्पर प्रेम पर समाज ने छापा नहीं मारा था। केसरिये दूल्हे के साथ गुजराती दुलहन के सवाल-जवाब सुनिये—

लाड़ी तमने केसरियो बोलावे रे रंगभीनी
पाली चालु' तो मारा पाहोला दुःखे
केम रे आवु' वर राज
मोकलावु' मारी अवल हाथणीयु'
बेसी आवो मुज पास लाड़ी
अवल हाथिणीयु'नी ऊंची अँबाड़ी
तेथी डरू' वर राज
मोकलावु' मारां अवल बछेरां
बेसी आवो मुज पास लाड़ी
अवल बछेरां तो नाचे न कूदे
थी डरू' वर राज
मोकलावु' मारी अवल वेलड़ीयु'
बेसी आवो मुज पास लाड़ी
अवल वेलड़ीयु'ना पैरे छड़के

तेथी डरूं वर राज

—'दुलहिन, तुझे केसरिया बुलाता है
मेरे पास आजा, दुलहिन !
पैदल चलूँ तो पैर दुखता है
कैसे आऊँ, वर राज ?
मैं अपनी श्रेष्ठ हथिनी भेज देता हूँ,
उस पर बैठकर आ जाइयो मेरे पास, दुलहिन !
श्रेष्ठ हथिनी की अम्बारी बहुत ऊंची है,
उससे मैं डरती हूं, वर राज !
मैं अपना श्रेष्ठ बछेरा भेज देता हूँ,
उस पर बैठकर आ जाइयो मेरे पास, दुलहिन !
श्रेष्ठ बछेरा तो नाचता है, कूदता है,
उससे मैं डरती हूँ वर राज !
मैं अपनी श्रेष्ठ बहली भेज देता हूँ,
उस पर बैठकर आ जाना मेरे पास, दुलहिन !
श्रेष्ठ बहली के पहिये चीखते हैं
उससे मैं डरती हूँ, वर राज !

अनेक गीत विवाह के विशेष अवसरों पर गाये जाते हैं, और यह तो प्रत्यक्ष है कि विवाह-गीत प्रायः स्त्रियों की सम्पत्ति हैं। एक गीत में राम और सीता के वैवाहित जीवन का काल्पनिक दृश्य प्रस्तुत किया गया है। कभी तो राम और सीता में भी किसी-न-किसी बात पर ले-दे हुई होगी, यह कल्पना जीवन को यथार्थवाद की कसौटी पर परखने की सूचक है—

लवींग केरी लाकड़ीए
रामे सीता ने मार्‍यां जो
फूल के रे दड़ूलिए
सीताई वरे मार्‍यां जो
राम तमारे बोलड़िए
हूँ पर घरे दलवा जईश जो
तमे जशो जो पर घरे दलवा
हूँ घंटलो थईश जो
राम तमारे बोलड़िए
हूँ पर घरे खांडवा जईश जो

तमे जशो जो पर घरे खाँडवा
हूँ साँबेलूँ थईश जो
राम तमारे बोलड़िए
हूँ जल माँ मछली थईश जो
तमे थशो रे जलमां रे मछली
हूँ जलमोजूँ थईश जो
राम तमारे बोलड़ीए
हूँ आकाश बिजली थईश जो
तमे थशो जे आकाश बिजली
हूँ महुलीओ थईश जो
राम तमारे बोलड़ीए
हूँ बली ने ढगलो थईश जो
तमे थशो जो बली ने ढगलो
हूँ भभूतियो थईथ जो

—'लौंग की लकड़ी से
राम ने सीता को मारा।
फूल की गेंद से
सीता ने राम को मारा।
ओ राम, तुम्हारी बोली से क्रोध में आकर
मैं पराये घर पीसने चली जाऊँगी।
तुम यदि पराये घर पीसने चली जावोगी,
मैं वहाँ चक्की बन जाऊँगा।
ओ राम, तुम्हारी बोली से क्रोध में आकर
मैं पराये घर अन्न कूटने चली जाऊँगी।
तुम यदि पराये घर अन्न कूटने चली जावोगी,
मैं वहाँ मूसल का सिरा बन जाऊँगा।
ओ राम, तुम्हारी बोली से क्रोध में आकर
मैं जल में मछली बन जाऊँगी।
तुम यदि जल में मछली बन जावोगी,
मैं जल की लहर बन जाऊँगा।
ओ राम, तुम्हारी बोली से क्रोध में आकर
मैं आकाश में बिजली बन जाऊँगी।

तुम यदि आकाश में बिजली बन जाओगी।
मैं बादल बन जाऊँगा।
ओ राम, तुम्हारी बोली से क्रोध में आकर
मैं जल कर राख बन जाऊँगी।
तुम जलकर राख बन जाओगी।
मैं इसे रमाकर भभूतिया[1] बन जाऊँगा।

अनेक गीत अधूरे ही मिलते हैं। कभी किसी पूरे गीत के दो खण्ड दो सुदूर ग्रामों में मिल जाते हैं। कभी यह भी पता नहीं चलता कि जो गीत मिला है वह अधूरा है। फिर जब इसकी शेष पंक्तियाँ भी मिल जाती हैं तो हमारा अध्ययन आगे बढ़ता है।

कुछ गीत ऐसे भी होते हैं जिनका सामूहिक प्रभाव होता है; केवल दो-चार पंक्तियों से नहीं, बल्कि पूरा गीत सुन लेने पर ही चित्र की एक-एक रेखा पूरे चित्र की विशेषता का प्रमाण देती है। यही गुजराती लोकगीत का आदर्श है, जो कवि के शब्दों में प्रतिबिम्बित हो उठी है—

गाणु अधुरूं मेल्य मा
'ल्या बालमा
गाणु अधुरूं मेल्य मा
हैये आयेलुं पाछुं ठेल्य मा
'ल्या बालमा
होठे आयेलुं पाछुं ठेल्य मा
'ल्या बालमा
गाणु अधुरूं मेल्य मा
'ल्या बालमा।[2]

—'गीत अधूरा न रख
ओ बालम!
गीत अधूरा न रख
हृदय तक आये हुए को पीछे मत मोड़
ओ बालम!

१ योगी
२ 'सावनी मेवा', उमाशंकर जोशी, 'कहानी' (सरस्वती प्रेस, बनारस), १५ नवम्बर, १९३४।

होठ तक आये को पीछे मत मोड़
ओ बालम !
गीत अधूरा न रख
ओ बालम !'

गीत को अधूरा न छोड़ा जाय, होठ तक आई हुई बात को पीछे न मोड़ा जाय, यही मेघ-गम्भीर गुजरात का सबसे बड़ा आदर्श है।
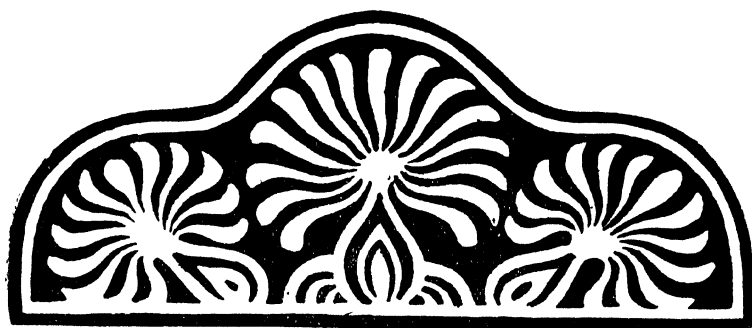
४

कविता का मूलस्रोत

आदिम युग के लोकगीतों की विवेचना करते हुए काँडवेल ने इस बात पर विशेष जोर दिया था कि उस समय सामाजिक चेतना अपने प्रारम्भिक काल में थी, और जिस प्रकार विकासमान समाज ने वातावरण के साथ संघर्ष करने में पृथ्वी पर अपने अस्तित्व के साथ अनुकूलता स्थापित करने के लिए फसल उगाने की कला को जन्म दिया उसी प्रकार फसल के प्रति उस कबीले के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए भावात्मक सामाजिक एवं सामूहिक मनोदशा की अभिव्यक्ति करनेवाली कविता को जन्म दिया। निरन्तर संघर्ष के पश्चात् प्रकृति के कुछ अंगों पर तो मानव की विजय हो गई और इसके फलस्वरूप प्रकृति के प्रति आदिम युग की कविता में सहानुभूति की रेखायें उभरने लगी थीं। परन्तु प्रकृति के अंग-अंग अब भी साहचर्य के लिये तैयार न थे और वे अपने प्रकोप से मानव के लिये किये-कराये को असह्य क्षति पहुंचाते थे। अतः यह नितान्त आवश्यक था कि प्रकृति पर पूर्ण रूप से विजयी होने के लिये मानव की दृष्टि में सामूहिक जीवन का महत्व बढ़ता चला जाय। सामूहिक भावों को जाग्रत करनेवाले लोकगीत न केवल कर्म करने के लिये प्रेरणा देते थे, बल्कि वे श्रम को मधुर बना देते थे। उस युग के लोकगीतों में मानव के सामूहिक भाव अनुराग और साहचर्य, परिश्रम और आनन्द-उल्लास, भय, आशंका और आशा निराशा की कहानी सुरक्षित है। फसलों के साथ-साथ गीत भी तैयार किये जाते थे। विघ्नों की भयंकरता इन गीतों में बार-बार गूंज

उठती थी, विघ्नों का सामना करने के लिये सामूहिक प्रेरणा प्रदान करना यही इनका ध्येय था।

शब्द, लय, छन्द, विचार वस्तु और भाव का सामाजिक अस्तित्व एक निर्विवाद सत्य है। फसल के साथ मनुष्य का आर्थिक सम्बन्ध ही मुख्य और सचेत था, और जहां तक लोकगीत का सम्बन्ध था समस्त कबीले की सामूहिक आवाज ही इसकी सत्य समझी जाती थी। फसल के लिये लम्बी प्रतीक्षा अनिवार्य थी। उस युग के लोकगीत की पृष्ठभूमि में मानव और प्रकृति के संघर्ष का इतिहास निहित है।

समाज का विकास हुआ। प्रत्येक वर्ण ने अपना-अपना काम सँभाल लिया। कुम्हार को लीजिये। शत शत शताब्दियों से वह माटी के घड़े तैयार करता आ रहा है। थोड़े-बहुत अन्तर के साथ इन घड़ों का रूप उन घड़ों जैसा ही है जो पांच हजार पुराने महेंजोदड़ो की खुदाई से निकाले हैं। यह देखकर आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा की छाया में पला हुआ व्यक्ति चकित रह जाता है। कसेरे की कला का भी यही हाल है। उड़ीसा के ग्राम-जीवन की एक झांकी पेश करते हुए काका कालेलकर ने लिखा है—"कसेरा कटोरी बनाता है। बाप-दादों से उसने यह हुनर सीखा है। और उसके ग्राहक भी बने हुए हैं, और यह भी वह जानता है कि साल भर में इस हुनर में कितनी आमदनी होगी। उसके प्रतिद्वन्द्वी भी उसकी बिरादरी के ही हैं। सब का जीवन ओत-प्रोत—ताने-बाने की तरह एक-दूसरे से गुंथा हुआ है। उसे इस बात का भी विश्वास है कि बाहर से कोई उस पर हमला करनेवाला नहीं है। उसके प्राण मानो खतरे में हैं, इसलिये उसे बेतहाशा भागने की जरूरत नहीं है। उसका जीवन और परिश्रम उसका उपयोग और उसका आराम सब साल में बंधे हुये चल रहे हैं। अब अपने उस आनन्द को कटोरी के ऊपर अंकित किये बिना वह अपने हाथ से उसे अलग कैसे कर सकता है? कटोरी के बन जाने पर सोचा, चलो इसकी कोर के ऊपर के थोड़े से बेल-बूटे चितेर दूं। इस कटोरी में बच्चे थनों से निकला हुआ गरम-गरम दूध पियेंगे। इसलिये चलो, इसके ऊपर अपनी पूंछ ऊंची उठाकर कूदनेवाले बछड़े को ही चितेर दूं। इसी का नाम कला है और उसके बालक उसके इर्द-गिर्द कूदने लगते हैं।"

समाज का विकास होने पर जब कार्य-विभाजन हुआ, प्रत्येक वर्ग ने पृथक्-पृथक् लोकगीतों की रचना आरम्भ कर दी। यद्यपि कुछ गीत समूचे ग्राम में सभी वर्गों में लोकप्रिय रहे और उनका प्रचलन किसी एकाकी ग्राम ही में नहीं बल्कि समूचे जनपद में शताब्दियों से चला आता है।

खेत में काम करते हुए पंजाबी किसान गा उठता है—

बल्लीए कणक दीए
तैनूं खाणगे नसीबां वाले

—'अरी गेहूँ की बालो,
तुझे भाग्यशाली लोग ही खायेंगे।'

यहां 'गेहूं' की बालो के शब्दार्थ से ही गुजारा नहीं चलता। प्रतीक रूप से किसान युवक ने किसी युवती की ओर संकेत किया है। जैसे खेत में गेहूँ की बालो पक जाती है ऐसे ही ग्राम की नन्हीं-मुन्नी-सी बालिका युवती बन जाती है, और किसान युवक सोचता है कि वह युवक जो इस युवती के आँचल से बंधेगा अवश्य कोई भाग्यशाली ही होगा।

फसल को माडते समय बैलों के चक्कर को गढ़वाल में 'दाईं का फेरा' कहते हैं। गढ़वाली लोकगीत में इसी से ऋतु बदलने की उपमा ली गई है—

आई गैन ऋतु बौड़ी
दाईं जैसी फेरो, झुमैलों
उवा देसी उवा जाला
ऊंदा देसी उंदो, झुमैलो

—'ऋतु लौटकर आ गई
फसल मांडते समय बैलों के चक्कर के समान। झुमैलो।
ऊपर देश के लोग ऊपर चले जायेंगे,
नीचे देश के लोग नीचे आ जायेंगे। झुमैलो।'

यहां बसन्त ऋतु की ओर संकेत किया गया है। 'झुमैलो' आनन्द-सूचक शब्द है, और प्रत्येक कड़ी के पश्चात् इसे दुहराते हैं। झुमैलो एक लोक-नृत्य का नाम भी है।

एक स्थान पर राजस्थानी लोक-मानस ने ग्रीष्म ऋतु का चित्र बड़ी कुशलता से अंकित किया है—

कह लूवां कित जावस्यो
पावस धर पड़ियांह
हिये नवोरा नार रा
बालम बीछड़ियांह

—'कहो, हे लुओ तुम कहां जाओगी।
जब धरती पर पावस ऋतु आ जायगी?'
'हम उस नवविवाहिता नारी के हिय में जाकर रहेंगी

जिसका आलम बिछड़ गया हो।'

वियोगिनी नववधु के हृदय में सदैव ग्रीष्म ऋतु छाई रहती है, वहां सदैव लूएँ चलती हैं जिन्हें पावस ऋतु की फुहार भी शांत नहीं कर सकती।

मारवाड़ का रेखाचित्र भी देख लीजिये--

बालूं बाबा देसड़ो
पाणी ज्यां कूवांह
आधी रात कुहक्कड़ा
ज्यूं माणस मवांह
बालूं बाबा देसड़ो
पाणी सन्दी तात
पाणी केरे कारणे
पिव छाड़ै आधी रात
बाबा मत देइ मारुवां
वर कुंवारि रहेस
हाथ कचालो सिर घड़ो
सींचती य मरेस
बाबा मत देइ मारुवां
सूधा गोवालांह
कंध कुहाड़ो सिर घड़ो
वासो मंझ थलांह
जिण भुंय पन्नग पीवणा
केर कंटाला रूँख
आके फोगे छांहड़ी
हूँछा भांजइ भूख

—'हे बाबा मैं उस देश को जला दूं
जहां पानी कुंवों में मिलता है।
आधी रात ही से पानी निकालनेवाले लोग यों शोर मचाने लगते हैं
जैसे कोई मनुष्य मर गया हो।
हे बाबा, मैं उस देश को जला दूँ
जहां पानी का कष्ट है।
जहां पानी निकालने के लिये
प्रियतम आधी रात ही को घर से चल देता है।

हे बाबा, मारवाड़ के निवासी के साथ मेरा विवाह न करना।
भले ही मैं कुंवारी रह जाऊं।
हाथ में कटोरा, सिर पर घड़ा,
मैं पानी ढोते-ढोते मर जाऊँगी।
हे बाबा, मारवाड़ के निवासी के साथ मेरा विवाह न करना
मारवाड़ के निवासी सीधे-सादे गाय चरानेवाले लोग हैं।
कन्धे पर कुल्हाड़ी, सिर पर घड़ा,
मरुस्थल के बीच उनका निवास है।
जिस भूमि पर पी जानेवाले सांप होते हैं,
कटीले करील ही जहां के वृक्ष हैं,
आक और फोक के नीचे ही जहां छाया मिल सकती है,
घास के बीज खाकर ही भूख मिटानी पड़ती है।'

हो सकता है कि मारवाड़ का यह रेखाचित्र देखकर कुछ लोग नाक-भौं सिकोड़ें। किन्तु लोकगीत का काम सत्य पर पर्दा डालना नहीं। कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि मारवाड़ की मरुभूमि किसी ज़माने में बहुत उपजाऊ भूमि रह चुकी है। यह भी सुनने में आया है कि आगामी दस वर्षों के भीतर मारवाड़ की कायापलट होनेवाली है। विद्युत्-शक्ति से मारवाड़ के कोने-कोने में जल पहुंचाया जायेगा, और उस समय कोई नवीन गीत नवयुग का स्वागत करेगा।

भारत कृषि-प्रधान देश है। अतः यह कुछ उचित ही प्रतीत होता है कि लोकगीतों में राम, लक्ष्मण और सीता तक के दर्शन हमें किसी खेत ही में हो जायं। जैसे एक बुंदेली गीत में—

राम बवें तो लछमन जोतिओ
सीता माता काढ़ें कांद
लछमन दिउरा लौट के हेरिओ
मेरी बारी दो दो कान

—'राम बीज बो रहे हैं, लक्ष्मण हल चला रहे हैं
सीता माता निराई कर रही हैं
लक्ष्मण देवर, लौटकर देखो
मेरे खेत में दो दो अंकुर निकल आये हैं।'

खेत की रखवाली नितान्त आवश्यक है। बुन्देली लोकगीत में सीता और लक्ष्मण के प्रश्नोत्तर सुनिये—

काहे को बांध लछमन धनइयां
काहे को पांचों बान
मिरगा बारी ऐसे चुनें
जैसे अनाथ को खेत
काहे को निरखो भौजी धनइयां
काहे को पांचई बान
परों मिरगला मारन चलूं
मोए जसरथ की आन

—'काहे को धनुष बांधा है, लक्ष्मण !
काहे को पांचों बाण रख छोड़े हैं ?
मृग खेत में ऐसे चरते हैं,
जैसे यह अनाथ का खेत हो।
भावज, काहे को धनुष को निरखती हो?
काहे को पांच बाणों का दोष निकालती हो
परसों मैं मृग को मारने चलूंगा
मुझे दशरथ की आन है।'

प्रत्येक जनपद क्या सोचता है और क्या अनुभव करता है, इसकी अभिव्यक्ति आज भी वहां के लोकगीतों में मिलती है। कूलई, चम्बाला, बांगरू, कुमाउनी और छत्तीसगढ़ी—ऐसी अनेक जनपदीय भाषायें हैं जिनमें प्राणवान और जाग्रत लोकवार्ता का अक्षय भण्डार है। लोकवार्त्ता का अन्वेषण नितान्त आवश्यक है। कविता के मूलस्रोत तक पहुंचकर हम आधुनिक कविता के लिये नवीन प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे।

युग बदल रहा है। नया युग नये गीत चाहता है। किन्तु नया युग पुरातन लोकगीतों का निरादर नहीं कर सकता—लोकगीत जो कविता के मूलस्रोत हैं।

५
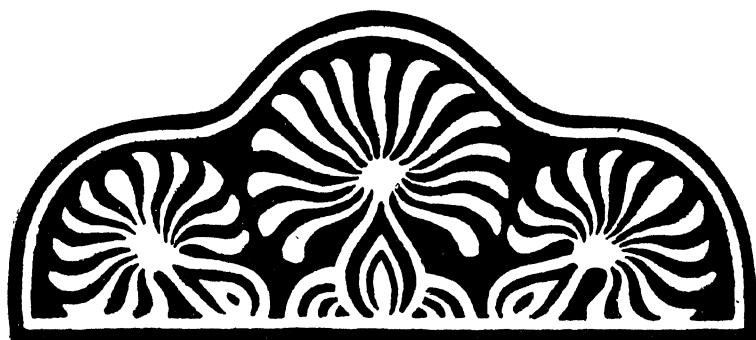
राम-बनवास के उड़िया गीत

रामायण की रचना के पूर्व ही राम की गाथा देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक विख्यात् हो गई थी। राम केवल अयोध्या के ही नहीं, सारे देश के राम बन गये थे। माताएँ अपने शिशुओं में राम की भावना करने लगी थीं। राम की न्यायप्रियता तथा शूरवीरता की कहानियाँ देश के एक सिरे से दूसरे तक प्रचलित हो गई थीं। इस प्रकार राम-चरित्र लोक-कथाओं का विषय बन गया था। अनेक लोककवि उनका यश गाने लगे थे। विवाह-गीतों में वर की कल्पना करती हुई रमणियों के सामने राम की मूर्ति विराजमान रहती थी। इस प्रकार राम-चरित्र की सर्वप्रथम भूमिका निर्माण करने में लोक-साहित्य का सबसे बड़ा हाथ था।

वाल्मीकि तथा तुलसीदास के राम वन में जाकर भी किसी राजा से कम नहीं रहे। सीता-हरण से पहले के बारह वर्ष हमारी आँख बचाकर झट से बीत जाते हैं। राम की छोटी-छोटी बातें सुनने के लिये हमारा हृदय प्यासा ही रह जाता है। वहाँ हम यह नहीं जान पाते कि राम दिन में कितनी बार हँसते थे; कितनी बार वे मनोविनोद की बातें करते थे। उन बातों का पता लगाने के लिये हम उत्कंठित हो उठते हैं। राम क्या खाते थे? वे केवल फल पर ही निर्वाह करते थे या आटे की बनी हुई रोटी भी खाते थे? उन्हें आटा कैसे और कहाँ से प्राप्त होता था? क्या वे खेती-बारी भी करने लग गए थे? वे गाय का दूध पीते थे या भैंस का? यदि भैंस का' तो उनकी भैंस किस रंग की थी और यदि गाय

का तो क्या उनकी गाय कपिला गाय थी? वे मिट्टी के पात्रों में दूध पीते थे या सोने-चाँदी की कटोरियों में? इन सब प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये हम बेचैन हो उठते हैं। हम बार-बार रामायण का पाठ करते हैं किन्तु राम को भली भांति देख नहीं पाते। कवि उनकी मोटी-मोटी बातें बतलाकर ही हमें अपने साथ दौड़ाकर ले जाना चाहता है। हम धीरे-धीरे चलना चाहते हैं जिससे राम का पूरा-पूरा दर्शन कर सकें।

उत्कल प्रान्त के लोक-साहित्य में राम की गाथा की वे सब छोटी-छोटी बातें, जिन्हें सुनने के लिये हम इतने व्याकुल हैं, कल्पना की कूँची द्वारा अंकित की गई हैं। यहाँ के राम कृषक हैं। कृषि-प्रधान देश के राम का कृषक-रूप देखकर हमारा हृदय तरंगित हो उठता है। हल चलाते हुए कृषक लोग जो गीत गाते हैं जिन्हें उड़िया में 'हलिया-गीत' कहते हैं। इन में प्रायः राम की गाथा गाई जाती है। उत्कल का झूला झूलती हुई कन्याएं 'दोली-गीत' गाती हैं। उनमें भी राम-चरित्र की थोड़ी-बहुत झलक मिलती है। यहां के राम धनी भी हैं और निर्धन भी। धनी इतने कि उनके घर में सोने के दीपक हैं जिनमें घी या चन्दन के तेल का उपयोग किया जाता है, और निर्धन इतने कि वे सीताजी को नये वस्त्र तक नहीं पहना सकते।

इन गीतों को गाते हुए उत्कल प्रान्त के ग्रामवासी अपना दुःख-दर्द भूल जाते हैं। राम के महान् दुःख के सामने उन्हें अपना दुःख बहुत कम लगता है। जब राम भी इतने निर्धन हो सकते हैं कि सीताजी को नया वस्त्र न दे सकें तब साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या रही।

उत्कल के लोक-साहित्य के राम घर का काम-काज अपने हाथों से करते हैं। राम हल चलाते हैं, लक्ष्मण जुताई करते हैं और सीताजी बीज बोती हैं। वे कपिला गाय का दूध पीते हैं जो चन्दन की अग्नि पर गरम किया जाता है। उनके घर में सोने की कटोरियाँ हैं। कभी-कभी उन्हें हल चलाते-चलाते घर पहुँचने में देर हो जाती है। सीताजी व्याकुल हो उठती हैं और लक्ष्मण से कहती हैं— 'जाओ, राम को बुला लाओ।' लक्ष्मण कच्चे आम लाता है। सीताजी चटनी पीसती हैं। सब चटनी राम ही खा जाते हैं। लक्ष्मण को थोड़ी-सी चटनी भी नहीं मिलती। उनका जो छोटा न हो तो क्या हो? राम और लक्ष्मण दो कपिला गाएँ खरीदते हैं। राम की गाय का दूध सूख जाता है। लक्ष्मण की गाय बराबर दूध देती रहती है। उड़ीसा में पान बहुत होता है। यहाँ के राम पान प्रसाद करते हैं। दुःख की भी कुछ न पूछिए। एक बार सीताजी टूटे हुए बरतन में दूध दुहने बैठती हैं। सारा दूध नीचे बह जाता है। राम को मालूम होता है

तो वे बहुत क्रोधित होते हैं। लक्ष्मण पेट भर भात भी नहीं खा पाते। राम नारियल तलाश करते-करते थक जाते हैं। इस प्रकार राम-चरित्र सरिता की भांति, बहता चलता है। इसका बहाव जरा भी अप्राकृतिक नहीं है। यहाँ के राम किसी एक व्यक्ति के राम नहीं हैं; वे तो सारी जनता के राम हैं।

उत्कल के किसान कवियों ने अपने हाथों से रंग तैयार किया है और अपनी ही कूँची से राम का चित्र प्रस्तुत किया है। न उन्होंने रंग उधार लिया, न कूँची ही किसी से मांगी है।

अब कुछ उड़िया लोकगीत लीजिए जिनसे राम की गाथा की रेखाएं उभरती हैं।

पहले राम के शैशव का हाल सुनिए—

पिल्ला टी दिनू राम घांईले नंगल
नव खंड पृथि होईछी टलमल्
आकास कु घटिअछि जल्...हलिया हे...

—'बचपन में एक बार राम ने हल को हाथ लगा दिया।'
पृथिवी के नव खंड हिलने लग गये।'
'हे कृषक, उस समय आकाश में बादल घिर आये थे।'

इसके पश्चात् झट राम के हल चलाने का दृश्य प्रस्तुत कर दिया जाता है—

चालो चालो बलद् न करो भालोनी
आऊरी घड़िए हेले पाईबो मेलानी
खाईबो कंचा घास जे...पीईबो ठंडा पानी हो...
बूढ़ा बलद् कु जे हलिया मंगु नांई
राम बांधे हल् लईखन देवे माई
आऊरी कि करिबे जे...
सीताया देवे रोई जे...

—'चलो चलो, बैल, देर न करो,
जरा ठहरकर तुम्हें छुट्टी मिल जायगी।
खाने को ताजा घास मिलेगी,
पीने को ठंडा पानी।
किसान बूढ़े बैलों को पसन्द नहीं करता।
राम हल चला रहे हैं,
लक्ष्मणजी जुताई करेंगे,

सीताजी के लिये और क्या काम है,
वे बीज बो देंगी।'

धान कूटनेवाले यन्त्र का नाम उड़िया भाषा में ढेंकी है। ढेंकी पर काम करते हुए जो गीत गाये जाते हैं उन्हें 'ढेंकी-गीत' कहते हैं। एक ढेंकी-गीत सुनिए—

हीरा माणंकर धान ढेंकी-रे अच्छी पणां
राम लईखन दुई हेले भीका टणां
किए गो पेलीबो से धान, कहो मोते कि न जे...
राम बोलंति हे...सुनो लइखन
पेलीबो धान तुम्भे कुटिबा मोर मन
एते कहि ढेंकी ऊपरे बस्सी भांगे पान
दि खंडि पानरु खंडिए खाईले राम तो से...
धान कूटा पेला चालीला केते रंगे रसे
महकी ऊठूछी बासना कि मीठा लागीवा से

—'ढेंकी के पास हीरों-मणियों-सदृश धान का ढेर लगा है,
राम और लक्ष्मण में विवाद हो रहा है कि कौन धान डाले, कौन कूटे।
राम ने कहा—लक्ष्मण, तुम धान डालो, मैं कूटूँगा।
यह कहकर राम ढेंकी पर बैठ गए और पान खाने लगे।
दो में से एक पान राम ने खा लिया।
धान कूटने का काम आनन्द से चलता गया।
चारों ओर महक फैल गई।'

सीता के प्रति राम का क्रोध देखिए—

दौदरा माठिया हाते धरि करि
खीर दुहिबाकु सीताया गला मो राम रे
सबु खीर जाको तले बहि गला
सीताया ए कथा जाणी न पारीला मो राम रे
बौहड़ीला राम हल् काम सरि
खीर मंदे वेगे सीता कु मागीला मो राम रे
धांई धांई सीताया पाखकु अईला
घोईतांकु सबु कथा टी कहिला मो राम रे
रामंक आखीटी रङ्ग होई गला
मन कि तोर छो बाइया हेला मो राम रे

—'टूटे हुए पात्र में सीता दूध दुहने गई ।
सारा का सारा दूध नीचे बह गया,
पात्र टूटा हुआ है, यह बात उसे मालूम ही नहीं हुई
हल चलाकर राम घर आये और उन्होंने सीता से दूध मांगा
सीता दौड़कर आई और पति को सब बात सुना दी
राम की आँखें लाल हो गईं—
क्या तुम पागल हो गई हो ?'

घर में पत्नी से कोई न कोई कसूर हो ही जाता है और पति की आँखें क्रोध से लाल हो जाती हैं । कभी-कभी इस क्रोध में भी प्रेम रहता है । ऐसे ही किसी अवसर की कल्पना राम के जीवन में की गई है ।

राम का खेत से जरा देर करके आना सीताजी को बेचैन कर देता है—

मेघुया आकासे बिजलि खेलुछी
भंगा कुड़िया रे सीताया भालुछी महाप्रभु से
पास सरि राम बाहुड़ी गहन्ति
एतो बेलो जाए किसो करिछन्ति महाप्रभु से
जायो हे लइखन बेगे बिल कु
आणी बाकु रामं कु निज घर कु महाप्रभु से
पवन बहुछी मेघ गरजुछो
अन्दार कुड़िया रे सीताया बरसुछी महाप्रभु से
आग रे बलद पच्छ रे लइखन
बेगे राम घर कु फेरी आछी महाप्रभु से

—'आकाश पर बादल छाये हैं और बिजली चमक रही है ।
टूटी-फूटी झोंपड़ी में सीता का मन उदास है
हल चलाकर राम अभी तक वापिस नहीं आये
इतनी देर तक क्या करते होंगे ?
हे लक्ष्मण, दौड़कर खेत को जाओ
राम को घर बुला लाओ ।
हवा चल रही है बादल गरज रहे हैं
अँधेरी कोठरी में बैठी हुई सीता का मन उदास है
आगे बैल हैं, पीछे लक्ष्मणजी हैं
राम जल्दी जल्दी घर की ओर आ रहे हैं ।'

सीता का मन उदास है, इस वाक्य में कितनी करुणा भरी है । सीता ने

अपनी कोटरी में दिया तक नहीं जलाया। वे अँधेरी कोटरी में बैठी हुई हैं राम को घर लौटते देखकर उन्हें कितना आनन्द हुआ होगा।

अब राम और सीता के प्रेम की व्याख्या सुनिए—

सीताया जेयूंथीरे गुयागुंडी राम सेईथीरे पान-
सीताया जेयूंथीरे टोकई कुंढई राम सेईथीरे धान-

—'जहाँ सीता सुपारी है, वहाँ राम पान हैं,
जहाँ सीता टोकरी है, वहाँ राम धान हैं।'

राम हेला जल सीता हेला लहुड़ी
राम हेला मेघ सीता हेला घड़घड़ी
राम हेला दही सीता हेला लहुणी
राम हेला घर सीता हेला घरणी

—'राम जल हो गये और सीता जल-तरंग,
राम बादल बन गये और सीता बिजली की गरज,
राम दही बन गये और सीता मक्खन,
राम घर बन गये और सीता घरवाली।'

उधर सीताजी का वक्तव्य सुनिए—

मुकता मुकता बोलंति मुकता
केंऊंठी मुकता के जाने
जगत् समुका रघुमणि मुकुता
ए परि मुकता के जाने
जीवण बिकि मूं कीणीली मुकता
ए परि बिका किणां के जाने

—'मोती मोती तो सब कोई कहता है
पर मोती है कहाँ, इसे कौन जानता है?
जगत् सीप है और रघुमणि राम मोती हैं
ऐसे मोती की किसे खबर है?
मैंने अपना जीवन बेचकर यह मोती खरीदा है
ऐसी बिक्री और खरीद और कौन जानता है?'

पत्नी को पति से जो प्रेम हो सकता है, उसकी यहां पराकाष्ठा है। सीताजी के मुख से राम के प्रति प्रेम का चित्रण करने में ग्रामीण उत्कल का लोक-कवि बहुत सफल हुआ है।

राम की निर्धनता समीप से देखिये—

छिंड़ा लूगा पिंधी सीताया ठाकुराणी
दौदरा गिन्ना रे भात खाई छंति रघुमणि महाप्रभु से
सीताया झुरुछंति नुया लूगा पांई
लइखन झुरुछंति पखाल् भात पांई महाप्रभु से
सीताया झुरुछंति नाक गुणां पांई
राम बूलछंति नड़िया आणिवा पांई महाप्रभु से
कांदी-कांदी सीता खीर दुहुछंति
मा घर कथा मते पकाऊछंति महाप्रभु से

—'सीता ठाकुराणी फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए हैं,
राम टूटे बर्तन में भात खा रहे हैं, हे महाप्रभु !
सीता नये वस्त्रों के लिए तरस रही हैं,
लक्ष्मण पखाल भात के लिए तरस रहे हैं, हे महाप्रभु !
सीताजी नाक गुणां[1] के लिए तरस रही हैं,
राम नारियल लाने के लिए भटक रहे हैं, हे महाप्रभु !
सीताजी आँखों में आँसू भरकर दूध दुह रही हैं,
वे माता के घर को याद कर रही हैं, हे महाप्रभु !'

राम खजूर का रस पीने जा रहे हैं—

छिंड़ा लूंगा पिंधी राम जाऊथीले
खजूरी गच्छ र रस काढ़ीवाकु मो बाइधन
दूरु देखी सीता अइला धांइ
धरि पकाइला राम र हस्तकु मो बाईधन
कि पाईं धांईछो खजूरी गच्छ कु
लइखन ईहा देखी कि कहिबे तुम्भंकु

—'फटे-पुराने वस्त्र पहने राम जा रहे थे
खजूर वृक्ष का रस निकालने, ओ मेरे बाईधन !'
'दूर से देखकर सीताजी दौड़ती हुई आईं,
राम का हाथ पकड़ लिया ।
खजूर के वृक्ष की ओर क्यों जा रहे हो ?
लक्ष्मण देखेगा तो क्या कहेगा ?'

उड़ीसा में खजूर के वृक्ष बहुत होते हैं । खजूर का रस मदिरा के रूप में

[1] नाक का आभूषण जिसे उड़िया स्त्रियाँ बड़े चाव से पहनती हैं ।

पिया जाता है। प्रायः पुरुष ही इसका सेवन करते हैं, स्त्रियाँ नहीं।

देखिए लक्ष्मणजी चटनी के कितने शौकीन हैं—

अंब कसी तोली लईखन आणीले
सीताया ठाकुराणी चटनी बाटीले
रघुमणि राम खाईछंति हलिया हे
टिकिए चटनो मोते देयो आणी हो...सीताया ठाकुराणी
चटणी गल सरी लईखन कांदूछंति जे

—'लक्ष्मण कच्चे आम लाया और सीताजी ने चटनी पीसी,
हे किसान, सारी की सारी चटनी राम खा गये,
थोड़ी सी चटनी मुझे भी दे दो!
चटनी खतम हो गई लक्ष्मणजी रो रहे हैं।'

कुछ गीतों में राम के घर में गाएँ दिखाई गई हैं। सचमुच उन दिनों घर घर गाएँ होती थीं तो राम के घर भी अवश्य रही होंगी। यदि केवल इतना ही कह दिया जाता कि राम के घर में गाएँ थीं तो कदाचित् अधिक रस न आता। यहाँ लक्ष्मण की गाय अधिक दूध देती है। राम की गाय का दूध सूख जाता है। लक्ष्मण सीताजी के लिए कपिला गाय लाते हैं। सीताजी राम के लिए तो चंदन की लकड़ी पर दूध गरम करती हैं परन्तु लक्ष्मण को नारियल देकर ही उनका मुँह मीठा करने का यत्न करती हैं। इस प्रकार के उतार-चढ़ाव की कल्पना हमें राम के घर में ले जाती है और हम राम की छोटी से छोटी बात से परिचित हो जाते हैं—

राम लईखन दुई गोटी भाई
दूई भाई कीणीले जे कपिला गाई
लईखनंक गाई बेशी खीर देला
रामंक गाई-र खीर सूखी गला
कांदूछंति सीता ठाकुराणी हे...हलिया...
कि बुद्धि करिबे से......
आणीले लईखन अयुध्या पुरी कु;
गोटिये कपिला गाई मो राम रे
ताहा देखी सीता रामंकु कहिले;
आणीवाकु से परि गई मो राम रे
से परि गाई कुयाड़े न पहिले
खोजी खोजी राम होईलेन बाई मो राम रे

एहा जाणी सीता कांदीवाकु लागीले;
झुरु बस्सी थाई भात पकाई मो राम रे
एहा जाणी लईखन सीतांकु कहिले
कांही कि कांदीछो छार कथा पांई मो राम रे
रामंक पांई ए देह धरिली
तुम्भरी पांई आणीछी ए गाई मो राम रे

—'राम और लक्ष्मण दो भाई थे
दोनों भाइयों ने दो कपिला गाएँ खरीदीं
लक्ष्मण की गाय अधिक दूध देती रही,
राम की गाय का दूध सूख गया।
हे किसान, सीता ठाकुराणी रो रही हैं
बेचारी क्या करें ?'
'लक्ष्मणजी अयोध्या से लाए
एक कपिला गाय, मेरे राम !
उसे देखकर सीता ने राम से कहा—
मेरे लिए भी ऐसी ही एक गाय ला दो, मेरे राम !
वैसी गाय कहीं भी न मिली
राम खोज खोजकर थक गए, मेरे राम !
यह जानकर सीताजी रोने लगीं,
भात फेंक कर वे उदास हो गईं, मेरे राम !
'यह जानकर लक्ष्मण ने सीता से कहा—
जरा सी बात के लिये क्यों रोती हो ?
मैंने यह शरीर राम की सेवा के लिये ही धारण किया है,
तुम्हारे लिये ही मैं यह गाय लाया हूँ।'

एक और गीत में लक्ष्मण का चित्र अंकित किया गया है—

मालिया चन्दन आणी सीता तींया कले
वेग कपिला गाई-र खीर तताईले महाप्रभु से
भरि करि खीर सुनार गिन्ना-रे
रघुमणि रामंक हस्त-रे देले महाप्रभु से
भूक-रे कटाऊथीले लईखन कुड़िया
सीताया देखी आसी ताकु देले नड़िया महाप्रभु से
अभागा लईखन आकुले कांदीले

एहा छाड़ी आऊ किछी करि न पारीले महाप्रभु से

—'मलय चंदन की लकड़ी लाकर सीताजी ने आग जलाई

जल्दी जल्दी कपिला गाय का दूध गरम किया।

सोने की कटोरी में दूध भरकर

उसने रघुमणि राम के हाथ में दिया।

भूखा लक्ष्मण कुटिया में झाड़ू दे रहा था

सीता ने उसे देखा तो उसे एक नारियल दे दिया।

अभागा लक्ष्मण व्याकुल होकर रोने लगा

वह और कर ही क्या सकता था?'

राम-बनवास के उड़िया लोकगीत भारतीय लोक साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं। उड़िया भाषा की माधुरी और उत्कल प्रान्त के स्वप्नों ने मिलकर ऐसे सुन्दर काव्य की सृष्टि की है जिस पर कोई भाषा गर्व कर सकती है।
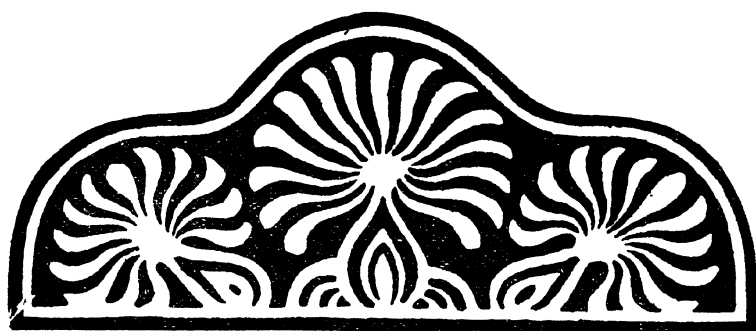
६

काश्मीर का चित्र

काश्मीर पर कभी महाराज ललितादित्य और प्रवरसेन ने राज्य किया था। फिर इसे सम्राट् अशोक ने एक दिन भगवान बुद्ध के उपदेशों से पवित्र किया था। राजतरंगिणी का प्रख्यात गायक कवि कल्हण यहीं जन्मा था। इसी काश्मीर के शालामार और निशात बाग़ जहाँगीर और शाहजहाँ-जैसे वैभवशाली सम्राटों का अतिथि-सत्कार कर चुके हैं।

देश की एक पुरानी लोक-कथा के अनुसार काश्मीरी पंडितों का विश्वास है कि आरम्भ में शालामार बाग़ की आधारशिला श्रीनगर-निर्माता महाराज प्रवरसेन ने रखी थी, और इसे संस्कृत नाम शालामार (मदन निकेतन) से सुशोभित किया था। सन् १६१४ में, जब कि क्रूर समय इस बाग़ को नष्ट-भ्रष्ट कर चुका था, इसका सितारा फिर चमका। मुग़ल-सम्राट् जहाँगीर ने स्वयं अपने हाथों से इसमें ऐसे नवजीवन का संचार किया कि पुराना नाम और भी सार्थक हो उठा। सम्राट् ने लिखा भी है—"मैंने हुक्म दिया कि जलधारा का रुख बदल दिया जाय और एक ऐसे निराले बाग़ का निर्माण किया जाय, जिसका निराला रूप रंग दुनियाभर के बाग़ों से कहीं बढ़कर नयनाभिराम हो। (तुज़्के-जहाँगीरी)

निशात-बाग़ का निर्माता था नूरजहाँ का भाई आसफ़जाह, जिसने सन् १६३४ में इसकी स्थापना की थी। बाद में उसने अपनी यह कृति सम्राट् जहाँगीर की भेंट कर दी थी।

काश्मीर में प्रकृति नाना रंगों और नाना वेशभूषाओं में अपना शृंगार

करती है।

सैकड़ों शताब्दियों पूर्व सारी-की-सारी काश्मीर-उपत्यका एक विशाल झील थी—नाम था 'सतीसर'। भूगर्भ-विद्या-विशारदों ने उपत्यका के चारों ओर की पहाड़ियों पर—१५०० फीट की उँचाई पर—केवल जल-तल के चिह्नों का ही पता नहीं लगाया, बल्कि मछलियों के अवशेष, सीप और घोंघे तक खोद निकाले हैं, और इस प्रकार झील की सत्ता सिद्ध कर दिखाई है। देश की एक दन्तकथा है कि ऋषिवर कश्यप ने अपने तपोवल के द्वारा झील का सारा जल बारामूले (बाराहमूल) की समीपवर्ती दरारों में से बाहर निकाल दिया था, और इसके तश्चात् वे अपने कितने ही मित्रों-सहित यहीं बस गये थे। समय पाकर इस स्थान का नवीन नामकरण हुआ 'कश्यपमेरु'। आज का 'काश्मीर' इसी का अपभ्रंश है। स्वयं काश्मीरी जनसाधारण ने इस शब्द को और भी संक्षेप करके 'कशीर' बना लिया है।

अपने बीते हुए दिनों में काश्मीर ने मीठी तथा कड़वी दोनों प्रकार की घड़ियाँ देखी हैं। हिन्दू-युग में यह प्रदेश विद्या और शिक्षाका अच्छा केन्द्र रहा है। यहाँ के अभिवासी जीवन के झमेलों से एकदम स्वतंत्र थे। अतः यहाँ कला और साहित्य दोनों का ही भाग्य उदय हुआ था। शंकराचार्य ने यहाँ भी एक मठ स्थापित किया था। उन दिनों की कितनी ही सजीव तथा सरस कृतियाँ आज के पारखियों को भी मुग्ध किये बिना नहीं रहतीं।

सन् १३२२ में जुलकदरख़ां उर्फ़ डोल्च ने, जो चंगेज़ख़ां का वंशज था, ७०,००० घुड़सवार योद्धाओं के साथ काश्मीर पर आक्रमण किया। तत्कालीन हिन्दू राजा सहदेव शत्रु का सामना न कर सकने के कारण किश्तवाड़ की ओर भाग गया। जुलकदरख़ां आठ मास के लगभग काश्मीर में रहा और यहाँ के नर-नारियों को बलपूर्वक अपने धर्म में दीक्षित करता रहा। अन्त में ५०,००० काश्मीरियों को गुलाम बनाकर उसने अपनी जन्मभूमि की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में जब वह 'देवसर' दर्रे से गुज़र रहा था, तब ऐसा तुषारपात हुआ, जिसमें वह अपने सैनिकों तथा अभागे काश्मीरी बन्दियों-सहित ठिठुरकर मर गया। इसके पश्चात् महाराज सहदेव को काश्मीर लौट आने में अनिच्छुक पाकर राज्य की बागडोर उनके सेनापति रामचन्द्र ने सम्हाली। रेंछनशाह और शाह मीर[1] उसके प्रमुख कर्मचारी बने। थोड़े दिनों बाद बादशाह मीर की

[1] रेंछनशाह तिब्बत का एक निर्वासित शाहजादा था और शाह मीर 'स्वात'-वासी मुस्लिम सन्त फीरशाह का पौत्र। वे दोनों जुलकदरख़ां के आक-

सहायता से रैंछनशाह ने रामचन्द्र का, जब कि वह अपने महल में सो रहा था, बध कर डाला और स्वयं सिंहासन पर चढ़ बैठा। उसने रामचन्द्र की कन्या कूटारानी को अपनी रानी बनने को विवश किया, और अपने मित्र शाह मीर को मन्त्री-पद पर नियुक्त कर दिया। अपने पूर्वजों के धर्म से अपरिचित होने के कारण रैंछनशाह ने हिन्दू-धर्म ग्रहण करना चाहा; पर ऐसा होने की कोई सम्भावना न देखकर एक दिन उसने निश्चित किया कि अगले दिन वह जिस व्यक्ति को सर्वप्रथम देखेगा, उसी के धर्म में प्रविष्ट हो जायगा। दैवयोग से मुस्लिम सन्त बुलबुलशाह[२] उसे सबसे पहले दीख पड़े। अतः उसने इस्लाम धर्म क़बूल कर लिया। सन् १३२७ में रैंछनशाह की मृत्यु हो गई, और महाराज सहदेव के सहोदर उदवनदेव उसकी विधवा कूटारानी से विवाह करके, शाह मीर को बदस्तूर मन्त्री-पद पर रखते हुए, सिंहासन पर बैठ गया। काश्मीरी इतिहास के पन्नों में कूटारानी एक वीर रमणी के रूप में अमर है। एक बार जब किसी शत्रु ने उसके देश पर धावा बोल दिया था और उदवनदेव अपनी जान की ख़ैर न देखकर पीठ दिखा गया था, तब यह कूटारानी की ही हिम्मत थी कि उसने शत्रु के दाँत खट्टे कर उसे मार भगाया था। इसके पश्चात् उदवनदेव की मृत्यु के बाद जब शाह मीर काश्मीर के सिंहासन पर काबिज़ हो बैठा, तब अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वह स्वयं अपने ही हाथों मृत्यु तक का आलिंगन करने में भी नहीं झिझकी।

शाह मीर का वंश कोई ३२ वर्ष के लगभग चला और फिर काश्मीर के सिंहासन पर एक ऐसे जनता-प्रेमी भूपति का आगमन हुआ, जो अँधेरी रात में एक रौशन सितारे की भाँति चमकता है। वह था जैनुल-आबदीन (सन् १४२०-७० तक)। जितना मेहरबान वह मुसलमानों पर था, उतना ही हिन्दुओं पर। उसने अनेक हिन्दू-मन्दिरों की मरम्मत करवाई और कितने ही हिन्दुओं को राज्य-कर्मचारी भी बनाया। कहते हैं कि जैनुल-आबदीन के सिंहासन पर आने के पूर्व काश्मीर-भर में केवल ग्यारह ब्राह्मण परिवार ही बाक़ी रहे थे। अब फिर भारत के कितने ही भागों से हिन्दू नर-नारी यहाँ आ-आकर बसने लगे। दुर्भाग्य से जैनुल-आबदीन का एक भी उत्तराधिकारी अपने इस प्रजापालक पूर्वज के पद-चिह्नों पर न चला। सन् १५५४ से १५८५ तक काश्मीर के भाग्याकाश

मध्य होने के पूर्व काश्मीर आये थे, और महाराज सहदेव ने उन्हें न केवल पनाह ही दी थी, बल्कि उपहार-स्वरूप ग्राम भी दिये थे।

२ श्रीनगर के पाँचवें पुल के समीप इनका मक़बरा है।

पर 'चक' वंश के सात बादशाह दृष्टिगोचर हुए, और वे सातों-के-सातों धन-लोलुप तथा हत्यारे थे। सन् १५८५ में यहाँ मुग़ल-युग का श्रीगणेश हुआ, और सन् १७५३ तक काश्मीर ने ६३ मुग़ल सूबेदारों का शासन देखा। उनमें कुछ को छोड़कर प्रायः सभी के उदार हृदयों में प्रजा-प्रेम के स्रोत बहते थे। मुग़ल-युग में शाल-निर्माता काश्मीर अपने पूरे यौवन पर था, शाल के कारीगर ऐसे-ऐसे नफ़ीस शाल बनाते थे, जो अंगूठी तक में से गुज़र सकें। शालामार, निशात और नसीम-जैसे सौन्दर्य-काननों से मुग़ल सम्राटों ने इस भू-स्वर्ग का श्रृंगार किया। कहते हैं कि इसका सौन्दर्य देखकर नूरजहाँ कहती थी—

अगर फिरदौस बररूये ज़मीन अस्त
हमीं नस्तो हमीं नस्तो, हमीं नस्त

—'अगर दुनिया में है जन्नत कहीं पर;
यहीं पर है, यहीं पर है, यहीं पर।'

मुग़ल-साम्राज्य के पतन के बाद ही यहाँ अत्याचारपूर्ण अफ़ग़ान-युग का आरम्भ हुआ। एक-एक करके कोई २८ अफ़ग़ान सूबेदार काश्मीरियों की किस्मत के मालिक बने; पर इन भले आदमियों ने तड़पती प्रजा के ज़ख्मों पर कभी भूलकर भी मरहम लगाना न सीखा। चिरदुखी काश्मीर नारी-नर महाराजा रणजीतसिंह के बढ़ते हुए सिख-साम्राज्य की ओर ताक रहे थे। ग्रामीण माताएँ अपने नन्हें बच्चों के झूले की डोरी खींचती हुई गाती थीं—

दिवा यी यी
सिक्ख राज तरित क्याह[1]

—'क्या कभी ऐसा भी हो सकता है, हे भगवान्, कि सिख-राज पहाड़ों को पार करता हुआ यहाँ तक आ जाय!'

स्वनामधन्य पं० वीरबल 'दर' की प्रार्थना पर महाराजा रणजीतसिंह ने, राजा गुलाबसिंह तथा कई एक अन्य वीरों के सेनापतित्व में, ३०,००० घुड़-सवार काश्मीर फ़तह करने के लिए भेजे। 'पीर पंजाल' की धौली चोटियों ने एक दिन देखा कि सिख योद्धा अफ़ग़ानों पर धावा बोल रहे हैं। पहले ही हमले में मैदान सिखों के हाथ रहा। 'शुपइयाँ' के समीप दूसरे युद्ध में रही-सही अफ़ग़ान-शक्ति भी सदा के लिए पिस गई। अब काश्मीर महाराजा रणजीतसिंह

१ यह लोरी स्वर्गीय पण्डित आनन्द कौल की पुस्तक 'The Kashmiri Pandit' में सुरक्षित है। आज भी वयोवृद्ध काश्मीरी माताओं से अत्यन्त करुण स्वरों में कभी-कभी इस लोरी के बोल गुनगुना उठते हैं।

के सिख-साम्राज्य का अंग बन गया। स्वयं महाराजा के भाग्य में न बदा था काश्मीर-भ्रमण का रसास्वादन। एक बार सन् १८३२ में इस इच्छा से उन्होंने काश्मीर की ओर प्रस्थान भी किया था; पर उन दिनों काश्मीर में दुर्भिक्ष फूट पड़ने के कारण वे पुन्छ से ही लाहौर लौट आये थे। सन् १८३४ में अपने काश्मीरी गवर्नर कर्नल मोयाँसिंह को महाराजा ने एक पत्र में लिखा था—"काश कि मैं अपने जीवन में एक बार ही काश्मीर के बाग़ों की, जो बादाम के फूलों से महके हुए हैं, सैर कर सकता और हरी-भरी मख़मली घास पर बैठने का आनन्द ले सकता।"

महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् जब पंजाब के साथ ही काश्मीर भी ब्रिटिश साम्राज्य के हाथ आया, तो वर्तमान जम्मू-काश्मीर-नरेश के पूर्वज महाराजा गुलाबसिंह ने, जो उन दिनों जम्मू स्टेट के अधिपति थे, उसे ब्रिटिश गवर्नमेंट से ख़रीद लिया।

आज का काश्मीर भारत की सबसे बड़ी रियासत है।[1] वह पूर्व में चीनी तिब्बत से, पश्चिम में यागिस्तान से, उत्तर में यारकन्द तथा पामीर से और दक्षिण में पंजाब से घिरा हुआ है। उसका क्षेत्रफल है कोई ५४,२५८ वर्गमील और जनसंख्या है ३३,२०,५१५ के लगभग, जिसमें से ६,९०,३८६ हिन्दू[2] ३६,५१२ बौद्ध, ३१,५५३ सिख, १,३५४ अन्य धर्मावलम्बी और बाक़ी सब मुसलमान हैं।

काश्मीर के प्रायः तीन विभाग किये जाते हैं—

१—जम्मू-प्रान्त, जिसका क्षेत्रफल काश्मीर-उपत्यका से दुगुना है, और जो 'डुगर' 'छिब्राल' तथा 'पहाड़' तीन खंडों में विभक्त है।

२—काश्मीर प्रान्त। इसका मुख्य भाग काश्मीर-उपत्यका ही है।

३—सीमा-प्रान्त। यहाँ का क्षेत्रफल जम्मू तथा काश्मीर दोनों प्रान्तों से दुगुना है। इसके तीन खंड हैं—दारदस्तान, लदाख़ और बालतस्तान।

१ "काश्मीर रियासत क्षेत्रफल में हैदराबाद (दक्षिण) से भी बड़ी है। वह मैसूर से तीन गुनी, ग्वालियर और बीकानेर दोनों से दुगुनी, जयपुर से पाँच गुनी, बड़ौदा से दसगुनी और ट्रावनकोर से बारहगुनी है। वह पंजाब का $\frac{4}{5}$ है और युक्तप्रान्त का $\frac{3}{4}$। आयरलैण्ड को छोड़कर ब्रिटिश द्वीप काश्मीर से कुछ ही बड़े हैं। काश्मीर आकार में ४०० मील लम्बा है और ३०० मील चौड़ा।" (पण्डित आनन्द कौल)

२ इसमें काश्मीरी पंडितों की संख्या कुल ६५,००० ही है।

मुग़ल-युग में दारदस्तान काश्मीर प्रान्त के अधीन था; पर अफ़ग़ान-युग में वह फिर अपनी खोई हुई आज़ादी का मालिक बन बैठा। उस समय, जबकि इस प्रदेश को गृह-कलह ने कहीं का न छोड़ा था, महाराजा गुलाबसिंह ने दो-तीन बार इस पर हमला किया, और अन्त में उनके वीर उत्तराधिकारी महाराजा रणवीरसिंह ने सदैव के लिए उसे काश्मीर का भाग बना लिया। दारदस्तान निम्नलिखित खंडों में विभक्त है:—(१) अस्तोर, (२) बूँजो, (३) चिलास, (४) गिलगित, (५) हूँज़ा, (६) नगर, (७) पुनियाल, (८) यासीन, (९) चितराल। इनमें गिलगित विशेषतः उल्लेखनीय है।

गिलंचा और दारद इस प्रदेश के अधिवासी हैं। आर्य-रक्त से सम्बन्धित होने पर भी वे सभी इस्लाम के अनुयायी हैं। वे कद में लम्बे और रंग में गोरे हैं। साहस और परिश्रम उनके दिन-रात के साथी हैं। खून-पसीना एक करते रहने पर भी क्या मजाल कि माथे पर बल पड़ जाय।

सिंधनद इस प्रदेश में १५० मील तक बहता है। यहाँ के किसान प्रायः गेहूँ और जौ की खेती करते हैं। उत्तरीय भागों में प्रायः सभी काश्मीरी फल उत्पन्न किये जाते हैं।

लदाख़ आरम्भ में तिब्बत-साम्राज्य का भाग था, और समय-समय पर इसके इतिहास में कितने ही राजनैतिक उतार-चढ़ाव हुए हैं। सन् १८३४ में महाराजा गुलाबसिंह की डोगरा-शक्ति ने इसे अपने अधीन कर लिया और तबसे यह प्रदेश काश्मीर का एक भाग है।

लदाख़ के निम्न-लिखित विभाग हैं—(१) रुकशुक, (२) ज़ाँस्कार, (३) लुबरा, (४) लेह, (५) द्रास, और (६) करगिल। इनमें लेह अपनी किस्म का एक ख़ास व्यापारिक केन्द्र है। प्रतिवर्ष सितम्बर में तुर्किस्तान, साइबेरिया, तिब्बत तथा मध्य-एशिया से अपने-अपने देश का माल लेकर अनेकों कारवाँ यहाँ आते हैं, और काश्मीर तथा भारत से आई हुई वस्तुओं से अपना-अपना माल बदलकर लौट जाते हैं।

ग्यापी (राजा), जिर्के (अधिकारी), मुंगरिक (किसान) और रिंगन (छोटे-छोटे धन्धोंवाले) लदाख़ की विशेष जातियाँ हैं। इनमें बड़ी संख्या किसानों की है, जो एक प्रकार की नीलगाय से—जिसे 'ज़ोह्' कहते हैं—हल चलाते हैं। इधर फल भी काफ़ी होते है; पर किसी क़दर गरम स्थानों में ही।

बालतस्तानी राजे पहले काश्मीर के हिन्दू-राजाओं के अधीन थे। परन्तु काश्मीर में 'चक' वंश के राजाओं के पदार्पण के साथ ही वे खुदमुख्तार हो गये थे। मुग़ल-युग में बालतस्तान काश्मीर के अन्तर्गत रहा। पर अफ़ग़ान-

युग में बालतस्तानी राजे फिर से स्वतंत्र हो गये। सन् १८३७ में महाराजा गुलाबसिंह ने बालतस्तान के प्रमुख राजा अहमदशाह पर चढाई की और इसे फिर से अपने राज्य का भाग बना लिया।

सिंधनद के दोनों किनारों पर १५० मील के लगभग लम्बा बालतस्तान स्थित है। प्रकृति ने इसे कितने ही आकाशचुम्बी पर्वतों से सजाया है, और सोने में सुहागा हैं यहाँ की नयनाभिराम उपत्यकाएँ। खरमंग, शिगर, स्कर्दू और रोंडू यहाँ के विभाग हैं, और इनमें सर्वोत्तम उपयोगी भूमि है शिगर की। वैसे इस पार्वत्य प्रदेश में अधिक खेती नहीं की जा सकती हालांकि यहाँ का जलवायु बिलकुल काश्मीर-प्रान्त का सा ही है। बालतस्तानी जनसाधारण प्रायः इस्लाम के अनुयायी हैं। वे बड़े ही परिश्रमी हैं। हँसते हँसते जान-जोखों का काम करने का स्वभाव उनके दैनिक जीवन को उदासीनता से कोसों दूर रखता है।

काश्मीर-उपत्यका इस देश के अन्य पहाड़ी भागों से कहीं अधिक आबाद है। यहाँ नगरों की संख्या तो दाल में नमक के बराबर भी नहीं। इसलिए इसे तो 'ग्रामों की भूमि' ही कहना चाहिए। ग्रामों के पृष्ठभाग में हिमालय के धौले शिखर बूढ़े अभिभावक-से खड़े हैं, और चारों ओर का वातावरण उन्हें एक कवि-कल्पनातीत रंग में रँग देता है। ग्राम्य चौपालों से सटी हुई नाचती-गाती चलती है सजीव जलधारा, जिसका रंग रूप तथा कल-कल निनाद ग्राम-वासियों की 'घर की वस्तु' बन जाता है। ग्रामीण क़ब्रस्तान तक सुन्दरता से ख़ाली नहीं होता—प्रत्येक क़ब्र का शृङ्गार किये रहते हैं जामुनी या श्वेत रंग के 'मज़ारपोश' फूल।

वसन्त में जब खूबानी के पेड़ों पर बर्फ से सफेद फूलों का यौवन आता है, जब आड़ूओं को गुलाबी कलियां खिलती हैं, जब 'वीर' वृक्षों की संगतरी झलक बिखर उठती है, तब काश्मीरी ग्रामों में नई जान आ जाती है। वसन्त के पश्चात् पतझड़ के आरम्भिक दिन भी कम आनन्दमय नहीं होते। रंग-बिरंगी तूलिकाएँ लिए प्रतिदिन प्रकृतिदेवी चित्र-प्रदर्शिनी करती चलती है। इधर-उधर जिधर देखिये, रंगों की दुनिया बसती है। एक रंग जाता है, दूसरा आता है, और इसके साथ-ही-साथ होती रहती है धूप-छाया की आँखमिचौनी।

भले ही ग्रामवासियों के जीवन पर ग़रीबी का साम्राज्य है। पर वे हैं खूब हँसमुख—हँसना भी जानते हैं और हँसाना भी। वे बड़े मनमौजी और हँसोड़ होते हैं। इस ज़िन्दादिली ने ही काश्मीरियों के जातीय जीवन को इतना रौशन

कर रखा है। हास्य के साथ ही उनकी आँखों में आंसुओं की भी कमी नहीं है। वयोवृद्ध प्राणी भी बालकों की भांति फूट-फूटकर रोते हैं। पर ये अश्रु उनकी शारीरिक दुर्बलता तथा जातीय भीरुता का प्रदर्शन नहीं करते। इनके अन्दर रोती हैं भूतपूर्व काश्मीर की खूनी शताब्दियाँ, जो और कुछ भले ही कर सकी हों, काश्मीरियों के स्वदेश-प्रेम को ज़रा भी कम नहीं कर सकीं। आप किसी काश्मीरी से वार्तालाप कीजिए, बातचीत करते-करते वह अक्सर इस लोकोक्ति पर आकर दम लेता है—

गरह् वन्दह् गर सासा
गर नेर न जाह्

—'हज़ारों घर मैं तुम्हारे अर्पण करता हूँ। ओ स्वदेश, तुम्हारा परित्याग प्राप्त करके मैं कहीं न जाऊँगा।'

स्निग्ध काश्मीरी हृदय हमेशा अतिथि-सेवी होता है। फिर उनका आतिथ्य केवल इने-गिने और जाने-पहचाने नर-नारियों तक ही सीमित रहता हो, यह बात नहीं है। अपरिचित-से-अपरिचित व्यक्ति भी पूर्ण सत्कार के पात्र समझे जाते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है—

ज़र्रा-ज़र्रा है मेरे कश्मीर का मेहमाँ-नवाज़
राह में पत्थर के टुकड़ों से मिला पानी मुझे

देश की नन्हीं पौद के प्रति वयोवृद्ध काश्मीरी आत्मा काफ़ी उदार रहती है। युवक के प्रति उसका आशीर्वाद कुछ कम सुन्दर नहीं होता—

मिच अइ तुलक त सुन गछमय
मीठपुंद त ज़ीठे उमर

—'तुम धूलि को भी छुओ तो वह सुवर्ण बन जाय। मीठी-मीठी हो तुम्हारी छींक और दीर्घ हो तुम्हारी आयु।'

काश्मीरियों की आन्तरिक प्रकृति में हिन्दुत्व और इस्लाम सगे भाइयों की भांति गले मिले हैं। भगवान् ने उन्हें असहिष्णु और असहनशील नहीं बनाया। बातों-ही बातों में अक्सर वे कहा करते हैं—

बाब आदमस ज़ाई ज़ु गबर
अकि रठ आवरिन बी क़बर

—'बाबा आदम के दो पुत्र हुए—
एक ने श्मशान की राह ली और दूसरा क़ब्र में जा सोया।'

मज़हब की नई आंधी भी काश्मीरियों के इस पुश्तैनी भ्रातृभाव को हिला नहीं सकी, यह देखकर किसी भी स्वदेश-प्रेमी का मन खुशी से उछले बिना नहीं

रह सकता।

काश्मीर फूलों का देश है। सब फूलों का राजा है कमल, जो डल[1], वूलर[2], मानसबल, तानसर, खुशहालपुर तथा पम्बसर इत्यादि—काश्मीर की प्रायः सभी झीलों में अपने अनुपम सौन्दर्य का प्रदर्शन किया करता है। इधर-उधर पहाड़ों की ढलवानों पर कितने ही स्वर्गोपम बाग़ हैं, जिनका निर्माता है स्वयं प्रकृति। इनका काश्मीरी नाम है मर्ग (चरागाह)। गुल-मर्ग (फूलों की चरागाह) तथा सुन-मर्ग (सुनहली चरागाह) इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। यहाँ अनेक प्रकार के—अलग-अलग रंगो-बू के—वन-कुसुम खिलते हैं। इनमें बहुत-से फूल ऐसे हैं, जो अन्य पार्वत्य प्रदेशों में बिलकुल नहीं मिलते। उस समय जब शीतल मन्द समीर इन फूलों के साथ नाज़-भरी अठखेलियां करता है, जब सूर्य की निर्मल किरणें इनका चुम्बन लेने को लपकती हैं, यात्रीगण इनसे खिलना और हँसना सीखते हैं।

कमल क्या है, काश्मीरी सौन्दर्य का प्रतीक है। काश्मीर की लोकवाणी में अनेक प्रकार से इसका बखान किया गया है। लोक-गीतों में भी इसे कम स्थान नहीं मिला। काश्मीरी मां की आँखों में उसका बालक कमल से कुछ कम नहीं होता, जब वह उसे 'कवल'[3] कहकर बुलाती हैं। इस मजेदार काश्मीरी नाम की रस-जाँच कर सकते हैं केवल वही सज्जन, जिन्हें कभी अगस्त मास में, जब कमल के फूल अपने पूरे यौवन पर होते हैं, काश्मीरी झीलों को देखते-देखते मन्त्रमुग्ध-से होने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। गुलाब भी काश्मीरियों का मनभाता फूल है। काश्मीरी कन्याओं का नाम अकसर

१ डल झील का क्षेत्रफल कोई १० मील के लगभग है। इसका जल इतना निर्मल है कि केवल इसके हृदय-जगत् की वनस्पतियां ही दृष्टिगोचर नहीं होतीं, आकाश के दिलचस्प खेलों के प्रतिबिम्ब भी खूब निखरते हैं।

२ केवल काश्मीर की ही नहीं, यह भारत की सबसे बड़ी झील है। जब यह ज़रा क्रोध दिखाती है, तो लहरों का सागर-सी लगती है। कभी-कभी बेचारे यात्री भी; जो शिकारे (नाव) इत्यादि पर आनंद-यात्रा के लिए निकलते हैं, हमेशा के लिए इसकी खूनी लहरों के आँचल में सो जाते हैं। जेहलम इस झील में आकर गिरती है, और 'सोपर' नामक स्थान से फिर बाहर निकल कर आगे बढ़ती है।

३ कमल का काश्मीरी नाम 'पम्पोश' है। पर काश्मीरी पण्डित इसे धार्मिक रङ्ग देने के लिए संस्कृत नाम का प्रयोग करते हैं।

'गुलाबी' रखा जाता है। काश्मीर के इस सार्वजनिक फूल की तुलना केवल स्त्रियों के लिए ही सीमित हो, यह बात नहीं है। सुन्दर बालक का नाम भी प्रायः 'गुलाब' होता है। 'नरगिस' और 'लाला' फूलों के प्रति भी जनसाधारण का प्रेम सजीव हो उठता है, जब कन्या का नाम युम्बरज़ली (नरगिसी लड़की) और युवक का नाम 'लाला' रखा जाता है। कितने ही और नाम भी हैं, जिनसे काश्मीरी नर नारियों के पुष्प-प्रेम का परिचय मिलता है। इनमें 'कुंगी' (केसर की कली), 'पोशी' (कली), 'पोंशकुजी' (फूलदार झाड़ी), 'हीमाल' (चमेली की माला) और 'टेकरी' (टेकरी फूलकी-सी लड़की) विशेष उल्लेखनीय हैं। काश्मीरी नामों का फूलों के साथ-साथ ही कितनी ही अन्य प्राकृतिक विभूतियों के साथ भी प्रचुर संसर्ग रहता हैं—ग्राम की बालिकाओं से उनके नाम पूछिये, कितने ही अन्य सरस नामों में ये नाम आपका मन मोह लेंगे—'जूनी' (चांदनी), 'संगरी' (पहाड़ी), 'कुकिल' (कोयल), 'मैना' तथा 'कतीज' (अबाबील)।[1] कुछ कन्याओं का नाम बूनि (चिनार वृक्ष) भी होता है। इस नामवाली गृहदेवी से आशा की जाती है कि वह अतिथि-सत्कार को अपने जीवन का आदर्श बनाये, बिलकुल चिनार की भांति ही, जो राह-चलते मुसाफिरों को शीतल छाया प्रदान करता है।[2]

काश्मीर सौन्दर्य का देश है—रूप के सांचे में ढली हुई काश्मीरी स्त्रियों के सम्मुख तो कल्पना-जगत् की परियाँ तक पानी भरती हैं। उनके हिम-श्वेत दाँतों की आब खूबानी के सफेद फूलों से भी कहीं बढ़कर होती है, उनके गुलाबी चेहरे काश्मीर के जंगली गुलाब से टक्कर लेते हैं। लोकवार्त्ता बताती है कि जब कभी काश्मीरी स्त्रियाँ अपनी काली-काली आंखों को काजल से और भी काली बनाती हैं, तो इस भय से कि कहीं स्वर्गलोक की परियां उनका काजल चुराने न उतर आयें, वे सदा अधमुँदी आंखों से ही सोती हैं।

१ 'गुलाबी', 'कुकिल', 'कतीज', तथा 'जूनी' मुसलमानी नाम हैं, और कवल, लाला, युम्बरजली, कुंगी, पोशी, पोशकुली, हीमाल, मैना, संगरी तथा बूनि हिन्दू नाम हैं।

२ काश्मीर की मर्मी कवयित्री ललेश्वरी ने भी एक स्थान पर कहा है—

कनचन रनि छइ शिहिज बूनि ;
नेरव निबर शुहुल करौ।

—किसी-किसी की पत्नी छायामय चिनार की-सी है; चलो, हम उसके नीचे कर अपने आपको शीतल करें।'

अन्य स्त्रियों की भांति काश्मीरी स्त्रियाँ केशों को सिर का शृंगार समझती हैं। लम्बे केश अधिक पसन्द किये जाते हैं। खुले और लहराते हुए केश धारण करना बिलकुल पसन्द नहीं किया जाता। केशों का शृंगार अपने देश के मौलिक ढंग से ही किया जाता है। विवाह से पहले केशों को कितनी ही पेचीली मीढियों में गूँथा जाता है; सब मीढ़ियां सिर पर ऊनी डोरी के साथ एक कलापूर्ण अन्दाज से जोड़ी जाती हैं, और पीठ पर इनका बिखरा हुआ जाल-सा एक नयनाभिराम चित्र की सृष्टि कर देता है। इस अवस्था में कन्या के सर पर एक विशेष प्रकार की टोपी भी रहती है, जो उसके निर्दोष सौन्दर्य को और भी चमका देती है। विवाह के पश्चात् मीढ़ियों का जाल एक लम्बी वेणी में बदल जाता है; विवाहिता कन्या सरपर एक सुसज्जित टोपी भी पहनती है; जो प्रायः सुर्ख रंग की होती है, और एक चौरस वस्त्र भी, जो टोपी के ऊपर इस ढंग से पहना जाता है कि पीठ को भी कुछ-कुछ ढक ले।

चाँदी के बने झुमके काश्मीरी स्त्री के चन्द्रमुख की शोभा बढ़ाते हैं। ये झुमके भारी होने के कारण कानों में पहने न जाकर सिर से आई हुई एक डोरी से कानों पर लटकाये जाते हैं।

'फिरन' काश्मीरियों की जातीय पोशाक है, जो घुटनों से नीचे तक लटकते हुए एक चोगे-सी होती है। इसकी बाहें काफ़ी बड़ी तथा खुली होती हैं। हिन्दू तथा मुसलमान स्त्री-पुरुष थोड़े-बहुत भेद के साथ प्रायः एक सा ही 'फिरन' पहनते है; पर कसीदे का काम केवल स्त्रियों के फिरनों पर ही होता है। हिन्दू स्त्रियाँ इसे कालर तथा आस्तीनों पर ही पसन्द करती हैं; मुस्लिम स्त्रियां फिरन के अधिक-से-अधिक भाग पर कसीदा चाहती हैं।

अन्य कृषि-प्रधान प्रदेशों की भांति ही काश्मीरी जीवन में किसान का व्यक्तित्व सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन का प्रतीक है। किसान ही काश्मीरी आत्मा का सच्चा प्रतिनिधि है। उसके अश्रु सारे काश्मीर के अश्रु हैं, और उसका उल्लास-विभोर हास्य सारे काश्मीर की खुशी है। देश के इने गिने शहरों में घूम-फिरकर ही आप काश्मीरी दिल की धड़कन नहीं सुन सकते--काश्मीरी हृदय के परिचय के लिए आपको ग्रामों में जाना पड़ेगा।

भूमि, जिसमें काश्मीरी किसान किस्मत की देवी का आवाहन करता है, बहुत उपजाऊ है। जेहलम की तटवर्ती भूमि की तो कुछ न पूछिये। जितना सत्य जेहलम का बहना है, उतना ही निश्चित है, इस भूमि में सर्वोत्तम फसल का होना। चूँकि काश्मीर-उपत्यका किसी जमाने में एक झील थी, अतः उसमें उपजाऊ भूमि के कई भू-भाग हैं, जो करेवा या वुडुर कहलाते हैं। इन

ऊँचे और अलग-अलग टुकड़ों में आबपाशी नहीं हो सकती। इनमें जो खेती होती है, वह केवल वर्षा पर ही निर्भर है। धान को छोड़कर काश्मीर में उपजनेवाली अन्य सभी वस्तुएँ यहाँ पैदा की जाती हैं।

इन वुडरों में सबसे ज्यादा उर्बर हैं 'पामपुर' के वुडर, जिनमें अनन्तकाल से जगत्विख्यात केसर की[1] खेती होती है। 'पामपुर' ग्राम श्रीनगर के समीप है, और यहां के सब-के-सब वुडर महाराजा साहब की निजी सम्पत्ति हैं। प्रतिवर्ष यहां के हरएक वुडर में केसर नहीं बोई जाती। केसर बोने की बारी आती है हर तीसरे साल। जिन वुडरों में एक साल केसर बोई जाती है, दूसरे साल उनमें गेहूँ आदि बोया जाता है। प्रतिवर्ष से वुडर ठेकेपर दिये जाते हैं। उपज के दो भाग किये जाते हैं। एक भाग ठेकेदार लेता है और दूसरा किसानों में विभक्त कर दिया जाता। महाराजा साहब को इस ठेके में काफी रुपया मिल जाता है।

केसर के खेत प्रायः चौरस क्यारियों में विभक्त किये जाते हैं। प्रत्येक क्यारी में कोई तीस-चालीस से ऊपर फूल रहते हैं। बारह हजार बीघे में फैले हुए खेतों में वेशुमार फूल खिलते हैं। अक्टूबर मास में इन फूलों पर पूरा यौवन होता है। इन दिनों चांदनी रात में लोग केसर की सुनहली बहार देखने आते हैं। जिन्होंने यह बहार नहीं देखी है, वे कभी स्वप्न में भी उस सुनहली झांकी की, जो पूर्णिमासी की रात्रि को केसर के खेतों में देखने में आती है, कल्पना नहीं कर सकते।

अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह में ये फूल चुन लिये जाते हैं, और सूखने के लिए धूप में कपड़ों पर बिछा दिये जाते हैं। फूलों की पत्तियाँ जो फेंक दी जाती हैं, जामुनी रंग की होती हैं। प्रत्येक फूल के बीच में छै तरियाँ रहती हैं—तीन पीले रंग की और तीन गहरे संगतरी रंग की। पीली तरियां भी पत्तियों की भांति ही फेंक दी जानी चाहिए। पर उनका बहुत भाग केसर में ही मिल जाता है, या केसर की मात्रा बढ़ाने के लिए जान बूझकर मिला दिया जाता है। संगतरी रंग की तरियां ही असली केसर होती हैं। ४३०० फूलों की तरियों से (जिनकी संख्या १२६०० होती है) सिर्फ आधी छटाक के लगभग केशर निकलती है।

१ केसर की खेती स्पेन, फ्रांस, सिसली, फारस तथा काश्मीर में ही होती है। काश्मीर में पामपुर के वुडरों के अतिरिक्त केसर की खेती 'किश्तवाड़' में भी होती है, पर वहाँ की केसर बहुत ही घटिया होती है।

: २ :

यदि हम काश्मीर को पृथिवी का स्वर्ग कहें, तो काश्मीरी जनता के सरल स्वाभाविक गीतों को हमें 'सुरपुर का संगीत' या 'जन्नत के तराने' कहना पड़ेगा। जुलाई और अक्टूबर में रब्बी और ख़रीफ़ की फ़सलें तैयार होने पर समूची काश्मीरी उपत्यका गीतों से गूँज उठती है। जब फ़स्ल अच्छी होती है, तो किसान फ़स्लों का उत्सव मनाते हैं। ज्यौनार के अलावा गाना-बजाना उत्सव का एक विशेष अंग होता है। किसान लोग मिलकर गाते हैं। धनी किसान पैसा देकर नर्तकों को—जो 'बच-नग़मा' कहलाते हैं, बुलाते हैं। ये लोग स्त्री का वेश रखकर नाचते-गाते हैं। उनके साथ कई साज़िन्दे भी रहते हैं। वे प्रायः परम्परा से चले आनेवाले गीतों को ही गाते हैं; पर उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं जो समयानुसार नये गीतों की रचना भी करते रहते हैं। इन नये गीतों में जो मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाले होते हैं, वे शीघ्र ही लोकप्रिय हो उठते हैं। किसान यदि इन गीतों को पेशेवर 'बच-नग़मा' की तरह सुर-ताल के साथ नहीं निभा पाते, तो वे उन्हें अपने ही लहजे में गाते हैं। जैसे-जैसे ये गीत पुराने होते जाते हैं, वैसे-वैसे पुरानी मदिरा की भांति उनका नशा भी तेज़ होता जाता है। नवम्बर में फ़सल कट चुकने पर किसानों के भंडार अन्न से भरे होते हैं, और खेतो के कार्यों से फुरसत होती है, तब विवाहों की धूम-धाम शुरू होती है।

गीत ही काश्मीरी विवाह के प्राण हैं। विवाह की तिथि से कई सप्ताह पूर्व ही स्त्रियों का झुंड संगीत का श्रीगणेश कर देता है। गीतों के मीठे स्वरों से सारे-का-सारा ग्राम सिहर उठता है। प्रत्येक स्त्री इस विश्वास से गाती है कि उसके गीत दूल्हा-दुलहिन के मिलन के लिए सुखकर तथा शुभ होंगे। गीतों की बहुलता से जान पड़ता है कि घर-घर शादी का मंगलाचार हो रहा है, और हर गली-मुहल्ले में स्त्रियों की टोलियां कुमरियों की भांति चहचहा रही हैं।

कभी-कभी शाम को स्त्रियाँ अपनी भुजाएं एक दूसरी के कन्धों पर रखे, एक-दूसरी के पीछे तीन-चार पंक्तियों में खड़ी होकर गाती हुई एक ख़ास अन्दाज़ से गलियों का चक्कर लगाती हैं। ये जुलूस विवाह के कुछ विशेष आचारों से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें सबसे शानदार वह जुलूस होता है, जिसके साथ दूल्हे की सवारी भी रहती है। यह रात को ही निकलता है। प्रत्येक स्त्री पुष्पमालाओं से सुसज्जित जलता चिराग़दान लिये चलती है। रंग-बिरंगे फूलों से छनकर चिराग़ों की रोशनी और भी शानदार नज़र आती है। स्त्रियां—भूस्वर्ग काश्मीर की परियाँ—एक विशेष गतिमय सुर-ताल में गाती चलती हैं। इस दृश्य में

फूलों की महक कुछ अजीब जादू पैदा कर देती है।

यह था मुस्लिम-विवाह का दृश्य। हिन्दू-विवाह की छटा इससे भिन्न होती है। हिन्दू-विवाह का श्रीगणेश होता है 'गर-नवाई' (घर-सफाई) के साथ। इसके पश्चात् हिना-बन्दी (हाथ में मेंहदी लगाने की रस्म) और 'दिवा गुन' (वर को नहला-धुलाकर इत्र आदि लगाने की रस्म) की बारी आती है; पर सबसे अधिक मनोरंजक होता है 'व्युग-संस्कार'। 'व्युग' उस चबूतरे का नाम है, जो इस अवसर के लिये घर के आँगन में बनाया जाता है। इसे स्त्रियां बड़े चाव से रंग और सफेदी से ख़ूब सजाती हैं। वर को इस चबूतरे पर आने के लिये कहा जाता है। लज्जा की मूर्ति बना बनरा यहाँ आकर खड़ा होता है तो वृद्धा गृहदेवी, जो अक्सर बनरे की पितामही होती है, दीपक से आरती करके वर के मुखमंडल के इर्द-गिर्द कबूतरों का जोड़ा घुमाती है। स्त्रियों का झुंड मिलकर गाता जाता है और बीच-बीच में बनरे पर मिसरी के टुकड़ों तथा पैसों की वर्षा करता जाता है। 'व्युग संस्कार' यहीं खत्म नहीं हो जाता। कन्या के घर पर बरात पहुंचने के पश्चात् वहाँ भी इसकी रस्म पूरी की जाती है। वहाँ चबूतरे पर वर के बाएँ हाथ के समीप ही वधू भी खड़ी रहती है। वृद्धा गृहदेवी रौशन चिराग़ों तथा कबूतरों का जोड़ा युगल-मूर्ति के मुखों के इर्द-गिर्द घुमाती है, बाक़ी स्त्रियां बदस्तूर मिसरी की डलियों तथा पैसों की वर्षा करती हुई गाती रहती हैं। 'गँठजोड़ा'-संस्कार के पश्चात् वर-वधू दोनों एक ही थाली में मिठाई खाकर अपने आनेवाले जीवन की एकस्वरता का परिचय देते हैं। इसके पश्चात् हवन-कुंड के इर्द-गिर्द थोड़े-थोड़े फासले पर रखे गये सात रुपयों के ऊपर वे दोनों कई बार घूमते हैं। 'कन्या-विदा' के साथ एक प्रकार से विवाह की इतिश्री हो जाती है। पर बरात के लौट आने के बाद वर के घर में एक बार फिर 'व्युग-संस्कार- किया जाता है।

काश्मीर के विवाह गीतों की टेक अत्यन्त रसीली होती है। स्त्रियां एक ही टेक को प्रायः दस-दस बार दोहराती हैं। 'यम्बरज़ल' (नरगिस) दुलहिन का चिह्न है, और 'बुम्बर' (भ्रमर) दूल्हे का। हीमाल तथा नागराई की प्रेम-गाथा के प्रति इन गीतों में काफ़ी श्रद्धा प्रकट की जाती है। इसी सिलसिले में लैला-मजनू के नाम का भी प्रयोग होता है, और हिन्दू-विवाह में गाये जानेवाले गीतों में राधा-कृष्ण तथा शिव-पार्वती के नामों का उल्लेख रहता है।

'रमज़ान' मास (रोजे के दिनों) में रात के समय भोजन इत्यादि से निपट कर मुस्लिम स्त्रियाँ ग्राम के किसी निश्चित स्थान पर एकत्रित होकर एक अर्ध-धार्मिक नृत्य का रसास्वादन करती हैं, जिसे 'रुफ़' कहते हैं। बीच में कुछ

फ़ासला रखकर स्त्रियाँ दो पंक्तियों में खड़ी होती हैं। दोनों पंक्तियाँ गीत गाती और नाचती हुई एक दूसरी की ओर चलती हैं, और बीच में एक-दूसरी को छूकर दोनों पंक्तियां बिना मुंह-फेरे ही नाचती हुई पीछे की ओर हटती जाती हैं। इसे अनेक बार दोहराया जाता है। 'रुफ़' नृत्य की पूरी बहार होती है ईद की रात को, जब स्त्रियों के हृदय-सरोवर में खुशी का पारावार मौजें मारता है। प्रेम तथा सौन्दर्य के मदभरे उद्‌गार तथा पुरानी वीरता की गाथायें होती हैं 'रुफ़' गीतों का ताना-बाना।

काश्मीरी पंडितों के यहाँ पुत्र-जन्म पर एक विशेष उत्सव मनाया जाता है। इसके पश्चात् बालक के तेरहवें वर्ष में यज्ञोपवीत-संस्कार की बारी आती है। यज्ञोपवीत-संस्कार से कई सप्ताह पूर्व से ही स्त्रियों के गीत शुरू हो जाते हैं।

काश्मीर के मुस्लिम जनसाधारण में अपने देश में उत्पन्न हुए सन्तों के प्रति अपार श्रद्धा है—कितने ही लोकप्रिय सन्तों की क़ब्रों पर पक्के मक़बरे बने हैं। छायादार चिनारों और आकाशचुम्बी सफेदों के कुंज में बना हुआ, तथा चहारदीवारी से घिरा हुआ, काश्मीर का मुस्लिम-मक़बरा, अपने उत्कृष्ट जाली तथा खुदाई के काम के साथ, कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण होता है। इनमें से कई एक मक़बरे काफ़ी पुराने हैं। हज़रत बल का मक़बरा तथा चरार के स्थान पर शेख़ नूरदीन का मक़बरा काश्मीर के ग्रामीण जीवन में मुख्य स्थान रखते हैं। अन्य मक़बरों में ऐशमुक़ाम के स्थान पर जैनशाह का मक़बरा,[1] कुलगाम मक़बरा और हरिपर्वत पर स्थित मक्दूमशाह का मक़बरा भी कुछ कम सम्मानित नहीं हैं। इन मक़बरों पर कितने ही मेले लगते हैं। इन मेलों में काश्मीरियों की जातीय विशेषता का अध्ययन किया जा सकता है। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े और युवक दूर-दूर से इन मेलों में सम्मिलित होने के लिए आते हैं।

यद्यपि काश्मीर के अधिकांश जनसाधारण इस्लाम ग्रहण कर चुके हैं, फिर भी उनमें हिन्दुओं-जैसी श्रद्धा-भक्ति दीख पड़ती है। उनके मुख-मंडल पर हिन्दुत्व तथा इस्लाम दोनों सहोदरों की भाँति एक दूसरे के गले मिलते दिखाई देते हैं। मेले के अवसर पर मक़बरे के आँगन में बैठी हुई, कितनी ही वृद्धा स्त्रियाँ हिन्दू पुजारिनों की भाँति ही हाथ बाँधे दीख पड़ती हैं। ग्रामीण युवक-युवतियाँ अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार रंगीन वस्त्रों में सज धजकर आती हैं। उनके कपड़ों की छटा मेलों की रौनक़ में चार चाँद लगा देती है।

1 यह काश्मीरी मांझियों (हाजियों) का मनभाता मक़बरा है। अपने बच्चों के केश वे प्रायः इसी स्थान पर कटाते हैं।

इन मेलों में मनोरंजन के लिए 'बच-नग़मा' नर्तकों के संगीत का प्रबन्ध होता है। लोग मेलों में स्वयं गाने के स्थान में संगीत सुनना अधिक पसन्द करते हैं। बच-नग़मा संगीत तथा नृत्य और ग्रामीण 'गीत-नाटक' की बहार भी कुछ कम नहीं होती। व्यवसायी नट, जिनका काश्मीरी नाम 'बांड' है, गीत-नाटकों के कर्ता-धर्ता होते हैं। मेले के किसी-न-किसी कोने में गश्ती गवैये के दर्शन भी हो जाते हैं। उसका काश्मीरी नाम है 'ग्युवस बोल' (गानेवाला); लोग अकसर उसके वाद्य-यन्त्र के अनुसार ही उसका नामकरण किया करते हैं। यदि उसके पास रुबाब है तो उसे 'रुबाब-बोल' (रुबाब वाला) कह देंगे। इसी प्रकार सारंग (सारंगी) वाले को 'सारंग-बोल' और 'दहरा' (लोहे की सलाख, जिस पर लोहे के ढीले छल्ले चढ़े रहते हैं और जब उन्हें हिलाता जाता है, तो एक ख़ास स्वर निकलता है) वाले को 'दहर-बोल' कहा जाया है। गश्ती गवैये की ज़बानी भूत तथा वर्तमान की गीत-गाथाएँ सुनने में जन-साधारण को बहुत आनन्द आता है। इन गवैयों को यदि मूर्तिमान लोक-गीत कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। मेलों के अतिरिक्त भी ये गवैये जब घूमते-फिरते ग्रामों में पहुंच जाते हैं, तो ग्रामीण नर-नारी उनके संगीत का रसास्वादन करने के लिए एकत्रित हो जाते हैं। अकसर ये गवैये रचना-कौशल-सम्पन्न होते हैं। वे ग्राम की नई-से-नई घटना तक को गीतबद्ध कर डालते हैं।

उपर्युक्त मुस्लिम मेलों के अलावा खीर भवानी, हरिपर्वत, डलदरवाज़ा तथा बेरीनाग इत्यादि स्थानों के हिन्दू मेले भी कम सजीव नहीं होते।

गूजर लोग, जो कुशल चरवाहे होते हैं, काश्मीर के घुमक्कड़ प्राणी हैं। जाड़े में वे नीचे—कम ठंडे स्थानों में उतर आते हैं और नववसन्त के साथ फिर अपनी भेड़ों के गल्लों तथा परिवार-सहित बर्फ़ानी चोटियों के समीप की चरागाहों की ओर चल पड़ते हैं। ये लोग बड़े आनन्दी जीव होते हैं। बड़े सवेरे ये भेड़ों को चराने के लिए निकल पड़ते हैं, दिन भर खुले स्थानों में घूमते हैं और शाम को वे अपनी झोपड़ियों में, जो प्रायः चीड़-वृक्षों के झुरमुट में होती हैं, लौट आते हैं। प्रकृति के स्वर्गोपम दृश्यों के बीच जब ये चरवाहे मस्त होकर तान छेड़ते हैं, तो इन पार्वत्य चरागाहों का वातावरण संगीत की झंकार से प्रतिध्वनित होने लगता है।

काश्मीर के जल-जीवन में यहाँ के हाँजियों[1] का बहुत हाथ है। हाँजी शरीर के मज़बूत और लगन के पूरे होते हैं। उनके डोंगे—हाउस-

1 'हाँजी' हिन्दी के माँझी शब्द का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है।

बोट—तैरते घर तो होते ही हैं, साथ ही वे उनके लिए व्यापारिक साधन भी सिद्ध होते हैं। धनी सैलानी यात्री इन हाउस-बोटों को किराये पर लेकर कई-कई मास तक उनमें निवास करते हैं। यात्रियों की छोटी सैर के निमित्त हाँजियों के पास सजे हुए शिंगारे—'शिकारे'—होते हैं। काश्मीर के जल-जीवन में हाँजियों के गीत एक विशेष स्थान रखते हैं।

हाँजी लोग प्रायः बड़े ईश्वर-विश्वासी होते हैं। उनके गीतों की टेक में प्रायः वह पुकार रहती है, जो जान-जोखिम का कार्य करते हुए निरन्तर उनके हृदय से झरा करती है। इन टेकों को वे बार-बार दुहराते हैं :—'या पीर! दस्तगीर!' (हे पीर! हमारी रक्षा कर); 'सबज़ार गुलज़ार' (ईश्वर करे यहाँ सब ओर चमन गुलज़ार हो); 'सुलेमान फुलहज़ान' (हे सुलेमान! सब ओर फूल-ही-फूल खिलें)।

: ३ :

भारत की अन्य भाषाओं की भाँति काश्मीरी भाषा भी संस्कृत की ही पुत्री है। काश्मीर में मुस्लिम राजसत्ता के साथ ही-साथ फारसी का भी आगमन हुआ ; अतः काश्मीरी भाषा के स्निग्ध अंचल में कितने ही फ़ारसी शब्द, रूपक, उपमा-अलंकार तथा मुहाविरे भी आ बसे। समय-समय पर पड़ोसी भाषाओं के अपभ्रंश भी काश्मीरी भाषा का भंडार भरते रहे। पर ग़रीब काश्मीरी को अपने जन्म-भर में, कभी एक बार भी, राज-भाषा बनने का सम्मान प्राप्त नहीं हुआ।

काश्मीरी लोक गीतों तथा कविताओं के अतिरिक्त काश्मीरी भाषा ने ललेश्वरी (चौदहवीं शताब्दी) और रूपभवानी (सत्रहवीं शताब्दी) जैसी कवित्रियों को जन्म दिया, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को काश्मीरी कविता में पिरो दिया। ललेश्वरी की भाषा प्रायः प्राचीनतम काश्मीरी का नमूना समझी जाती है ; पर वह वर्तमान काश्मीरी से भिन्न है। उस काल के ग्राम गीत नहीं मिलते। पन्द्रहवीं शताब्दी में काश्मीर-नरेश यूसफ ख़ां 'चक' की रानी 'हव्वा ख़ातून' ने और अठारहवीं शताब्दी में फारसी-कवि मुन्शी भवानीदास की पत्नी ने साधारण बोलचाल की भाषा में कविताएँ लिखी थीं, जिनमें बहुतों का तो अभी तक अनुसन्धान भी नहीं हो सका ; पर कितनी ही लोक-गीतों के रूप में आज भी प्रचलित हैं। कवियों में प्रकाशराम की रामायण, कृष्णदास का 'शिव लगन', मक़बूलशाह का 'गुलरेज़', महमूद गामी का 'शीरीं-खुसरो' और वलीअल्ला मत्तू का 'हिमाल-त नागराई' काव्य विशेष प्रसिद्ध हैं।

इनके अलावा कवि परमानन्द की कृतियाँ भी कम शानदार नहीं हैं। आजकल काश्मीर में एक प्रभावशाली लोक-कवि हैं—गुलाम अहमद 'महजूर'। 'महजूर' प्रायः आम बोलचाल की भाषा में लिखते हैं, इसलिए उनके अनेक गीत ग्रामवासियों के हृदय-जगत् में जा बसे हैं।

काश्मीरी लोक-गीतों की प्रमुख शाखाएँ ये हैं—(१) बाँड-जशन। ये वे गीत हैं, जिन्हें बाँड (ग्रामीण नट) अपने गीत नाटकों में गाते हैं। (२) बच-नग़मा जशन। इन्हें 'बच नग़मा' नर्तक अपनी नृत्य-प्रदर्शिनियों में गाते हैं। (३) सोंत ग्यवुन। 'सोंत' का शब्दार्थ है वसन्त। ये वे गीत हैं, जो वसन्त के स्वागत में गाये जाते हैं। (४) कथग्यवुन (कथा-गीत)। 'कथ' या 'वात' कथा-कहानी के अर्थों में आते हैं। इन गीतों में किसी नायक या नायिका का सजीव शब्द चित्र रहता है। (५) हाँजियों के गीत। (६) लोलग्यवुन। 'लोल' का शब्दार्थ है प्रेम; इन गीतों की आधारशिला प्रेममय अनुभूतियों पर ही स्थित रहती है। (७) वनवुन। विवाह-गीत। (८) ललनावुन। लोरियाँ। ललनावुन शब्द की सृष्टि 'ललवन' (शिशु की पीठ पर थपकियाँ) दे-देकर अथवा स्नेह-भरे हाथों से उसका पालना झुलाते-झुलाते उसे सुलाना) का ही एक रूप है। (९) गिंदन-ग्यवुन। बच्चों के खेल-गीत। (१०) यज्ञोपवीत ग्यवुन। यज्ञोपवीत-संस्कार के दिनों में हिन्दू घरों में गाये जानेवाले गीत। (११) रुफ। रुफ-नृत्य के साथ गाये जानेवाले मुस्लिम गीत। (१२) लोनन्यक ग्यवुन। लोवुन के शब्दार्थ हैं फ़सल काटना। ये वे गीत हैं, जिन्हें किसान लोग फ़सल काटने के दिनों में गाते हैं। (१३) चरवाहों के गीत। इनके दो प्रकार हैं, एक गूजरों के गीत, जिनकी भाषा काश्मीरी नहीं होती, बल्कि गूजरों की अपनी मिश्रित पहाड़ी बोली होती है, दूसरे काश्मीरी भाषाभाषी ग्रामीण चरवाहों द्वारा गाये जाने-वाले गीत। (१४) ग्रामीण सन्तों के गीत। इनकी भावधारा सूफ़ी कवियों की सी रहती। (१५) वान (मृत्यु समय के शोक-गीत)।

स्त्री ही काश्मीरी लोक-गीतों में पुरुष के सम्मुख यौवन की मादकता से भरा हुआ अपना हृदय प्रस्तुत करती है। स्त्री-हृदय में प्रस्फुटित होकर प्रेम कितना सात्विक हो उठता है, इसका कुछ अन्दाज़ा काश्मीरी गीतों की स्त्री के व्यक्तित्व में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। आदि से अन्त तक स्त्री का सौन्दर्य ही काश्मीरी लोक-कविता का मुख्य विषय प्रतीत होता है।

अक्टूबर मास है—केसर के फूलों पर पूरी जवानी है। पूर्णिमा की स्निग्ध चाँदनी में केसर की तरियाँ सुनहली झलक लिये अत्यन्त भली प्रतीत होती हैं। किसान न तो सौन्दर्य-पारखी है, न मर्मी कवि; पर इस बात ने उसे चकित

अवश्य कर दिया है कि वह केशर की सुनहली रूप-रेखा की प्रशंसा करे, या उसकी मधुमय सुगन्ध की—

सन ह्यु प्रज्जलान वारि मंज्ञ कुंग पोश
लग्यो परि हा कुंग पोश
चोंग ह्यु प्रज्जलान ज्ञुन पछ्स अन्दर
लग्यो परि हा कुंग पोश
कझ्म चे दितनई रंग हा कुंग पोश
लग्यो परि हा कुंग पोश
रंग हा ग्रेस्तयो ख़ुदायम दितनम
लग्यो परि हा कुंग पोश
कद्म चे दितनई मुश्क हा कुंग पोश
लग्यो परि हा कुंग पोश
मुश्क हा ग्रेस्तयो ख़ुदायम दितनम
लग्यो परि हा कुंग पोश
बकरह नालमत चे हा सोन कुंग पोश
लग्यो परि हा कुंग पोश

—'रे केसर-पुष्प ! मेरे खेत में तू स्वर्ण की भाँति दमक रहा है ।
मैं अपना तन-मन-धन तुझपर वार दूंगा ।
इस शुक्ल पक्ष में तू दीपक की भाँति प्रकाशमान है ।
रे केशर-पुष्प ! अपना तन-मन मैं तुझ पर वार दूँगा ।
किसने दिया है तुझे यह रंग, रे केसर-पुष्प ?
अपना तन-मन मैं तुझ पर वार दूँगा ।
यह रंग दिया है मुझे भगवान ने, रे किसान !
अपना तन-मन तुझ पर वार दूँगा ।
किसने दी है तुझे यह सुगन्धि, रे केसर-पुष्प ?
अपना तन-मन मैं तुझ पर वार दूँगा ।
यह सुगन्धि दी है मुझे भगवान ने, रे किसान !
अपना नत-मन मैं तुझ पर वार दूँगा ।
अभी लगाये लेता हूँ तुझे मैं अपनी छाती से, रे केसर-पुष्प !
अपना तन-मन मैं तुझ पर वार दूँगा ।'

किसान स्त्रियों के कल्पना-जगत् में उनके प्रीतम प्रायः केसर-पुष्पों तक के प्रेमपात्र बन जाते हैं—

यार गोमय पामपोर वते
कुंग पोशन रुट नाल मते
सु छुम तते बुछुस यते
बार साइबो बोजतम ज़ार

—'(मेरा) प्रीतम पामपुर (जहाँ केसर के खेत हैं) के पथपर गया
केसर-पुष्पों ने उसे अपनी छाती से लगा लिया
वह वहाँ है और मैं यहाँ
हे भगवन्! मेरा करुण क्रन्दन सुन।'

सौन्दर्य में कोई किसान स्त्री अपने को केशर-पुष्प से बढ़कर सुन्दर समझती है—

छुइ पानी जाये कोंग पोश ख्याल
बो छ्यस चेह खोत बड़ नफीस

—'अपने रूपपर घमंड न कर केसर-पुष्प!
मैं तुझ से कहीं बढ़ कर हूँ।'

अक्टूबर मास में जब केसर अपने पूरे रंग पर होती है, तो किसान-स्त्रियाँ पामपुर-यात्रा का गान करती हैं—

कुंगपोश पामपोर गछवइ वेसिए
गछवइ वेसिए कुंग पोश पामपोर
कुंग पोश दिल म्योन तम्बलावान
गछवइ वेसिए कुंग पोश पामपोर

—'चल री सजनी, हम केसर पुष्प की भूमि पामपुर की ओर चलें।
केशर-पुष्पों ने मेरे दिल में हलचल मचा दी है।
चल री सजनी, केशर-भूमि पामपुर की ओर चलें।'

इस आनन्द की झंकार में कभी-कभी किसी उदास हृदय का रुदन-भरा स्वर भी मिल जाता है:—

चोंन छुइ दुनियां उछनवोल कुंग पोश
म्यों छेन उछनवोल काँ कुंग पोश

—'अखिल संसार है तेरा दर्शक (तेरी रूप-रेखा का पारखी) रे केशर-पुष्प;
पर हा! मेरा दर्शक मेरे समीप नहीं है, रे केसर-पुष्प!'

काश्मीरी मां के वात्सल्य-भरे हृदय से निकली हुई लोरी में शिशु के प्रति कैसा भाव होता है, जब वह उसे सम्बोधन करके कहती है—

खोर छी चोंन बड़ नोज़ुक बावो

कुंग पोश छी मजि करान बावो

—'तेरे पैर कितने नाजुक हैं मेरे शिशु,

केसर-पुष्प इनका चुम्बन ले रहे हैं।'

अगरचे केशर काश्मीर की एक बहुत ही पुरानी उपज है, और 'राजतरंगिणी' तक में इसका जिक्र आया है, फिर भी पामपुर के आसपास के मुसलिम ग्रामवासियों का विश्वास है कि केसर मुस्लिम सन्त शोकबाब साहब की करामात का फल है। निम्नलिखित गीत में यही विचित्र विश्वास गुंथा हुआ है—

शोकबाब स'बुन क्या छुइ होशो
पाम्पोर के हा कुंग पोशो
नाद लाये हा जिगर गोशो
पाम्पोर के हा कुंग पोशो
नाल रटथ हा लोल पोशो
पाम्पोर के हा कुंग पोशो
शोकबाब स'बुन क्या छुई होशो
पाम्पोर के हा कुंग पोशो

—'अरे ओ शोकबाब साहब के करिश्मो
अरे ओ पामपुर के केसर-पुष्पो,
जिगर के टुकड़े कहकर तुम्हें बुलाऊँगी मैं,
अरे ओ पामपुर के केसर-पुष्पो
तुम्हें अपनी छाती से लगाये लेती हूँ
अरे ओ पामपुर के केसर-पुष्पो,
अरे ओ शोकबाब साहब के करिश्मो,
अरे ओ पामपुर के केरस-पुष्पो!'

केशर सचमुच काश्मीरी किसानों के कण-कण में समा गई है। दैनिक जीवन के गीतों में ही नहीं, विवाह आदि मंगल उत्सवों पर गाये जानेवाले गीत तक केसर में रंगे हुए हैं—

युज़मन बोये छुई प्रारान
नेरि नेरि माहरिन कुंग पोश त्रावान

—'बनरे की मां तेरी प्रतीक्षा कर रही है
बाहर आ जा री बनरी, केसर-पुष्पों की वर्षा करती हुई बाहर आ जा।'

यह सब-कुछ होने पर भी केसर की कथा दुःखान्त कथा है। सारे केसर के खेत काश्मीर-नरेश की व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं, जो ठेकेदारों को दिये हुए हैं।

किसान अपना खून-पसीना एक करके केसर उपजाते हैं; परन्तु उपज का आधा ठेकेदार बटोर लेता है और बाक़ी आधा किसानों में बाँट दिया जाता है। अतः बेचारे किसानों को मनचाही केसर नहीं मिल पाती। इसका आभास निम्न-लिखित गीत में मिलता है, जिसे न जाने कब किसी किसान ने अपने 'समद' नामक हमजोली को सम्बोधन करते हुए गाया होगा—

कुंगस रंग छो सोन ह्यू, यार
समद यार वुछ वार, लो लो
डेर करान-करान वथि असिगुम
अद गछ कोंग पेश सरकार लो लो

—'कितना सुनहला है केशर का रंग!
देख ले, रे समद, इसे जी-भरकर देख ले।
इसके ढेर लगाते-लगाते हम पसीने पसीने हो गये हैं।
हा! अब यह केसर सरकारी-ठेकेदार के सम्मुख ले जाई जायगी!'

काश्मीर की सौन्दर्य-पिटारी में झेलम एक अमूल्य हीरा है। भू-स्वर्ग काश्मीर का सर्वाङ्गपूर्ण सौन्दर्य झेलम के बिना शायद फीका लगता। झेलम का संस्कृत नाम है वितस्ता, और इधर काश्मीरी उसे 'व्यथ' कहते हैं। काश्मीरियों के हृदय में अपनी प्यारी 'व्यथ' का काफ़ी सम्मान है। बेरीनाग नामक स्थान पर, जो अकसर झेलम का उद्गम माना जाता है, प्रतिवर्ष भाद्र मास में शुक्लपक्ष की तेरस के दिन झेलम का जन्म-दिन मनाया जाता है। इस उत्सव का काश्मीरी नाम है 'व्यथ-त्रवाह'[1]। सैकड़ों नर-नारी श्रद्धा से एकत्रित होकर बेरीनाग में स्नान करते हैं, जो बहुत शुभ समझा जाता है, और मेले के रूप में झेलम का यश गान करते हैं। अन्य देशों के लोग अपनी नदियों का कितना ही सम्मान करते हों पर काश्मीरियों की भाँति अपनी नदियों का जन्म-दिन मनाना और कहीं नहीं सुना।

ऐसे काश्मीरी लोकगीतों की कमी नहीं, जिनमें झेलम के प्रति जनसाधारण का जातीय प्रेम प्रकट किया गया है।

निम्नलिखित गीत की नायिका झेलम के जल को प्रेम-जल ही समझती है—

हा म्यानीं पहेल्यो वलो वलो

१ व्यथ-त्रवाह का काश्मीरी पण्डितों द्वारा ही मनाया जाता है। यह भी याद रखना चाहिए कि काश्मीरी व्याकरण के अनुसार 'व्यथ' शब्द स्त्रीलिंग वाचक है।

त्रेश्चाबुनि म्याँनि व्यथि वलो वलो
जूला जालह् नावन चार्नी लोलइ वलो वलो
व्यथि कंजि लोल आब सगवुम गासो, वलो ! वलो
हंडिन त मुंगरन ख्यावो ई गासो वलो ! वलो
हा म्याँनी पहेल्यो वलो वलो
त्रेश्चावुनि म्यांनि व्यथि वलो वलो

—'आ मेरे चरवाहे, आ।
अपनी भेड़ों को पानी पिलाने मेरी झेलम पर आ।
आ, आ, तेरे स्वागत में मैं नौकाओं में दीप-माला करूँगी।
जेहलम तटपर मैंने प्रेम-जल से घास सींची है
अपनी बकरियों तथा भेड़ों को यह घास खिलाने आ
आ मेरे चरवाहे, आ।
अपनी भेड़ों को पानी पिलाने मेरी झेलम पर आ।'

सौन्दर्य के वर पात्र झेलम को, जो सदैव ही एक कवि-कल्पना-सम्पन्न विभूति है, एक युगल गीत में 'प्रेम की गहरी जेहलम' कहकर जेहलम की गम्भीरता प्रकट की गई है--

तारदिम अपोर हाँजा यार
सनि व्यथ छ वसान अश्कनी, हा यार
नाव मंज हिकि विहिथ आश्कई, यार
सनि व्यथ छ बसान आश्कनी, यार

— 'उस पार ले चलो रे माँझी, ओ प्रियतम !
जहाँ प्रेम की गहरी जेहलम बह रही है, ओ प्रियतम !
नौका मे बैठ सकता है कोई प्रेमी ही, ओ प्रियतम !
यहाँ प्रेम की गहरी जेहलम बह रही है, ओ प्रियतम !'

जेहलम का सत्कार-गान करने के लिए माँझी-शिशुओं को वयोवृद्ध नर-नारियों के गीत उधार नहीं लेने पड़ते। उनके पास स्वयं ऐसी मीठी तुकों की कमी नहीं, जो स्वतः ही अविराम कलकल ध्वनि से भरा करती हैं—

वार-वार पकवनि व्यथिए लो लो
लगई बार परि व्यथिए लो लो
चे कुत छुइ शान व्यथिए लो लो
लगइ बऽपरि व्यथिए लो लो

—'रे धीर गति से बहनेवाले जेहलम,

मैं तुम पर कुरबान जाऊँ, ओ जेहलम !
कैसी शान है तेरी, ओ जेहलम !
मैं तुम पर कुरबान जाऊँ, ओ जेहलम !

जिस प्रकार बंगाल में तितली प्रजापति का दूत—प्रणय का प्रतीक—समझी जाती है, उसी प्रकार काश्मीर की लोकवाणी में चिनार-पत्र प्रणय का चिह्न है ! जब कोई युवक अपनी प्रेमिका को चिनार-पत्र भेजता है, तो वह मूक भाषा में उसके पास यही सन्देश भेजता है कि 'मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ ।' निम्न-लिखित गीत की नायिका अपने प्रेमी के भेजे हुए चिनार-पत्र को प्रेम-पत्र समझकर इस बात की साक्षी दे रही है—

यारहुंद सोजमुत बोनिपन मदनो
लग्यो परि हा मदनो
हुस्नुक श्याजाद बोनिपन मदनो
लग्यो परि हा मदनो

—'रे मेरे प्रेमी के भेजे हुए चिनार-पत्र,
रे कामदेव, मैं तुम पर कुरबान जाऊँगी ।
तुम सौन्दर्य के शहज़ादे हो रे चिनार-पत्र,
रे कामदेव, मैं तुम पर कुरबान जाऊँगी ।'

जैसा कि काश्मीर की एक सुविख्यात् लोकोक्ति —'शाल, शाली, शलगम' से प्रत्यक्ष है, काश्मीर को 'शालों की भूमि' कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी । सचमुच जगत् विख्यात् शाल काश्मीरी शिल्प की सर्वोत्कृष्ट कृति हैं । भले ही आज विदेशों में शाल का उतना प्रचार नहीं रहा; पर कोई समय था, जब यूरोप की स्त्रियाँ शाल के बिना अपने शृंगार को अधूरा ही समझती थीं । सम्राट् अकबर ने काश्मीर के शाल निर्माताओं को इतना अधिक प्रोत्साहन दिया था कि यहाँ के कलाविदों ने ऐसे-ऐसे शाल भी बना डाले थे, जिन्हें लपेटकर अंगूठी तक में गुजारा जा सकता था ।

भेड़ों के मामूली ऊनका धागा अच्छे शाल के लिए बिलकुल ही इस्तेमाल नहीं किया जाता । शाल के ऊनका नाम है पश्मीना । यह 'केलि' नाम के तिब्बती बकरे से प्राप्त होता है; पश्मीने का तिब्बती नाम है 'केलि फम्ब' । कितने ही यूरोपवासियों ने शुरू-शुरू में यह कोशिश की थी कि इन तिब्बती बकरों को खरीदकर वे अपने देशों में ले जायँ और वहीं शाल बनायें; पर इसमें उन्हें सफलता न मिल सकी । कुछ बकरे तो रास्ते की गर्मी से मर गये और जो दूसरे देशों में जीवित पहुँचे भी, उनके, एक बार काटने के पश्चात् फिर पश्मीना

उगा ही नहीं।

'केलि' बकरों के ऊपरी बाल बड़े मोटे तथा खरदरे होते हैं। इन मोटे बालों के नीचे रेशम से भी नरम 'फम्ब' होती है, जिसे प्रकृति उन्हें शीत से बचाने के लिए पैदा करती है। ग्रीष्मऋतु में सर्दी घट जाने पर बकरों को इसकी जरूरत नहीं रह जाती, तब चरवाहे इस फम्ब को उतार लेते हैं और इसे काफी सस्ते दामों में काश्मीरी व्यापारियों के हाथ बेच डालते हैं। फम्ब को अनेक प्रयोगों में से गुज़रना पड़ता है, तब कहीं जाकर वह शाल निर्माण के उपयुक्त होता है।

काश्मीरी लोक-गीतों में 'शाल' का ज़िक्र आना स्वाभाविक ही है। निम्नलिखित गीत की नायिका अपने प्रेमी के लिए स्वयं अपने गृह में 'शाल' बनाने जा रही है—

केलि फम्ब कतइ पनन्यव अथव
कुंग कुई रंग करनाव्यो
ज़विल शाल वोनुइ पनन्यव अथव
कुंग कुई रंग करनाव्यो

—'अपने हाथों से मैं पश्मीना कातूंगी।
इस पर केसरी रंग चढ़ाऊँगी।
अपने हाथों से मैं एक बाँका शाल बुनूँगी।
उस पर केसरी रंग चढ़ाऊँगी।'

काश्मीर की एक लोकोक्ति है—'पश्मीन सुइ छेह नरमी'—पश्मीना ही नरमी रखता है। निस्सन्देह रेशम भी पश्मीने से कुछ कम नरम नहीं होता; पर काश्मीरी जनसाधारण के यहाँ तो पश्मीना नरमी का आदर्श बन गया है। निम्नलिखित गीत की नायिका पश्मीने की अनोखी नरमी का ही गान कर रही है—

नरमी वुछ्त क्या छी पशमीनस
तम्युक नरमीश्र छ्यस ब ग्यवान
जनतस मंज़ कुरने तियार
तम्युक नरमीश्र छ्यस ब ग्यवान
पशमीनिच दस्तारछी म्योंनस यारस
पशमीनिच फिरनछी म्योंनस यारस
नरमी वुछ्त क्या छी पशमीनस
तम्युक नरमीश्र छ्यस ब ग्यवान

—'ज़रा पश्मीने की नरमी की ओर तो निहारिये
मैं पश्मीने की नरमी का ही गान कर रही हूं
पश्मीने का निर्माण स्वर्ग में हुआ है
मैं पश्मीने का ही गान कर रही हूं
पश्मीने की ही बनी है मेरे प्रेमी की पगड़ी
पश्मीने का ही बना है मेरे प्रेमी का फिरन
ज़रा पश्मीने की नरमी की ओर तो निहारिये
मैं पश्मीने की नरमी का ही गान कर रही हूँ।'

काश्मीरी विवाह के सर्वप्रथम गान में हमेशा भगवान को धन्यवाद दिया जाता है। मुस्लिम गीत में यह तुक रहती है—

बिसमिल्ला करिथ हिमाओ वनवोनइ
साहिबन यि दोह होवये

—'बिसमिल्ला कहकर हमने विवाह-गान आरम्भ कर दिया,
खुदा ने हमें आज का दिन दिखाया।'

इसी गीत का हिन्दू रूपान्तर निम्नलिखित है—

शुकलम करिथ वनवुन हितुह
माजि भवानी शुभफल दितुह

—'शुकलम्, कहकर हमने विवाह-गान आरम्भ कर दिया।
माँ भवानी ने हमें शुभ फल दिया है।'

बनरे की तुलना की जाती है खिलते हुए गुलाब से और आशीर्वाद की तुलना की जाती है अविराम कल-कल निनाद से बहने वाली पहाड़ी नदी से। भगवान के दरबार में बनरे के लिए प्रार्थना करती करती स्त्रियाँ गाती हैं—

याला यि गुलाब गछ्र फलवुनिये
ज ई पखवोनिये रहमुतर्ची

—'या अल्ला, यह गुलाब खूब खिले,
यह आशीर्वाद-धारा सदा बहती चली जाय।'

काश्मीरी स्त्रियाँ कन्या की तुलना प्रायः खूबानी से किया करती हैं। इस भाव की एक लोकप्रिय कहावत भी है—

कूरि बड़नस्त चेर पपनस
छुह केंह ति लगान

—'कन्या के बढ़ने में और खूबानी के पकने में
देर ही कितनी लगती है?'

यह है भी ठीक, क्योंकि जिस प्रकार कन्या बालक से कम उम्र में ही युवती हो जाती है, उसी प्रकार खूबानी काश्मीर के अन्य सभी फलों से कम समय में ही पक जाती है।

निम्नलिखित गीत में बनरी को स्वर्गीय खूबानी कह कर इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया गया है—

जनत मंज़ खचखाइ ख्यववुन चेरि
पाछा कूरि बुबारक
माजि यलि ज़ायक पाछा कूरि
वबन पनिग गलिये द्रछ द्रछ दियार
खुदाइ दितनइ अक़ल बज़ीरी
पाछा कूरि बुबारक

—'री स्वादिष्ट खूबानी, पहले तेरा जन्म स्वर्ग में हुआ
तुझे मुबारक हो री शहज़ादी,
जब माता ने तुझे जन्म दिया
तेरे पिता ने मुट्ठियाँ भर-भर धन बाँटा
खुदा ने तुझे वज़ीर-जैसी बुद्धि दी
तुझे मुबारक हो री शहज़ादी।'

जिस दिन बनरा अपने शिकरे पर बनरी को लेकर आता है, बनरे की माता केवल जेहलम के किनारों पर ही नहीं, काश्मीर-भर में दीप-माला जलाने की कल्पना करती है। इसका सुन्दर और सजीव चित्र एक विवाह-गान में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

जूला ज़ालइ म्योंनी विथि वठयन
महाराज़ यिये छट शिकारि क्येथ
जूला ज़ालइ सरिसुइ कशीरि
महाराज़ यिये माहरिन ह्यथ

—'मैं जेहलम के किनारों पर दीप-माला जलाऊँगी
बनरा छोटे से शिकरे में लौटेगा
मैं काश्मीर-भर में दीप-माला जलाऊँगी
बनराबनरी के साथ लौटेगा।'

सुदूर स्थान से आनेवाली बरात को समय पर पहुंचने में ज़रा देर हो जाती है, तो बधू-गृह की स्त्रियाँ अपने पक्ष की तुलना जौ के पके हुए खेत से और वर-पक्ष की तुलना धान के अध-पके खेत से करती हुई गाती हैं—

उषक दाय हिलितै दानि कर पूरे
दूरिक यनिबोल कर वाते
—'जौ की बालियाँ बिलकुल ही पक गई हैं
धान की बालियाँ कब पकेंगी
सुदूर-बरात कब पहुंचेगी ?'

निम्नलिखित गीत मुसलिम स्त्रियों का लोक-प्रिय गीत है, जिसे वे विवाह-सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं का सम्पादन करते वक्त सम्मिलित स्वर से गाती हैं—

दोहस गिंदथम सेप्पन साये
कालचन जुवल माले द्राख
नेरसा चेरगोई मजनुन खांने
दपनम मुलक बेगाने आख
शाहज़ाद महाराज़ सैलस नेरे
लागस शेरे कोसम पोश
स्नान करि नागन बागन फेरे
लागस शेरे कोसम पोश
सन सिंद पालिके खस मख्त हेरे
रोप सिंद ताजुक रठवा होश
आम खास गलिमिथ चानें वेरे
लागस शेरे कोसम पोश
बागस फजह मच पोशे थरे
नागस प्येठ सबज़ार बोश
रोशवंल पोश छाव वेरे वेरे
लागस शेरे कोसम पोश

—'रात भर तू आंखमिचौनी खेलता रहा
आ जा, अब तो काफ़ी देर हो गई है, आ जा रे मजनू !
तू अब इस प्रदेश में आ गया है,
शहज़ादा बनरा सैर करने जायगा,
मैं उसकी कलगी को 'कोसम' पुष्पों से सजाऊँगी।
अनेक चश्मों में स्नान करके बनरा बाग़ में टहलेगा,
मोतियों की सीढी द्वारा सुनहली पालकी में चढ जा रे बनरे,
पर देखना कहीं तेरा चाँदी का ताज न हिलने पाये,
धनी-मानी तथा साधारण सभी तेरी खुशी में खुश हो रहे है,

मैं तेरी कलगी को 'कौसम' पुष्पों से सजाऊँगी,
बाग में सबके सब वृक्ष फूलों से लद गये हैं,
चश्मे के समीप की फुलवाड़ी में बसन्त आ गया है,
दबे पैरों से लचक-लचककर यहाँ आ,
और प्रत्येक फूल को मधुमय स्पर्श प्रदान कर।'

बसन्त में काश्मीर का प्राकृतिक सौन्दर्य, सहस्रों रूप-रंगों में फूट पड़ता है। उस समय काश्मीरी लोक-गीतों में यौवन और सौन्दर्य के स्वर गले मिलते नज़र आते हैं—

दूरे आखो युम्बरजलि छाँडान
थकिमथि मुसैफर वेह् येत्यथ
थकिमथि बुम्बरो वेह् येत्यथ
युम्बरजल ति आस ये प्रारान
थकिमति मुसैफर वेह् येत्यथ
थकिमति बुम्बरो वेह् येत्यथ

—'दूर से तू नरगिस की तलाश में यहाँ आया है
रे थके हुए मुसाफिर, यहाँ बैठ
रे थके हुए भ्रमर, यहाँ बैठ
नरगिस का फूल भी तेरी प्रतीक्षा कर रहा था
रे थके हुए मुसाफिर, यहाँ बैठ
रे थके हुए भ्रमर, यहाँ बैठ।'

लज फुलय अन्द वनन
च कनन गोय न म्योन
लज फुलय कोल सरन
वोथु नीरन खसवो
फोलि योसमन अन्द वनन
च कनन गोय न म्योन
वनि दिमइ आरवलन
यार कुति मे लखना

—'सुदूर के वनों में फूल खिलने लग गये हैं
क्या मेरे खिलते हुए सौन्दर्य की चर्चा तेरे कानों तक नहीं पहुंची?

'कोलसर' की-सी पहाड़ी झीलें जल-पुष्पों से भर गई हैं।
आ, हम चरागाहों की ओर चढ़ेंगे।
सुदूर के वनों में यास्मिन पुष्प खिलने लग गये हैं
क्या मेरे खिलते हुए सौन्दर्य की चर्चा तेरे कानों में नहीं पड़ी?
मैं आरवल पुष्पों का कोना-कोना देखूँ-भालूँगी
साजन, तुम मुझे कहीं नहीं मिलोगे क्या?'

इधर काशी के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ हो चुका है। काश्मीर के चित्र में आज नये रंग उभर रहे हैं। ये रंग एक दिन लोकगीत में भी अवश्य एक नई प्राण-प्रतिष्ठा करेंगे।

अन्तःपुर का संगीत नृत्य
(पद्मावती ग्वालियर से प्राप्त,
पांचवीं शताब्दि)

चीन जनपदों का हल्लीस्क नृत्य
ालियर की वाद्य गुफा से प्राप्त,
पां[illegible]वीं-छठी शताब्दि)
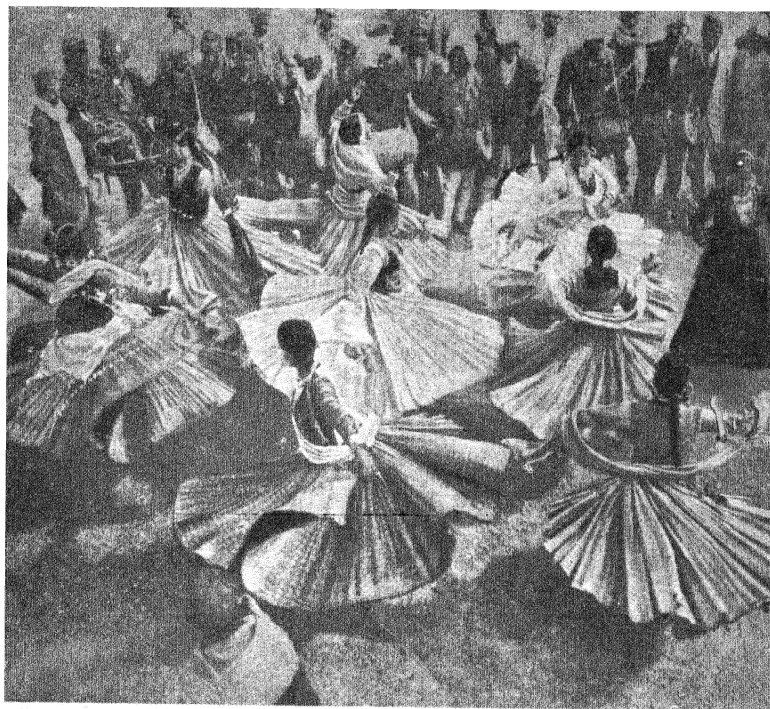
ऊपर :
गढ़वाल का केदारी नृत्य।
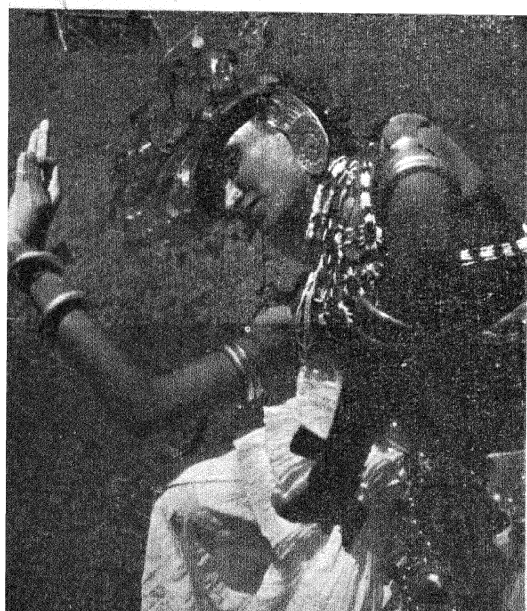
नीचे :
लंका का एक नर्तक

दाहिने ऊपर :
प्रकाश-रेखाएँ

बायें नीचे :
धूप-छांह
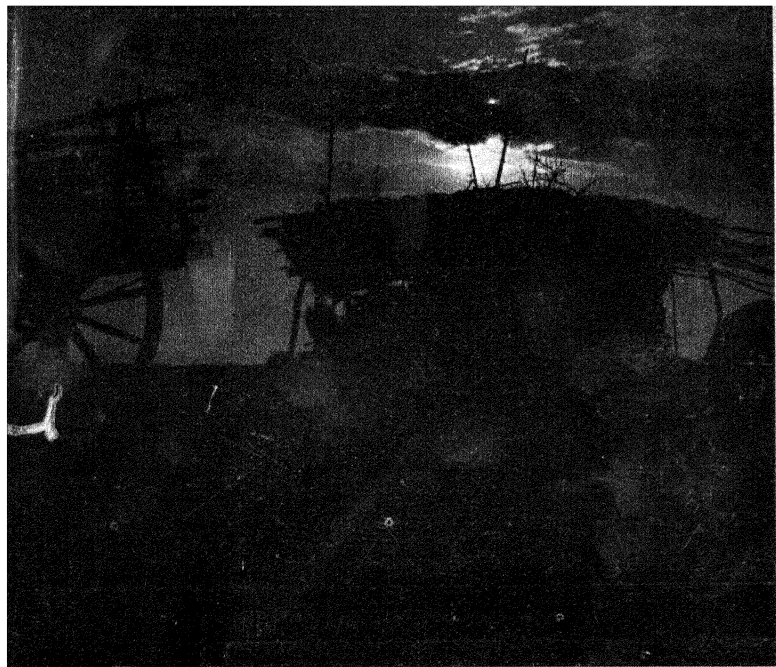
ऊपर :
लेखक एक
अफरीदी गायक
के साथ

नीचे :
अफरीदी युवती
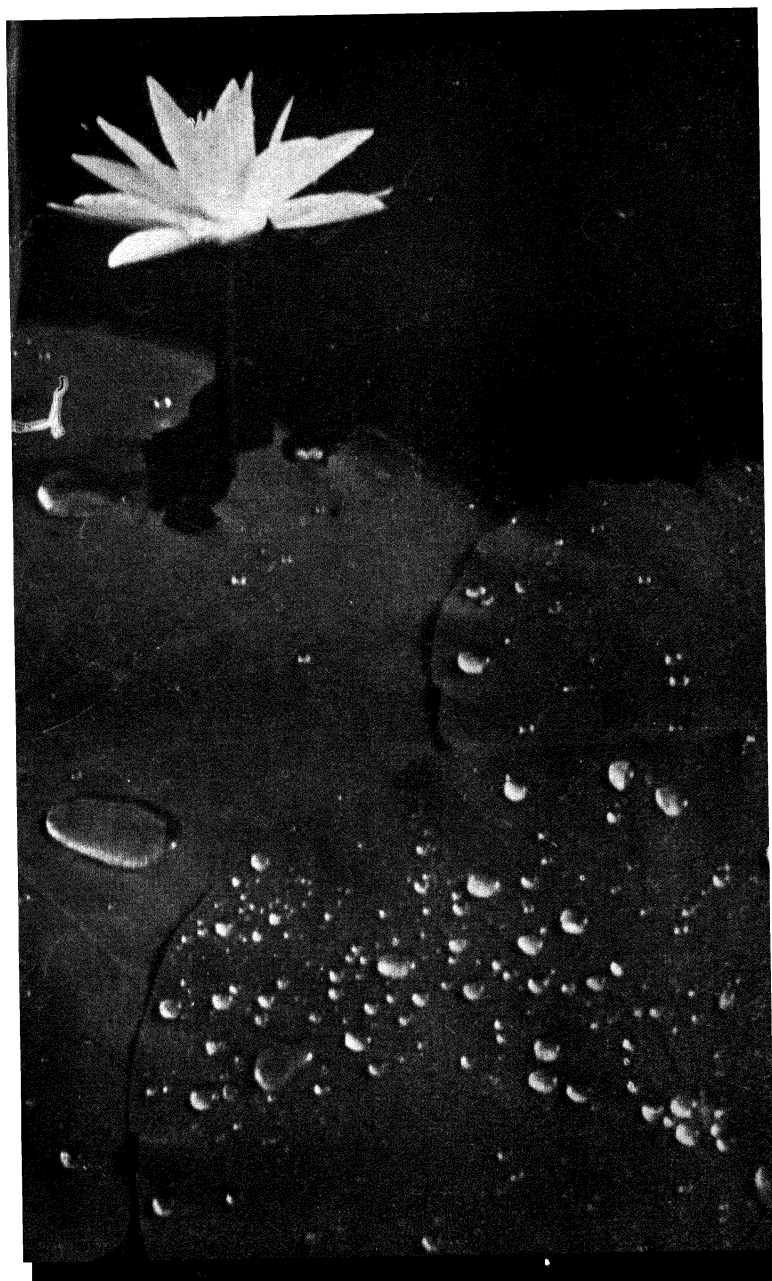
प्रकृति का शृंगार

बायें-ऊपर :
कुल्लू के दशहरे का एक दृश्य

नीचे-बायें :
साँझ की बेला

कुल्लू की एक सुन्दरी

नीचे :
मरुस्थल की नौका

ऊपर :
बचपन की सखियाँ

नीचे :
ब्रह्मपुत्र का एक दृश्य
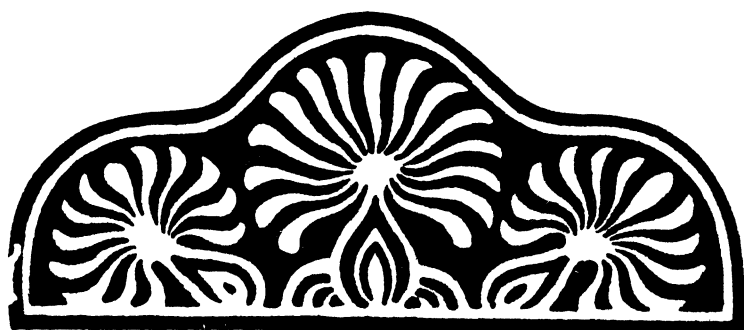
७

करुण रस

कवि और कलाकार के लिए संसार रसमय है। हमारे देखने, सुनने, रोने, गाने, हँसने और नाचने में पग-पग पर रस की अटूट तथा अमिट सत्ता का प्रादुर्भाव हो रहा है। 'रसो वै सः' का आलाप करते हुए उपनिषद्कार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि संसार का स्रष्टा रसरूप है।

कभी-कभी दूसरे की आँखों में आँसू देखकर हम भी रोने लग जाते हैं। हृदय के कपाट खुल जाते हैं, और हमारा संकुचित दृष्टिकोण विशाल हो जाता है, सहानुभूति का सोता उमड़ पड़ता है, प्रेम का अविराम नाद सजीव हो उठता है, और रुँधे हुए कंठ से हम सान्त्वनापूर्ण उद्गार प्रकट करते हैं, कितने उदार, कितने व्यापक! उस समय हमारी आँखें नहीं रोतीं, हमारा हृदय रोता है। इस प्रकार धीरे-धीरे करुणरस का विकास होता है।

जीवन की प्रत्येक दिशा में करुण रस की गंगा बह रही है, और प्यासे की प्यास बुझा रही है। जहाँ मनुष्यता तड़प रही है, जहाँ बुझे हुए दिल ठुकराये जा रहे हैं, जहाँ ग़रीबी रो रही है, जहाँ मूक वेदनाओं का ताण्डव-नृत्य हो रहा है, जहाँ अन्याय गज़ब ढा रहा है, वहाँ करुणरस हमें पशु से देवता बना रहा है। हम पराई आग में कूदने के लिए तैयार हो उठते हैं। अपने-पराये की सुध नहीं रहती।

रसज्ञों ने करुणारस की प्रधानता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। भवभूति के कथनानुसार—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान्
आवर्त बुदबुद तरंगमयान विकारान
अम्भो यथा सलिलमेवाहि तत्समस्तम

—'रस केवल एक ही है, और वह करुणरस है। विषय भेद से करुण-रस ही भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है—जैसे, जल एक ही होता है, पर रूप-भेद से भँवर, बुलबुला, तरंग आदि नाम पाता है।'

ख़ालदा ख़ानमका कथन है—'कवि का काम है रोना। यदि वह रोना और रुलाना नहीं जानता, तो वह दार्शनिक हो सकता है, निबन्ध लेखक हो सकता है, इतिहासज्ञ हो सकता है, पर आकाश के सुन्दर तारों की सौगन्द, वह कवि नहीं हो सकता।'

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं—

आमि ढालिबो करुणा-धारा
आमि भांगिबो पाषाण कारा
आमि जगत् प्लाविया बेड़ाबो गाइया
आकुल पागल पारा

—'मैं करुणा की धारा बहाऊँगा,
मैं पाषाण-कारागार तोड़ दूँगा
मैं जगत् को जलमय करता हुआ
किसी व्याकुल पागल की भाँति गाता फिरूँगा।'

दैनिक जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते हैं, जब जनता करुण गाथाएँ गाकर अपनी आँखें भिगो लेती है।

किसी माँ का एक ही बेटा था। बेचारा भूख की ज्वाला से तंग आकर परदेश चला गया कि कुछ कमाकर लाये। जब वह वापिस आ रहा था तो रास्ते में अपनी बहिन की ससुराल में रुक गया। लालच से अन्धी होकर बहिन ने अपने भाई का बध करा दिया। इस गाथा को पंजाब प्रान्त में गीत के रूप में गाया जाता है। ईश्वर जाने यह घटना कितनी पुरानी है; पर जब चरख़ा कातती हुई स्त्रियाँ इस गीत को करुण स्वरों में गाती हैं, तो सुननेवालों के हृदय में एक हूक-सी उठने लगती है:—

इक्को माई दा पुत्त क सोई परदेस गया, क सोई परदेस गया
गया दख्खन दी बाही नामाँ ओहदा लग्ग वी गया

क नामाँ ओहदा लग्ग वी गया
ग्वट्ट के आया भैण दे कोल क भैण भेद लै वी लिया
क भैण भेद लै वी लिया
की कुज्झ वीर पल्ले ते की कुज्झ डेरे रिहा
की कुज्ज डेरे रिहा
पंज सौ भैणाँ पल्ले क पज सौ डेरे रिहा
क पंज सौ डेरे रिहा
भज्जी-भज्जी गई माईं दे कोल साइयाँ अरज मन्नें
क साइयाँ अरज मन्नें
वीर मेरे नूँ मार माया घर बे रवे
क माया घर बे रवे
बैठ कुत्ती कमजात साला मेरा कौन बने
क साला मेरा कौन बने
भज्जी-भज्जी गई पुत्र दे कोल पुत्रा अरज मन्नें
क पुत्रा अरज मन्नें
वीर मेरे नूँ मार माया घर बे रवे
क माया घर बे रवे
बैठ कुत्ती कमजात मामा मेरा कौन बने
क मामा मेरा कौन बने
भज्जी भज्जी गई दियोरा दे कोल दियोर अरज मन्नें
क दियोरा अरज मन्नें
वीर मेरे नूं मार माया घर बे रवे
क माया घर बे रवे
उट्ठिया शेर इलाही कीते आ डक्के चार
गहीरे बिच्च लिप्प बे दित्ता
छुट्टी पुरे दी वा गहीरा ढै वी पिया
गहीरा ढै वी पिया
उट्ठिया भौर नमाणाँ माँ जी दे पास गया
क माँ जी दे पास गया
उट्ठ दस्स माए सुत्तिए क पुत्त तेरा किद्धर गया

क भैण नें मार सुट्टिया
भज्जी-भज्जी आई ए धी दे कोल धीए दौलत लैंदी खोल
क वीर काहनूँ मारिया सी

—'माता का एक ही पुत्र था, वह परदेश चला गया,
परदेस चला गया,
वह दक्षिण की ओर गया, और कहीं नौकर हो गया
कहीं नौकर हो गया।
धन कमाकर लौटते हुए बहिन के पास ठहर गया, बहिन ने भेद ले लिया,
बहिन ने भेद ले लिया।
कितना रुपया तुम्हारे पास है, भाई, कितना डेरे पर रह गया,
कितना डेरे पर रह गया ?
पाँच सौ रुपया मेरे पास है, और पाँच सौ डेरे पर रह गया,
पाँच सौ डेरे पर रह गया।
भागती-भागती वह पति के पास गई—पति देव, मेरा कहा मानो,
मेरा कहा मानो,
मेरे भाई का बध कर दो, उसका धन हमारे पास रह जाय,
धन हमारे पास रह जाय।
दूर हट, कमज़ात कुतिया, मेरा साला कौन बनेगा ?
मेरा साला कौन बनेगा ?
बहिन भाग कर अपने पुत्र के पास आई—पुत्र, मेरा कहा मानो,
मेरा कहा मानो,
मेरे भाई का बध करदो, धन घर में रह जाय,
धन घर में रह जाय।
बैठ कमजात कुतिया, मेरा मामा कौन बनेगा,
मेरा मामा कौन बनेगा ?
बहिन दौड़कर देवर के पास आई - देवर मेरा कहा मानो,
मेरा कहा मानो,
मेरे भाई का बध कर दो, उसका धन हमारे पास रह जाय।
शेर इलाही उठा और उसने चार टुकड़े कर डाले,
उपलों के ढेर में छुपा कर लेपन कर दिया।

पूर्वी हवा चली, और उपलों का ढेर गिर पड़ा,
उपलों का ढेर गिर पड़ा,
भाई की आत्मा उड़ती-उड़ती माता के पास गई,
माता के पास गई—
उठ मा, जागकर बता, तेरा पुत्र कहाँ है ?
बहिन ने भाई का बध कर डाला !
माँ भाग कर बेटी के पास आई और बोली—बेटी, धन तो खोल लेती,
भाई को क्यों मार डाला !

उधर शिमला की पहाड़ियों में लोग मोहन का गीत प्रेम से गाते हैं। गाथा बतलाती है कि मोहन के भाई ने किसी राज्य-कर्मचारी का बध कर दिया था, और मोहन ने अपने भाई की जान बचाने के लिए कह दिया था कि इस सिपाही को मैंने मारा है। इस पर मोहन को फाँसी हो गई थी। मोहन का अपनी माता तथा राजा के साथ वार्तालाप प्रस्तुत किया गया है—

कुन्नीं मारीदा नो मोहना कुन्नीं मारीदा
मेरा फौजी रँगरुटिया कुन्नीं मारीदा
मैं ई मारीदा नो राजा मैं ई मारीदा
तेरा फौजी रँगरुटिया मैं ई मारीदा
फाँसी चढ़ना नो मोहना फाँसी चढ़ना
मारिया मेरा रँगरूटिया फाँसी चढ़ना
मैं नी डरदा नो राजा मैं नी डरदा
एना भाइयाँ दियाँ-बिरियाँ मैं नी डरदा
कज्जों छुपिरा नो मोहना कज्जों छुपिरा
मेरियाँ फुल्लाँ दियाँ लाड़ियाँ ए कज्जों छुपिरा
मैं नीं छुपिरा नो राजा मैं नी छुपिरा
एस फुल्लाँ दियाँ लाड़ियाँ ए फूल चुगिरा
रोटी खाईलै नो मोहना रोटी खाईलै
एस अम्बड़ी दे हथ्थ्याँ दी ए रोटी खाईलै
मैं नी खाणीं नो माए मैं नी खाणीं
एहनाँ मरदियाँ बिरियाँ मैं नीं खाणीं
दुद्ध पीईले नो मोहना दुद्ध पीईले

एस अम्बड़ी दे हथ्थाँ दा ए दुद्ध पीईले
मैं नी पीणाँ नो माए मैं नी पीईणाँ
एस मरदियाँ बिरियाँ मैं नी पीईणाँ
वड्डी रोंदी नो मोहना वड्डी रोंदी
तेरी छोटड़ी ए बाह्मणी ए बड्डी रोंदी
काहनू रोणाँ नो माए काहनू रोणाँ
मरना भाइयाँ दियाँ बिरियाँ काहनू रोणाँ
कुन्नीं बज्जनीं नो मोहना कुन्नीं बज्जनी
तोरियाँ हथ्थाँ दियाँ बनसरियाँ ए कुन्नी बज्जनीं
भाइयाँ बज्जनी नो माए भाइयाँ बज्जनी
मेरे हत्थां दियां बनसरियां भाइहां बज्जनी
आए लोकी नो मोहना आय ने लोकी
तेरे हासे तमासे ए आए ने लोकी
कोई नी दरदी नो माए कोई नी दरदी
एस फगुए बलासपुर आए ने लोकी

—'किस ने मारा, हे मोहन, किस ने मारा.
मेरे फ़ौजी रँगरूट को किसने मार डाला ?
मैं ने ही मारा है राजा, मैंने ही मारा,
तेरे फ़ौजी रंगरूट को मैंने ही मार डाला ।
तुम्हें फांसी पर चढ़ना होगा, मोहन; फांसी पर चढ़ना होगा,
तुमने मेरा रंगरूट मार डाला, तुझे फांसी पर चढ़ना होगा ।
मैं नहीं डरता, राजा मैं नहीं डरता
भाई के बदले फांसी पर चढ़ते मैं नहीं डरता
कहां छिपे हो, मोहन, कहां छिपे हो,
मेरी फुलवाड़ी में तुम कहां छिपे हो ?
मैं छिपा नहीं, राजा, मैं छिपा नहीं,
मैं फुलवाड़ी में फूल चुन रहा हूं ।
रोटी खा ले, मोहन, रोटी खा ले,
माता के हाथों की रोटी खा ले।
मैं नहीं खाऊंगा, माता, मैं नहीं खाऊंगा,

अब मरते समय मैं नहीं खाऊँगा।
दूध पी ले, मोहन, दूध पी ले,
अपनी माता के हाथों से दूध पी ले,
मैं नहीं पीऊँगा, मां, मैं नहीं पीऊंगा,
अब मरते समय मैं नहीं पीऊंगा।
बहुत रोती है, मोहन, बहुत रोती है,
तुम्हारी छोटी ब्राह्मणी बहुत रोती है,
काहे रोना, मा, काहे रोना,
भाई के लिए मरना—फिर काहे रोना।
कौन बजायेगा, मोहन, कौन बजायेगा,
तेरे हाथों की बांसुरियां कौन बजायेगा?
भाई बजायेगा, मां, भाई बजायेगा
मेरे हाथों की बांसुरियां भाई बजायेगा।
लोग आये हैं, मोहन, लोग आये हैं,
तेरा उपहास करने के लिए लोग आये हैं।
कोई मेरा दरदी नहीं, मां, कोई दरदी नहीं
फग्गू से लेकर विलासपुर तक के लोग आये हैं!'

सीमाप्रांत की पठान महिलाओं के गीत लैला-मजनूँ की प्रेम-गाथा से ओत-प्रोत हैं। किसी-किसी पठान लोकगीत में मजनूं की करुण दशा चित्रित की गई है—

मजनुन न रकड़े खैर
राओलई ग़नीमुरमाँ
लैला वेले मोरे दिल तू
फ़कीर दे ज़ ख़ैर वरता वरुल्माँ
लैला वेले मोरे ज़्द खुदाया
दिने कई तमाँ कऊमाँ
आख़िर दा चि लैला
ख़ैर वर तराओलो
मोरे वर पसे आवाज़ अकड़ो
लुरे वले श्वई ईसारा

लैला वेले मोरे मजनुन ड़ू दे
लार वरदा खैमाँ
ज़ारे दा द मजलुन
द हर कदमाँ

--'मजनूँ लैला के दरवाजे पर आया,
भिक्षा दो, नहीं तो मरता हूं।
लैला ने कहा -- माँ! हमारे द्वार पर कोई फ़क़ीर आया है,
मैं उसकी झोली में भिक्षा डालने जाती हूं।
माँ बोली--बेटी, तुम आराम से बैठो,
मैं भिक्षा डाले आती हूँ।
लैला ने उत्तर दिया--नहीं माँ, मैं ईश्वर से नेकी की इच्छुक हूँ,
भिक्षा डालने मैं ही जाऊँगी।
आख़िर लैला भिक्षा डालने गई।
माँ ने आवाज़ दी--बेटी, इतनी देर कहां लगाई?
लैला बोली - माँ, मजनूँ अन्धा है,
मैं उसे रास्ता दिखा रही थी,
पग-पगपर उसके पैर,
अपने आँसुओं से धो रही थी।

एक दूसरे पश्तो लोकगीत में मजनूँ को लैला की मृत्यु पर अश्रुपात करते दिखाया गया है—

तूतान पाखशू लैला मनशवा
मा वसउ देह वख़त मशखुलवहु
मजलुन जंगल फजड़ाशू
मस्त लैला व मकुन गुलशन केवी
मजलुन द ज़न मजनूँ नाँ
चपै लैला बाँदे अशक़ शो मजलुन शो

—'शहतूत पक गये, और लैला मर गई।
जब लैला जीती थी,
मैं शहतूत झाड़ देता था,
और लैला खा लेती थी।

—'हे महाप्रभु ! हे जगन्नाथ !

आपकी उपस्थिति में हम अनाथ हो गये, हे महाप्रभु !

आज इमली की पत्ती भी स्वप्न हो गई । हे महाप्रभु !

कितने ही लोग पानी में डूब गये, हे महाप्रभु !

माताएँ बेटों को छोड़ गई,

गाएं अपने बछड़ों को छोड़ गई हे महाप्रभु !

हमारे घर पानी में डूब गये ।

कोई वृक्षों के ऊपर चढ़ गये और अनायास ही डूब गये हे महाप्रभु !

हमारे घर बिलकुल ही नष्ट भ्रष्ट हो गये, हे महाप्रभु !

'क्या तुम लेखक बनना चाहते हो ? यदि हां, तो अपनी जाति की चिर-संचित वेदनाओं का इतिहास पढ़ो । यदि उसे पढ़ते हुए तुम्हारे हृदय से लहू न टपक पड़े, तो लेखनी फेंक दो !

करुणरस के लोकगीत इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं ।

८

हीर-रांझा के गीत

एक था रांझा, जो प्रेम का देवता बन गया; एक थी हीर, सौन्दर्य की देवी। पंजाब की धरती पर दोनों का जन्म हुआ। तब भारत में बाबर आ चुका था; घोड़ों की टापों से देश की धरती उखड़ रही थी। इतिहास का ध्यान लगा था राजनीतिक उथल पुथल की ओर। हीर का जन्म किस तिथि को हुआ, रांझा से कितने वर्ष बाद उसका जन्म हुआ, इस बात का ब्योरा लिखने की फुरसत इतिहास को न मिली थी। और आज इतिहास का विद्यार्थी इतिहास को कसूरवार न ठहराकर कई बार अजब ढङ्ग से पूछता है—'क्या सचमुच रांझा एक ऐतिहासिक व्यक्ति था? और हीर भी?' झङ्ग में हीर की समाधि अब तक सुरक्षित है। प्रति वर्ष वहाँ मेला लगता है। हजारों श्रद्धालु एकत्रित होते हैं। समाधि की चारदीवारी अजब गोलाईदार और बाहर को उभरी हुई है; कब्र के बिल्कुल ऊपर की ओर जाकर यह एक काफी खुला दायरा छोड़कर खतम होती है; सूर्य सदा कब्र को देख सके, यह ख्याल रखा गया है। झङ्ग के इलाके में हीर को हर कोई "हीर माई" (हीर माता) कहकर याद करता है। 'लोकमाता' की पदवी पाकर हीर धन्य हो गई है। इतिहास का विद्यार्थी हीर की समाधि को सन्देह की निगाह से देखता है। 'तो क्या हीर सचमुच हुई थी? और यह उसी हीर की समाधि है?' रह-रहकर ये प्रश्न उसके हृदय से उठते हैं।

झङ्ग, जहाँ हीर का जन्म हुआ, रांझे के जन्मस्थान तख्त हजारे से अस्सी मील की दूरी पर है। पास से चनाब गुजरती है। 'चनाब' शब्द का पंजाबी रूप है 'झनां'। और झनां को शायद हीर का स्मरण होगा, इसकी लहरों के सम्मुख ही तो पहले पहल एक दिन उसने रांझा के लिए अपने हृदय का द्वार खोला था। क्या आप समझते हैं कि कभी इतिहास के विद्यार्थी की तरह ही झनां नदी के हृदय में भी हीर की ऐतिहासिक सत्ता की बाबत सन्देह उठ खड़ा होगा? पहली बार जब लोकगीत ने हीर की कथा को अपनाया होगा, तब क्या अकेली हीर को ही अमर पदवी दी गयी थी? झनां नदी भी तो इसमें आयी थी। और हीर सम्बन्धी प्रथमतम गान अब हम कहाँ ढूढ़ें? लोकगीत तो स्वयं झनां की तरह बहता है, पानी आगे बढ़ता जाता है समुद्र में मिलने के लिए; उधर से आकर फिर जो बादल बरसते हैं, उनमें जैसे एक बार का गया हुआ पानी फिर झनां में लौट आता हो। लोकगीत भी बहता है, मर-मरकर फिर सुरक्षित होता है। भाषा का बहाव, इसकी रूपरेखा वही रहती है; पुराने शब्द जाते हैं और नये बन-बनकर लौटते हैं। आज के उस गीत का पृष्ठपट, जिनमें झनां को 'प्रेम की नदी' कहा गया है, क्या आज ही बना है?

> इश्क झनां वगदी
> किते डुब्ब न मरीं अणजानां
> इश्क की झनां बह रही है
> अजी ओ अनजान कहीं डूब न मरना

जैसे "झनां" को सुना-सुनाकर गान किया गया है। अनजान का यहाँ क्या काम? जो कुशल हो, साहसी हो, और लगन का धनी हो, वही यहाँ आये। "झनां" स्त्रीवाचक शब्द है। नारी रूप में ही 'झनां' लोकगीत में अमर हुई है। नारी के संस्मरणों में हीर सरीखी सखी की बात न जम सकी होगी क्या? झङ्ग के समीप कभी इसके तीर पर बैठकर जल की ओर निहारिये, तो शायद यह आपके कान में कुछ कह जाय; निराश होकर एक दिन रांझे ने किस तरह आंसू गिराये थे, शायद झनां आपको बतला सके। जिस झनां ने रांझे की "वंझली" (मुरली) का गान सुना था, दिन रात लगातार, जिसने उसे हीर के पिता की भैंसें चराते देखा था, जिसने हीर को रांझे के लिए मिष्ठं पकवान लाते देखा था, वह क्या आज उन दृश्यों के रेखाचित्र अंकित करने में आपको कुछ भी सहायता न देगी? झनां कुछ बताये न बताये, वह है तो

एक आराध्य देवी ही।

हीर और रांझा की प्रेमकथा की मोटी-मोटी रेखायें जरूर जान लेनी चाहिए। दोनों दो जाट-परिवारों में उत्पन्न हुए। रांझा का असल नाम "धीदो" था; "रांझा" उसकी जाति थी और वह इसी से प्रसिद्ध हुआ। हीर की जाति "सयाल" कहलाती थी; झङ्ग मे इनकी बहुसंख्या थी, इसी से यह स्थान तब "झङ्गसयालां" कहलाता था। राझां का पिता बचपन में ही मर गया था। एक दिन उसकी भावजों ने ताना मारा कि वह काम काज में विशेष हाथ नहीं बटाता; छैला बना रहता है, जैसे उसे 'हीर' से विवाह करना हो। रांझा ने हीर के सौन्दर्य का बखान पहले ही सुन रखा था। घर छोड़कर वह झङ्ग की ओर चल पड़ा। झनां के तीर पर पहुँचकर अब किश्ती से पार होकर झङ्ग जाने का प्रश्न था; पैसा पास में था नहीं। बिना पैसे के 'लुड्डन' नाविक उसे ले जाने को तैयार न था। रांझे ने बंझली बजायी; लुड्डन की पत्नी को उस पर तरस आ गया और उसकी सिफारिश पर लुड्डन ने रांझे को नदी-पार पहुँचा दिया। हीर का पिता एक खासा जमींदार था; नदी के किनारे उसने एक कुटिया बनवा रखी थी, जिसमें हीर सहेलियों-सहित कभी-कभी आया करती थी। रांझा इस कुटिया में जाकर हीर के पलंग पर चादर ओढ़कर सो गया। सहेलियों सहित हीर आई, तो उसने डांट डपट की। ज्योंही रांझा चौंक-कर उठा और उसने अपने मुँह से चादर उतारी, हीर से उसकी आंखें मिलीं; हीर के हृदय में पहली ही दृष्टि में प्रणय का भाव उदय हुआ। और वह उसके चरणों पर गिर गयी। उसे वह अपने साथ घर ले गयी और पिता से कहकर भैंसें चराने पर उसे रख लिया; इसी से "चाक" (सेवक) और "माही" ('माहीवाल' याने भैंसों का चरवाहा) ये दो शब्द प्रायः रांझे के लिए प्रयोग होते हैं। कई वर्ष तक रांझे ने यह कार्य किया; हीर भी उसे बहुत प्यार करती, उसके लिए स्वादिष्ट पदार्थ बन में देने जाती। माता-पिता ने हीर की शादी रांझा से कर देनी पक्की कर दी थी। फिर कुछ समय के पश्चात् हीर की शादी का ख्याल उसके पिता ने बदल दिया। रङ्गपुर के निवासी 'सैदा' से जो खेड़ा जाति का एक युवक था, हीर की शादी कर दी गयी; हीर ने बहुत विरोध किया; पर उसकी पेश न गई। रङ्गपुर में जाकर हीर ने यह प्रण कर लिया कि वह अपने सत को कायम रखेगी; सैदा खेड़ा जैसे उसका कुछ न लगता था; और ऐसा ही हुआ भी। कहते हैं कि रांझा गुरु गोरखनाथ के

मठ में पहुंचा, और योगी बनकर रङ्गपुर की ओर बढ़ा। रङ्गपुर में उसने घर-घर अलख जगायी; हीर उसे पहचान गई; अपनी ननद सहती की सहायता से उसने एक दिन रांझे से भेंट भी की। सहती का स्वयं 'मुराद' नामक युवक से जो रांझे का परिचित था, प्रणय था: रांझे ने उसकी इमदाद करने का वचन दिया। कहते हैं, वहां हीर, रांझा और सहती तीनों ने यह राय मिलाई कि हीर किसी बहाने से सहती के साथ बाहर खेत में जाय, वहां वह सांप डस जाने का बहाना करे और फिर जहर उतारने के लिए रांझे को बुलवाने की चाल रची जाय; आगे रांझा स्वयं ऐसी सूरत निकाल लेगा कि मुराद को बुलाकर सहती से मिलवा दे और स्वयं हीर को लेकर हवा हो जाय। ऐसा ही किया गया। हीर का जहर उतरवाने के लिए सहती ने अपने भाई सैदे को रांझे के पास भेजा। रांझे ने, उससे हीर के सतीत्व का पता चलाने के लिए, कहा,—'जाओ, मैं न जाऊंगा। मैं तो जोगी हूं, अविवाहित लड़की का जहर उतारने मैं भले ही किसी के घर जाऊं।' सैदे ने कहा—'मेरी पत्नी को अविवाहिता सी पवित्र ही समझना जोगी। मेरे साथ अभी उसका पत्नी का नाता सिर्फ कहने भर का ही है।' सैदे के साथ रांझा न गया। फिर सैदे का पिता बुलाने आया। वह उसके व्यक्तित्व की जीत थी; रांझा चलने पर तैयार हो गया। हीर को देखकर उसने कहा—'हां, जहर उतर सकता है, बाहर कुटिया में नियमित रूप से इसे रखना होगा, पास में केवल एक अविवाहित कन्या रहे।' सबने यह बात मान ली। सहती तो घर में क्वांरी कन्या थी ही, उसे बाहर कुटिया में हीर की सेवा-शुश्रूषा पर रख दिया। अवसर पाकर एक दिन रांझे ने मुराद को बुला भेजा, अपनी सहायक सहती की भावना पूर्ण कर दी, और स्वयं हीर को लेकर झङ्ग की ओर चला। पीछे से खेड़ा-परिवार ने आकर उन्हें रास्ते में ही पकड़ लिया। उस इलाके के राजा के सम्मुख मामला पेश हुआ। दोनों पक्ष हीर को अपनी बतलाते थे; राजा के विचारानुसार हीर सैदे की सिद्ध हुई। और कहते हैं कि ज्योंही राजा ने फैसला सुनाया, नगर में अग्निकाण्ड रौद्र रूप धारण कर उठा। राजा ने समझा, हीर के सम्बन्ध में अन्याय हुआ है। फिर अन्तिम फैसला यही रहा कि हीर रांझे के साथ जा सकती है। चाहता तो रांझा तख्त हजारे चला जाता, पर उसने पहले झङ्ग जाना ही तय किया। हीर के पिता ने ऊपर से रांझा का आदर किया; भीतर कपट का सांप फुङ्कार रहा था। रांझा अपने

घर से बारात जुटाकर लायेगा, शादी करके ही हीर को ले जायगा, पहले नहीं। ज्यों ही रांझा बिदा हुआ, हीर को जहर दे दिया गया। और फिर ज्योंही रांझे के कान में हीर के प्रति किये गये इस दुरूह अत्याचार की खबर पहुंची, वह गश खाकर गिर गया—एक दीपक बुझ चुका था, दूसरा भी बुझ गया।

कहानी से यह भी पता चलता है कि हीर और रांझा दोनों मुस्लिम परिवारों में उत्पन्न हुए थे। इससे क्या? प्रेम का देवता और हुस्न की देवी क्या किसी चारदीवारी में बन्द रहते हैं? उन पर क्या किसी एक समाज का अधिकार होता है? भक्त गुरुदास ने मुक्तकण्ठ से अपना तराना छेड़ दिया था—

रांझा हीर वखाणिये
ओह् पिरम पिराती

—'आओ हीर और रांझा का बखान करें,
वे महान् प्रेमी थे!'

खुद श्री गुरु गोविन्दसिंह की कविता में एक स्थान पर हम हीर के पक्ष का जबर्दस्त समर्थन पाते हैं—

यारड़े दा सानूं सथ्थर चंगेरा
भट्ठ खेड़ियां दा रहणा

—प्रीतम के यहां तो उसकी मृत्यु के बाद का दुःखद निवास भी उत्तम है! पर भाड़ में जाय "खेड़ा" परिवार में निवास!

कहते हैं यह कविता, जिसमें से कि यह उद्धरण लिया गया है, गुरु गोविन्दसिंहजी ने पंजाब छोड़ते समय एक जङ्गल में बैठकर लिखी थी; इसमें उनके उस समय के मनोभाव का अचूक चित्र अङ्कित हो गया है। और वतन से दूर के अपने प्रवास की तुलना उन्होंने हीर के उस जीवन से की है, जबकि उस बेचारी को अपनी इच्छा के विरुद्ध सैदे खेड़े के घर में रहना पड़ा था। सूफी कवि बुल्हेशाह की हीर-सम्बन्धी भावना जिसने एक बार सुन ली, वह क्या कभी हीर के निष्पाप प्रेम को आलोचना की कसौटी पर कसने की जरूरत समझेगा?

रांझा रांझा करदी नी
मैं आपे रांझा होई
सद्दो नीं मैंनू धीदो रांझा
मैंनू हीर न आखे कोई

—'रांझा-रांझा की रट लगाती
मैं स्वयं रांझा बन गयी हूं ;
सखियो, मुझे धीदो रांझा कहकर बुलाओ
कोई अब मुझे हीर न कहे ।

बुल्हेशाह के सहपाठी कवि वारिसशाह ने तो अपना समस्त जीवन 'हीर' पर अपनी प्रतिभा न्योछावर करने में ही लगा दिया था । इससे अधिक लोक-प्रिय पुस्तक पंजाब में दूसरी एक न मिलेगी; जितनी बिक्री बाजार में "हीर वारिसशाह" की है, किसी दूसरी धार्मिक पुस्तक की भी नहीं । पंजाब की आत्मा इस एक पुस्तक में समा गयी है । इसे पढ़े बिना आप क्या पंजाब को पूर्णतया जान सकते हैं ? पञ्जाब की समस्त जनता एक जबान होकर इसकी दाद देती है । प्रकाशकों ने दो-एक स्थलों पर बाद में अश्लीलता मिला दी है, जिसे निकालने की आवश्यकता है । अन्य कई कवियों ने भी 'हीर' को अपने काव्य का कथानक बनाया है; पर वारिसशाह के ऊपर तो दूर रहा, समीप भी कोई नहीं पहुंच सका ।

यों वर्तमान पञ्जाबी-साहित्य में भी अनेक स्थलों पर हीर को अर्घ्य दिया गया है । रहस्यवादी कवि भाई वीरसिंह ने एक सुन्दर तस्वीर खींची है:— "हीर सुराही धौन नवाई खली झनां दी कन्धी !" (सुराही की-सी गरदन झुकाये हीर झनां के तीर पर खड़ी है !) और प्रो० पूर्णसिंह ने हीर को बहन के रूप में और रांझे को भाई के रूप में पुकारा—

आ वीरा रांझिया, आ भैणे हीरे
सानूं छोड़ न जावो
तुसां बाझों असी सखणे

—'ओ भाई रांझा, आ बहन हीर, तू भी आ !
हमें छोड़कर न जाओ,
तुम्हारे बिना हम अकेले रह जायेंगे !

लोक-गीत में हीर-रांझा सम्बन्धी काव्य की जो धारा बही है, उसका प्रवाह झनां नदी से होड़ लेता दीखता है । शायद यह एक दिन झनां-जितनी लम्बी हो जाय । झनां की लम्बाई तो प्रकृति ने निश्चित कर रखी है, और गीत-धारा अभी विकास मार्ग पर ही है ; सैकड़ों गीत नये बन रहे हैं, सैकड़ों और बनेंगे । इस गीत-धारा के दो भाग कर लेने होंगे—(१) कहानी पर आश्रित

गीत। (२) स्वतंत्र गीत।

जिन गीतों के आधार कहानी के विशेष स्थल हैं, उनमें लोक-गीत की पूर्ण विकसित अवस्था नहीं देखी जा सकती। ये गीत कुछ-कुछ अधूरे स्वप्न ही तो हैं; साहित्यिक कवियों की भांति ही हीर और रांझा को दूर से देखकर, उनसे अलग रहकर इनकी रचना की गयी है। इनमें गायक स्वयं हीर या रांझा कभी नहीं बना।

दूसरी श्रेणी का गीत लोक-गीत की प्राकृतिक शक्ति से सम्पन्न है। जैसे हीर और रांझा यहां आकर प्रत्येक हृदय में बस गये हों; जैसे प्रत्येक नारी हीर बन गयी हो, प्रत्येक पुरुष रांझा बन गया हो। कहानी की ओर देखने की यहां जरूरत नहीं रही; जो बातें शायद मूल कहानी में नहीं घटी थीं, उनकी झलक यहां स्वतः ही आ गयी है; दाम्पत्य प्रेम हीर-रांझे के प्रेम में परिणत हो गया है। जीवन की धरती से जब भी कोई प्रेम-गीत मां के लाल की भांति उत्पन्न हुआ, इसका हृदय हीर और रांझे के लिए सदा के लिए खुल गया; गांव-गांव में क्या विवाहित, क्या अविवाहित, सभी के सम्मुख रांझा केवल आदर्श प्रेमी ही नहीं बना; आदर्श पति भी बन गया है, और हीर की मुखश्री पर प्रेमिका और पत्नी दोनों एक साथ लिख दिये हैं। इन गीतों में पुरुष और स्त्री दोनों स्वयं बोले हैं। अधिक भाग यहां स्त्री ने लिया है। जैसे पहली श्रेणी के गीतों में पुरुष ने नारी-वेश में अभिनय किया है, वैसे ही यहां नारी ने अपने गीतों में प्रायः पुरुष के मुख में स्वयं शब्द डाले हैं। पर दोनों श्रेणियों की काव्य-धारा में बड़ा फर्क यह है कि पहली में पुरुष ने अपने को रांझा नहीं समझा (और हीर तो वह था ही नहीं), और इस सूरत में उसने रांझा के मुख में जो शब्द डाले, वे तो पुरुष के नाते कुछ-कुछ प्रकृत रहे ही, हीर के मुख में शब्द डालते समय उसके रूबरू यह आसानी न रही। घर में अपनी स्त्री में उसने हीर को देख लिया होता, कभी अपनी उस हीर की बातें सुनी होतीं और फिर उसे गीत में डाला होता, तो शायद गीत में जान आ जाती। उसके विपरीत दूसरी श्रेणी के गीत में जहां नारी ने स्वयं पुरुष को वाणी दी, वहां एक तो वह स्वयं हीर बन गयी, दूसरे उसने घर में अपने रांझे की बात बीसों बार सुन-सुनकर फिर उसे ही गीत में स्थान दे दिया; नारी को पुरुष-वेश में अभिनय करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। घर के रंग रूप को लेकर ही इस दूसरी श्रेणी की गीत-रचना हुई है; स्वयं गांव की प्रकृति ही गीत-सामग्री बन गयी है। सैकड़ों साल पुराने हीर-रांझा

जहां चिर-नूतन रूप पाकर बस गये हैं। कितनी उर्वर है इस गीत की भूमि ? हर रोज यहां हीर समस्त नारी-हृदय का फेरा लगाती है; रांझा जैसे हर गोपी का कृष्ण बन गया हो।

रांझे के पास जो "बंझली" (मुरली) थी, हीर उसके राग पर एक दम मुग्ध हो उठी थी, गीतों में स्थान-स्थान पर बंझली की प्रशंसा की गयी है। रांझा जो कुछ भी बोलता था, जैसे वह बंझली में से होकर हीर तक पहुंचता था। बंझली से एक बार जो शब्द गुजर जाते थे, वे कविता बन उठते थे। जैसे आकाश तक बंझली से प्रभावित हो जाता हो :—

रांझा बजावे बंझली
सुक्का अम्बर छड्डे नरमाइयां

—'रांझा मुरली बजा रहा है,
सूखे आकाश पर नमी आती जा रही है।'

बंझली की प्रशंसा में एक गीत है—

पहलां बंझलियां वज्जियां घर तरखानां दे
पिच्छों हीरे मैं तुरत सी बजाइयां
फेर बंझलियां वज्जियां घर सुनियारां दे
जिथ्थे बैह के हीरे मेखां शौक दियां लुयाइयां
फेर बंझलियां वज्जियां घर छीम्बियां दे
जिथ्थे बैठ के हीरे ढोंरा शौक दिया पुयाइयां
फेर बंझलियां वज्जियां कुल तख्त हजारे विच्च
सुर एस दी ने हीरे धुम्मांसी पाइयां
फेर बंझलियां वज्जियां कण्ढे झनामां दे
लहरां नच्चियां हीरे दूणते सवाइयां
फेर जद वाज तेरे कन्नीं पैगा नीं
तेरे जी विच हीरे प्रीतांसी निस्सर आइयां

—'पहले बंझलियां तरखान के घर में बजीं
ओ हीर, इसके पीछे मैंने इसमें सुर भर दिया था।
फिर बंझलियां सुनार के घर में बजीं,
ओ हीर, जहां बैठकर शौक से सोने के मेखां से इन्हें सजाया
फिर बंझलिया छिपी के घर में बजीं,

ओ हीर, जहां बैठकर मैंने इनमें सुन्दर रङ्गीन डोरे डलवाये।
फिर तख्त हजारे में इनका स्वर गूंज उठा,
इनके स्वरों की धूम मच गई।
फिर ये झनां के तीर पर बजीं;
झनां की लहरें स्वर पाकर दून-सवाई मस्ती से नाच उठीं।
फिर जब इनकी आवाज तेरे कान में पड़ी
तेरे हृदय में प्रेम की कोंपल बढ़ने लगी।'

हीर सांझ हो जाने पर भी रांझा के न आने पर उसे खोजने निकली है। बहुत दूर तक खोजने पर भी रांझा कहीं नजर नहीं पड़ता। हीर आगे ही आगे बढ़ती जाती है। वर्षा का जोर है, नाले पथ रोक रहे हैं। दूसरे गीत में हीर एक बरसाती नाले को पुकार कर कहती है—

सुन वे नालेया डिट्ठेया भालेया
क्यों वगदायें एन्हीं राहीं
अग्गे तां वगदासी गिट्टे गोड्डे
हुण क्यों वगदायें असगाहीं
एसे पत्तन मेरियां मंझियां लङ्घियां
एसे पत्तन मेरियां गाईं
एसे पत्तन मेरा रांझा लङ्घेया
मैं हीर तत्ती दा सांई
मारू हाअ्‌ किसे गरीब दी नालेया
ते तूं फेर वगेंगा नाहीं

—'ओ नाले, सुन; अरे तू तो मेरा देखा-भाला है।
इन पथों पर तू क्यों बह रहा है रे?
पहले तेरा पानी पैर की कलाई से घुटने तक ही रहता था
अब तू तूफानी होकर क्यों बह रहा है?
इसी घाट से मेरी भैंसें पार हुई थीं,
इसी से गाएँ गुजरीं,
इसी से रांझा गुजरा—
मुझ नसीबों-जली का प्रियतम
ओ नाले, किसी गरीब की आह तुझे सुखा डालेगी,

फिर तू न बह सकेगा।'

खाना खिलाकर हीरे के घर लौटते समय का दृश्य भी बहुत लोकप्रिय रहा है। एक गीत में उस ऋतु की बात आया है, जबकि रात के समय भी रांझा जङ्गल में ही निवास किया करता था—

लै वई रांझिया खुशियां दे दे हीर नूं,
हुण मैं घरां नूं जावां
ज्योंदी रहां मिल पां सवेरे
भत्ता लै के छेती छेती आवां
बखों किते झल्ल दे विच्च ओदर जांदाव
ऐं न समझा तूं हैं जग्ग ते नथामां
हस्स के कैह दे चाका हीरे जा नीं
पैलां योंदी मैं घरां नूं जामां

—'लो, अब खुशी से मुझे बिदा दो, ओ रांझा,
अब मैं घर जाऊंगी।
जीती बचूंगी तो कल सवेरे मिलूंगी,
जल्दी-जल्दी भोजन लेकर आऊंगी
देखना, कहीं यहां घने बन मे उदास न हो जाना।
कहीं यह न समझ लेना कि तू जगत् मे घरहीन है।
अब हँसकर कह दे—जा, हीर, घर को जा;
मैं मोरनी की भांति नाचती-नाचती घर को जाऊँगी।'

और रांझा झट उत्तर देता है—

तैनूं खुशियां हीरे खुदा ही तरफों नी
मेरा सुन लै रांझे पंछी दा वराला
सप्पां सीहां दे विच्च छड्ड के मैनूं जानीयें
तैं बिन हीरे मेरा कौन नी रखवाला
तेरे चन्न मुखड़े नै मैंनूं खिच्च लियांदा नी
बन गया इश्क हुस्न मतवाला
तेरी सूरत ने मैं वतना तों कड्ढ लिया
मंझियां वे आ लग्गा मैं काली भूरी वाला
मैं परदेसी हीरे ते तूं वतना वाली नी

शहत मिट्ठे तेरे नौं दी फेरां माला
एथेई रहते सुण लै मेरी बंझली नी
जेहड़ी सुणदा नीर झनां दा मोतियाँ वाला

—'ओ हीर, तुझे खुदा की ओर से खुशी है
मुझ रांझे पर्ची का रुदन भी तो सुन लो।
सांपों और बाघों के बीच में मुझे छोड़कर तू जा रही है।
तुझ बिन मेरी कौन रखवाली करेगा ?
तेरे चांद-से मुख ने मुझे यहां खींच लिया है;
प्रेम-सौन्दर्य पर मतवाला हो गया।
तेरी छवि ने मुझे वतन से बेवतन कर दिया !
मैं काली 'भूरी'[1] ओढ़कर यहां भैंसों का चरवाहा बन गया।
मैं परदेशी हूं, ओ हीर, तू अब देश में है।
मैं तेरे मधु-से मीठे नामकी माला फेरता हूं।
यहां ही रह और मेरी बंझली का गान सुन ले।
जिसे मोतियों-सा 'झनां' नदी का नीर रोज सुनता है।'

फिर एक दिन वह दुःखद दृश्य आता है, जब रांझे को निराश करके हीर का पिता काजी की सलाह से सैदे खेड़के साथ हीर की शादी की तैयारी करता है। हीर ने काजी को खूब कोरी कोरी बातें सुनाई—

सुन वे काजिया पाक नमाजिया
वे तैनूं कैहंदे मीयां मीयां
मीयां मैं ओस नूं आखां वे
जेहड़ा रिजक देवे सब जीयां
एक अनहोणी तूं मैं नाल करदायें
तेरे घर नीं मैं जेहियां धीयां
खोह के रांझे तों मैंनूं खेड़ेयां नूं दिन्नायें
वे तेरा किक्कुन वगदा हीयां

—'सुन ओ काजी, ओ पाक नमाजी,
सब मुझे 'मियां' कहकर पुकारते हैं।

1 कम्बली

मैं तो 'मियां' उस भगवान् को कहती हूँ
जो सब जीवों को अन्न देता है।
मेरे साथ आज तू बुरा व्यवहार कर रहा है।
क्या तेरे घर में बेटियां नहीं हैं ?
मुझे रांझे से छीनकर तू खेड़ों को दे रहा है।
कैसे तेरा साहस पड़ रहा है ?

मां-बाप से भी हीर का वाद विवाद हुआ। उसकी एक न सुनी गयी। उसके हाथ में शादी का "गान्ना" बांध दिया गया। रांझे से वह फिर भी मिली। उस समय का रांझे का उलहनों से पूर्ण गीत आज भी सैकड़ों वर्ष पहले के दृश्य को गांव के हृदय में सुरक्षित कर देता है—

बन्हके गान्नां हीरे रांझे कोल आगीनी
कौल करार तैं सारे ई हारे
ओदों कैहंदी सी सिर दे नाल नभा दयूंगी
अज्ज चढ़के बैहजेंगी खेड़ेयां दे खारे
खन्नी खांदा हीरे खन्नी टंगदासां
जद मैं रैंहदा सी तख्त हजारे
जे मैं जाणां खेड़ियां दी बणजेंगी
बारां साल रकाने खोल क्यों चारे
जे मैं जाणां खेड़यां दे वगजेंगी
तप करदा मैं झनां दे किनारे
भली होगी हीरे नेड़यां लड़ छुट्ट गया नीं
नहीं डोबदी धार दे बचाले
जेहड़ेयाँ सप्पां तों दुनियां थर-थर कम्बदीए
पैरां हेठ ओह रांझे ने लताड़े
जेहड़ेयां शेरां तों दुनियां थर-थर कम्बदीए
नाल, रकाने, मज्झियां दे मैं चारे
कख्खों हौले हो गये, धीए, चूचक दिये
जद सी परबत तों भारे
आह लै भूरी वे आह लै खूण्डा नी
कीली लटकन मज्झियां दे धलेआरे

—'हाथ में 'गान्नां' बांधकर तू रांझे के पास आ गई है, ओ हीर !
तूने सब कौल-करार हार दिये !
तब कहती थी ! मैं सरके साथ प्रेम निभाऊंगी !
आज तू खेड़ों के खारे ![1] पर चढ़कर बैठ गई ।
आधी रोटी मैं खाता था, आधी तेरे नाम की रखता था, ओ हीर !
जब मैं तख्त हज़ारे में रहता था ।
यदि मैं जानता कि तू खेड़ों की हो जायगी,
तो मैं बारह साल भैंसे क्यों चराता ?
यदि मैं जानता कि तू खेड़ों के घर चली जायगी,
तो मैं झनां के किनारे तप करता ।
ओ हीर, अच्छा ही हुआ कि शीघ्र तेरा अञ्चल छूट गया,
नहीं तो तू शायद मँझधार में मुझे बोर देती ।
जिन सांपों से दुनिया थर-थर कांपती,
रांझे ने उन्हें पैरों-तले लताड़कर इतने वर्ष गुजार दिये ।
जिन शेरों से दुनिया थर थर कांपती है,
राँझे ने उन्हीं के बीच में इतने वर्ष भैंसे चराते गुजार दिये ।
ओ छूछक की बेटी, मैं अब तिनके से भी हलका हो गया,
किसी समय मैं पर्वत से अधिक भारी था ।
यह ले भूरी[2] यह ले भैंसों को हांकने की मुड़े हुए मुट्ठे वाली लाठी,
बे खूंटों पर छटक रहे हैं भैंसों के धलेयारे[3] ।'

एक और पंजाबी गीत सुनिए जिसमें रांझा अपनी प्रेमिका हीर के सम्मुख अपने प्रेम का बखान करता है—

मेरी ते हीर दी ओदों दी लग्ग गी ओ
नदियें नीर न बेले बिच्च काहीं

१ खार—सरकण्डे की बनी एक प्रकार की टोकरी जिस पर विवाह के समय वधू को बिठाते हैं।

२ कम्बली

३ धलेयारे—भैंसों के गलों में बांधी जानेवाली लकड़ियां, जो घुटनों तक लटकती हैं और भैंसों को भागने से रोकती रहती हैं।

ते न कोई ओदों बाबा आदम जन्मियां सी
ते न सीगी ओये अद्लिया ! बन्दे दी बादशाही
मेरी ते हीर दी ओदों दी लग्ग गी ओए
जदों है नी सी ओये ! दवातां बिच स्याही
ते है नी सी धरती ते असमान ओये

—'मेरा और हीर का प्रेम ती उस समय से है
जब न नदियों में पानी था न जंगलों में घास थी ।
न उस समय बाबा आदम ने जन्म लिया था
न उस समय, ओ आली मनुष्य का राज्य स्थापित हुआ था।
मेरा और हीर का प्रेम तो उस समय से है
जब न दवातों में स्याही थी न धरती और आकाश तक का निर्माण हुआ था।'

रांझे का मन बहलाने के लिये हीर भैंसों की प्रशंसा में कह उठती है—

मज्झीयां मज्झीयां रांझिया सारा जग्ग आंहदा वे
तेरीयां मज्झीयां तां रांझिया ओये हूरां ते परीयां
सिंग तां मज्झीयां दे वल वल कुंडे होगे ओये
जिमें वंगा ओये रांझिया बनजारे ने घड़ीयां
दंद तां मज्झीयां दे पालो पाली ने
दुद्ध तां मज्झीयां दा शरबत वरगा मिट्ठा ओये
घियो तां मज्झीयां दा मिसरी दीयां डलीयां
आके मज्झीयां बाड़े नूं ढुकीयां ओये
ज्यों तां ढुकीयां ओये जन्न बलाहे नूं कुड़ीयां

—'भैंसें भैंसें, ओ रांझा, सारा संसार कहता है
तेरी भैंसें, ओ रांझा हूरें और परियां हैं।
भैंसों के सींग बलदार और गोल हो गये
जैसे किसी बनजारे ने चूड़ियां गढी हों।
भैंसों के दांत सीधी कतार में हैं,
जैसे चम्पे के बूटे की कलियाँ खिली हों।
भैंसों का दूध शरबत से भी मीठा है
घी तो जैसे मिसरी की डलियां हों।
भैंसें वापिस पशु-गृह को आती हैं,

जैसे वे नवयुवतियाँ हों और बारात देखने आ रही हों।'

कहानी के हृदय में पञ्जाब का जो स्थानीय रंग निहित है, उसे देखे बिना हीर रांझे का ठीक-ठीक स्वरूप नहीं समझा जा सकता। जैसा कि शकुन्तला की आलोचना में रवीन्द्रनाथ टाकुर ने लिखा है कि दुष्यन्त ने अपने महल में अधूरी शकुन्तला को देखा था, उसका पृष्ठपट सदूर वन भूमि में ही रह गया था, इसीलिए उसकी आंखें उसे पहचान न पायीं; उसकी मुखश्री को दुष्यन्त ने जिस वातावरण में अपनाया था, वह महल में नहीं आया था, पीछे वन में छूट गया था। रांझा की वंझली का स्वरूप समझना आवश्यक है, झनां नदी भी इस कथा के पृष्टपट की सजीव विभूति है; भैंसे और भैंसो की भयानक चर-भूमि, जहां शेर हैं, सांप हैं, और बारह वर्ष का लम्बा समय, जो रांझा ने हीर के पिता की सेवा में बिना एक कौड़ी लिये गुजार दिया; ये सब गीत में ही जीवन नहीं डालते, बल्कि पञ्जाबियों के हृदय पर रांझा के व्यक्तित्व का सिक्का बिठा देते हैं। हीर किस श्रद्धा से रांझा को रंज भोजन देने जाती है; गीत मे आप आज भी हीर को अचूक गति से चलती पाते हैं—उसे चलना ही चाहिए, ठीक समय पर रांझा को भोजन मिलना ही चाहिए! संसार में अलग-अलग स्थानों पर जन्म लेकर भी वे प्रेम को भूल नहीं सकते। अस्सी मील की दूरी से रांझा हीर के यहां आ जाता है। हीर जैसे उसे पहचान लेती है। हीर के इस व्यक्तित्व ने ही हीर को इतना चमकाया है। और जब हम उसे काजी से सवाल करते पाते हैं, उसकी विद्रोही आत्मा कितनी प्रबल प्रतीत होती है। कोई उसे उसके प्रियतम से तोड़कर किसी अजनबी से क्यों ब्याह दे? निकाह पढ़ानेवाले काजी से वह पूछती है कि क्या इस व्यवहार के लिए उसकी कोई अपनी बेटी नहीं है। कहानी के अन्य स्थल भी गीतों में आये हैं।

वर के घर में जो 'घोड़ी' नामक गीत गाया जाता है, उसमें बहन ने वर और वधू को हीर और रांझा के रूप में अपनाया है—

> **नी मैं आंख भेजां ललारी बेटड़े नूं**
> **मेरे वीरे दा चीरा जी शताब लियाइयो**
> **जी जरूर लियाइयो**
> **पहन चीरा वीरा बैठ मोरी**
> **जी कुरबान सारी,**
> **रांझा निक्का जेहा हीर मुटियार सारी**

—'मैं रंगरेज के लड़के को कहलवा भेजूंगी
मेरे भाई की पगड़ी शीघ्र लाओ।
जी जरूर लाओ
ओ भाई, पगड़ी पहनकर खिड़की में बैठो
मैं पूरी तरह तुम पर कुरबान हो जाऊं।
रांझा तो छोटा-सा है, और हीर पूर्ण युवती लगती है।'

इसके बाद गीत में दरजी के लड़के से वस्त्र शीघ्र सी लाने को कहा गया है। रांझे को छोटा बताने में बहन का प्यार निहित है।

एक दूसरे गीत में भी वर को रांझा के रूप में चित्रित किया गया है—

मां बे तेरी बन्नेयां सरब सुहागन
जिस वे राणी दा तूं जाया
वे रंगीलिया रांझनां

—'ओ वर, तेरी मां सौभाग्यवती रानी है,
जिसने तुझे जन्म दिया है।
ओ रंगीले रांझन!'

यहीं से रांझे का व्यापक रूप शुरू होता है। यहीं से हीर पञ्जाबी नारी का प्रतिनिधित्व करने लगती है।

कहां झनां नदी? कहां रावी? झनां का रांझा फैलता फैलता रावी के समीप आ जाता है। एक गीत में से कुछ भाग उदाहरण-स्वरूप ले सकते हैं—

उच्छल पिया लड़ रावीए दा वो साइयां
कदीयां न विच्छड़े लड़ मुसाफरां दा
हां नी ए रावी तेरा लक्क-लक्क ढीला
रांझन किक्कुन आवीएगा
कदीयो न विच्छड़े लड़ मुसाफरां दा

—'रावी का अञ्चल उछल पड़ा है, ओ भगवान!
कभी मुझसे मेरे मुसाफिर प्रीतम का अञ्चल न बिछुड़े।
ओ रावी, तेरा पानी कमर तक आता है;
रांझन कैसे पार करेगा?'

यहां फिर रांझन की छोटी उमर की भावना आ गयी है। रावी का पानी जो बड़ी उमरवाले आदमी की कमर तक आता है, रांझे के लिए, जो अभी

छोटा है, एक बाधा बनकर उपस्थित हो जायगा।

पति-पत्नी परस्पर मिलकर खेत में काम करते हैं। प्रेम के स्पर्श से पति रांझा बन जाता है; हीर तो प्रत्येक कुलवधू होती ही है—

मैं बीजां वे गाजरां
तूं पाणी देंदा जाईं
मैं तेरी वे रांझनां
तूं हैं मेरा साईं

—'मैं गाजरें बो देती हूं,
तुम खेत में पानी देते रहना।
ओ रांझन, मैं तेरी ही तो हूं
तुम मेरे सिर के मालिक हो!'

एक और गीत की एक तुक है—

चल्ल मीयां राझा खेती करिये
सांझी रखिये क्यारी

—'चल मियां रांझा, खेती करें
हम क्यारी साझी रक्खेंगे।'

राझे को तो फूल की भांति खिलना चाहिए, ताकि घर में हीर का चित भी खुश रहे—

नी सइयो रांझन मेरा फुल्ल मोतिये दा
नी अज्ज एह क्यों कुमलाय फुल्ल मोतियेदा

—'ओ सखियो, मेरा रांझन तो मोतिये का फूल है,
आज यह कुम्हला क्यों रहा है मोतिये का फूल!'

चांदनी में रूठा रांझा मनाया जाता है—

वेखो नी सइयो एह चन्न चढ़दा वी नाहीं
तारेयां दी लो विच्च रांझन दिसदा वी नाहीं
खड़ी खड़ोती ने में चन्न चढ़ाया
रांझन रुट्टड़ा मिन्नतां नाल मनाया

—'देखो, सखियो, यह चांद चढ़ता ही नहीं
तारों की रोशनी में रांझा नजर नहीं आता।
मैंने खड़े-खड़े चांद को चढ़ते देखा

बड़ी मिन्नत से मैंने रूठा रांझा मनाया !'

हीर नयी ऋतु के 'पीलू' चुनती है। रांझन को भी साथ रहने का निमन्त्रण दिया जाता है। वह कहीं चला जाता है—

पीलू पक्कियां नी, आ चुनियें रल हार
असां न चक्खियां नी, आ चुनियें रल यार
चुन चुन पीलू भरां पटारा
वे तूं मिलिया न रांझन जांदड़ी वारी
पीलू पक्कियां नी, आ चुनियें रल यार

—'पीलू पक गये, आओ, प्रीतम, मिलकर चुनें।
मैंने चखकर नहीं देखे, आओ प्रीतम मिलकर पीलू चुनें।
पीलू चुन-चुन कर मैंने पिटारी भर ली।
ओ रांझन, तू जाते समय मुझे न मिला।
पीलू पक गये, आओ, प्रीतम, मिलकर चुनें।

रांझे का 'सौदागर' रूप जो कहानी में कहीं न था, व्यापक जीवन के गीत गीत में आ गया। या यह कहिये कि किसी कुलवधू का पति रांझा बन गया—

उच्चियां लम्मियां टाहलियां, सुदागर रांझा
घुम्मरे घुम्मरे तूत ओ रांझा

—'शीशम के ऊंचे और लम्बे पेड़ हैं, ओ सौदागर रांझा !
घने घने हैं ये तूत के वृक्ष, ओ रांझा !'

झनां नदी सतलुज में बदल जाती है। हीर पानी भरने चली है—

मिल सइयां रांझन पानी नूं चल्लियां
मैं वी जाणां नाल वे, जाण दे सतलुज

—'सब सखियां मिल कर पानी भरने चली हैं,
मैं भी उनके साथ जाऊंगी, मुझे सतलुज के तट पर जाने दो।'

कहानी में हीर और रांझा ने दाम्पत्य जीवन में प्रवेश न किया था। अब घर-घर दाम्पत्य जीवन एवं हीर रांझा को लिये बैठा है—

मां हस्से तेरा पियो हस्से
मैंनूं तेरे हस्सन दा चा वे
रांझन हस्सदा क्यों नाहीं

—'तुम्हारी माता हँस रही है, पिता भी हँस रहा है।

मुझे तो तुम्हें हँसते देखने का चाव है
ओ रांभन, हँसता क्यों नहीं ?'

रांभा यहां 'रांभन' बन गया है। रांभा शब्द का यह अतिप्रिय रूप है। रांभन की ओर से आनेवाली हवा हर खिले फूल पर झूलती रहे, यही हर एक हीर वियोग के दिनों में सोचती है—

पारे मैरे फुल्ल सुनीना
खिड़ेया नहीं पर खिड़सी
ज्यों-ज्यों फुल्ल उतेरे होसी
वा रांभन दी झुल्लसी

—'पार के वन में एक फूल है,
अभी खिला नहीं, पर खिलेगा।
ज्यों-ज्यों फूल खिलेगा,
रांभन की ओर से आती हवा इस पर झूलेगी।'

हां, रांभे की 'बंझली' ज्यों की त्यों रही है। बंझली के बिना शायद रांभे का 'कृष्ण' रूप बहुत कुछ कम हो जाता। उसकी बंझली बराबर बजती है—

चढ़ कोठे रांभा बंझली बजावे
नैणीं नींद न आवे
मिन्हीं मिन्हीं तार बजावे
मेरे गयी कलेजे नूं खा वे

—'छत पर चढ़ कर रांभा बंझली बजाता है,
मेरी आंखों में नींद नहीं आ पाती।
जरा कोमल स्वर बजाओ,
वह तो मेरे हृदय को खाये जा रही है।'

हीर राँझा के गीत पंजाबी लोक गीत की विशेषता हैं। इनकी जड़ें पंजाबी लोक-गीत में बहुत गहरी चली गई हैं।

पंजाबी कवि सैयद वारिस शाह ने हीर-रांझा की प्रेमगाथा पर एक पूरा काव्य लिखा है जिस पर पंजाबी साहित्य को सदैव गर्व रहेगा। यद्यपि वारिस शाह के गहरे मनोवैज्ञानिक और शृंगार रस में डूबे हुए भाव-चित्र अपना अलग सौंदर्य रखते हैं, पर लोकगीतों में भी हीर-रांझा के चित्र कुछ कम आकर्षण नहीं रखते।

उर्दू कवि नासिख़ ने हीर-रांझा की प्रेमगाथा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा है—

सुनाया रात को किस्सा जो हीर राँझे का ;
तो अहले दर्द को पंजाबियों ने लूट लिया !

यहाँ 'अहले-दर्द' का अर्थ है भावुक अथवा मर्मज्ञ। नासिख यह कहना चाहते थे कि हीर रांझा का प्रेम-संगीत इतना प्रभावशाली होता है कि श्रोतागण इसके शब्द चाहे समझ न सकें, पर वे इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते, अर्थात् उनका दिल लुटे बिना नहीं रहता। यहाँ उन्होंने वस्तुतः पंजाब निवासियों पर व्यंग्य भी किया है। वे कहना चाहते हैं कि पंजाबी यहां भी रहे लुटेरे ही !

९
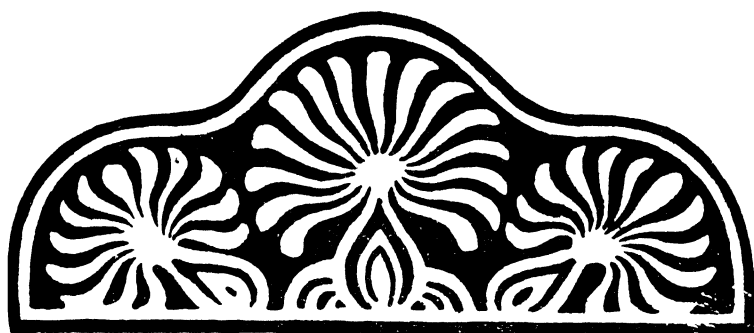
मां, लोरी सुना

'कविता' मेरी नन्ही कन्या है।[1] लोरियां सुनने का उसे बेहद शौक़ है। अब तो वह इन्हें समझने भी लगी है। लोरियों के एक-एक शब्द में वह मातृ-प्रेम की हिलोर पाती है। कितना आकर्षण होता है इन लोरियों में—मातृ-प्रेम की इन भोली कविताओं में। साथ ही कितना रस और एक मीठा-सा नशा भी होता है इन लोरियों में, यह कोई कविता से ही पूछे। शायद अभी वह इन सब बातों का उत्तर न दे सके ; पर उसका नन्हा-सा दिल लोरियाँ सुनकर अजब अन्दाज़ से मुस्करा देता है। सोचता हूँ, कविता ज़रूर लोरियों की गहराई तक पहुंचती है। मुस्कान पर तो प्रत्येक माँ के शिशु का अधिकार होना चाहिए और लोरियों पर भी।

अभी उस दिन कविता ज़िद करने लगी, तो उसकी माँ बोल उठी—"कोई कैसे मनाये इस ज़रा-ज़रा-सी बात पर रूठने वाली लड़की को ?"

मैंने पास से झट कह दिया—"कोई लोरी गा दो कविता को खुश करना कौन-सी बड़ी बात है ?"

माँ का दिल भी अजब चीज़ है ; पर यह दुनिया में कैसे आ गया ? अवश्य ही इसकी रचना स्वर्ग में हुई होगी। फिर भगवान् ने सोचा होगा—चलो, इसे भूमि पर भेज दें, ताकि इसके स्पर्श से वहाँ भी एक स्वर्ग बस जाय।

1 यह निबन्ध सन् १९३७ में लिखा गया था जब कविता पाँच वर्ष की थी।

मेरे ज़रा से इशारे से कविता की माँ का गुस्सा दूर हो गया। वात्सल्य उमड़ आया। एक नहीं, चार लोरियाँ आ हाज़िर हुईं—

कविता आवे मैं किक्कड़ जाणाँ
कविता दे पैरीं कड़ीयाँ
मैं बाज पछाणाँ

—'कविता आती है, पर मैंने यह कैसे जाना?
कविता ने अपने पैरों में 'कड़ियाँ' पहन रखी हैं।
मैं इन कड़ियों की झनकार पहचानता हूं।'

कविता आई खेडके
पैंदी आई धुम्म
रोटी दियाँ चोपड़के
चुन्नी लैंदी चुम्म

'—कविता खेलकर आई है,
खूब धूमधाम से आई है वह,
मैं उसे घी से चुपड़ी हुई रोटी दूँगी,
उसकी चुनरी को मैं चूम लूँगी!'

सुन नी कविता लोरी
तैनूँ दियाँ गन्ने दी पोरी!

—'सुन री कविता, लोरी सुन
मैं तुझे गन्ने की पोरी दूँगी।'

कविता दी मासी आई ए
दुद्ध-मलाई लियाई ए

—'कविता की मौसी आई है,
वह दूध और मलाई लेती आई है।'

कविता मिठाई के लिए ज़िद कर रही थी। लोरियों में उलझ कर वह मिठाई भूल बैठी। अब उसने लोरियों के लिए ज़िद शुरू कर दी, पर ज़िद करने में उसकी माँ भी तो कम नहीं है। वह बोली—"कहाँ से सुनाये जाऊँ मैं इसे नित्य नई लोरियाँ? भला, मैं लोरियों की मशीन कैसे बन जाऊँ?"

मैंने कहा—"लोरियाँ गाने में कौन सी ताक़त ख़र्च होती है?"

जब भी लोरियों की बात चलती है, मैं हमेशा कविता की हिमायत किया करता हूँ। बात असल में यह है कि मुझे स्वयं लोरियों से प्रेम है। उनके सरस स्वर मुझे बचपन के बीते सपनों की याद दिला जाती हैं। कभी-कभी तो मैं यह भी सोचता हूँ कि शायद मेरा अपना बचपन ही पुत्री कविता के रूप में लोरियाँ

सुनने के लिए आ हाज़िर हुआ है। लोरियाँ बचपन की चीजें हैं ? बचपन की भोली देवी अपनी पूजा में लोरियाँ क़बूल करती है। उस समय मुझे बालज़क की एक सूक्ति याद आई - 'दुनिया का सबसे मीठा गीत वह लोरी है, जिसे हम बचपन के प्रभात काल में अपनी माँ के मुख से सुनते हैं।'

उधर कविता अपनी ज़िद में सफल हो गई ! उसकी माँ का मुस्कराता हुआ मुखड़ा कविता की जीत का साक्षी दे रहा था। मैंने कहा—"यदि सुनानी ही है, तो कोई अच्छी-सी लोरी सुना दो।"

'लोरियाँ सभी अच्छी होती हैं, कभी बुरी नहीं होतीं। मेरी माँ अच्छी लोरियाँ जानती है !"—कविता बोल उठी।

अब के उसकी माने यह लोरी गाई—

उड्ड नी चिड़ीए उड्ड वे कावाँ
कविता खेडे नाल भरावाँ।

—'उड़ जा री चिड़िया, उड़ जा रे काग,
कविता खेले भाइयों के साथ।'

"मेरे भाई कहाँ हैं, माँ ?" कविता ने झट पूछ लिया।

माँ के होठों पर शर्मीली मुस्कराहट आ गई ! पर कविता को भी कुछ उत्तर दिये ही बनता था—"गली मुहल्ले के नन्हें लड़के, जो तेरे साथ खेलने आते हैं, वे सब तेरे भाई हैं, कविता !"

"और सब लड़कियाँ मेरी बहनें हैं ?"

"हाँ, वे सब तेरी बहनें हैं। कितनी-सयानी होती जा रही है तू ! ले, एक लोरी और सुन—

कविता बीबी राणी
सौहरियाँ दे घर जाणी

—'कविता बीबी रानी है,
उसे सुसराल जाना होगा।'

मैंने कहा— "यह लोरी मत गाया करो। अभी हमारी बेटी सुसराल नहीं जायगी।"

मैं ज़रा बाहर चला गया था। वापस लौटा, तो देखा कि कविता बदस्तूर गीत सुनने में मग्न है। अब वह यह लोरी सुन रही थी :—

कविता दे बाल गुड़ वंड रखाये
मक्खणाँ दे पाले झुल्ला मथ्थे नूँ आये।

—'कविता के केश बढ़ाना शुरू करते समय हमने गुड़ बाँटा था,

मक्खन से पाले हुए उसके केश झूलकर मस्तक पर आ गये।'

उस समय मुझे कविता के केश कितने सुन्दर लगने लगे--मक्खन से पाले हुए केश! पर मुझे एक मज़ाक सूझा। मैंने कहा--"देखो जी, अब गुड़ का ज़माना नहीं रहा। इस लोरी से गुड़ का शब्द निकाल दो अब। इसकी जगह खाँड़ शब्द का प्रयोग करो।"

पर कविता बोल उठी--"गुड़ कोई बुरा नहीं होता। मैंने बहुत बार खाया है। खाँड़ भी अच्छी होती है। गुड़ भी अच्छा होता है।"

गुड़ का जिक्र लोरियों में आम तौर पर आता है। अब के कविता की मा ने जान-बूझकर मुझे खिजाने के लिए ही शायद--यह लोरी गाई--

कविता आवे हट्टीयों
गुड़ कढ्ढीये कोरी मट्टीयों

--'कविता दुकान से आ रही है।
हम कोरी मटकी में से गुड़ निकाल रहे हैं।'

पंजाबी लोरियों की विशेषता यही है कि इन्हें गाते समय माँ अपनी सन्तान के नाम जोड़ती जाती है। इनकी काव्य-धारा निरन्तर अपने पथ पर अग्रसर रहती है। जब भी कविता इन्हें सुनती है, उसकी नन्हीं सी जीवन-सरिता में नई मस्ती ला देती है। जाने ये लोरियाँ कितनी पुरानी हैं। पर इनके साथ कविता का नाम जुड़ जाता है, तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे इनकी रचना कविता के लिए ही हुई है और कविता सदैव इन्हें सुनती रहेगी।- वह मचल कर कह उठती है--'माँ, लोरी सुना।' इस समय मेरे सम्मुख मानो शत-शत युगों के विकास-पथ पर अग्रसर होते शिशु के हाथ में वात्सल्य रस की जय-पताका नजर आने लगती है।

१०

रस, लय और माधुरी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर लिखा है--'हमारे ग्रामों का स्वरूप स्त्रियों का सा ही है। ग्रामों की रक्षा में ही हमारी जाति की रक्षा है। नगरों से कहीं अधिक प्रकृति के समीप होने के कारण जीवन-स्रोत के साथ ग्रामों का घना सम्बन्ध बना रहता है। ग्राम्य-जीवन में अनायास ही जीवन के घाव अच्छे हो जाते हैं। स्त्रियों की भाँति ही ग्राम हमारे जीवन के आवश्यक अंग हैं; वे हमें भोजन प्रदान करते हैं, और इस उदर-पूर्ति के साथ-साथ ही वे हमारे आनन्द के विषय हैं--यही वे स्थान हैं, जहाँ के स्त्री-पुरुष सरल जीवन-काव्य की सृष्टि किया करते हैं और नैसर्गिक सौन्दर्य-उत्सवों द्वारा जीवन को आनन्द-मय बनाया करते हैं।'

जो गरीब होकर भी सन्तोष की माया से मालामाल हैं, जो स्वयं भूखे रहकर भी अपने द्वार पर आये अतिथियों का हृदय से स्वागत करते हैं, जो सुन्दर होते हुए भी अपने सौंदर्य पर इतराते नहीं, जो शिशु की भाँति निष्कपट हैं और प्रकृति की मधुमय गोदी में बसते हैं, विश्वास, सरलता और भक्ति जिनकी संस्कृति के मूल-मन्त्र हैं, भगवान के ऐसे अमृत पुत्र हमारे ग्रामों में ही बसते हैं। ग्रामों के स्वाभाविक जीवन में स्थान-स्थान पर निर्मल हृदय का साम्राज्य देखने में आता है, पर इसके विपरीत नगरों में, जहाँ हम मनुष्य-निर्मित वस्तुओं से घिरे रहते हैं, कूटनीतिक मस्तिष्क का दौर-दौरा रहता है। तभी तो कहा है--ग्रामों का निर्माण भगवान् ने स्वयं अपने हाथों से किया

और नगरों का मनुष्य ने बनाये।

हमारे देश-प्रेमी साहित्य-सेवियों का ध्यान ग्रामों की ओर जा रहा है, इसे हमें अपनी जागृति का लक्षण ही समझना चाहिए; पर हमारे वे साहित्य-सेवी जिन्होंने कभी स्वप्न में भी ग्राम्य-जीवन का रसास्वादन नहीं किया, ग्रामीण जन-साधारण के व्यक्तित्व से परिचित नहीं हो सकते। जिन्हें नगरों के राजसिक और तामसिक वातावरण ने व्यापारिकता के दाँव-पेंच सिखला दिये हैं, वे उस सहानुभूति को कहाँ से लायेंगे, जिसके द्वारा ग्रामवासी स्त्री-पुरुषों के सुख दुःख का अध्ययन किया जा सके। जो ग्राम-वासियों की नैसर्गिक मुस्कान में अपनी मुस्कान और उनकी अश्रुराशि में अपने अश्रु नहीं मिला सकता, उसे किसानों की तथा अन्य ग्राम-वासियों की मनोवृत्ति क्या प्रेरणा दे सकती है? ग्रामों और नगर के दरम्यान हमारे दुर्भाग्य से एक लम्बी-चौड़ी खाई बनती जा रही है। इस गहरी खाई पर कोई पुल भी तो दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है! आखिर नगरों से जो लोग ग्रामवासियों के हृदय-जगत् तक पहुँचना चाहें, वे ऐसा करें भी तो क्यों कर? ग्राम्यजीवन के मनोवैज्ञानिक तथ्य, विचार-केन्द्र दृष्टि-कोण और आदर्श क्योंकर ढूँढ़े जायँ, जब कि इस खाई के उस पार होने के साधन ही मौजूद नहीं? यदि हम किसी प्रकार ग्रामों में पहुँच भी जायँ, तो भी हम अपने और ग्रामवासियों के बीच में इस गहरी और विस्तीर्ण खाई को मौजूद पाते हैं। ग्रामवासियों की आम बोली में हम बोल नहीं सकते—बड़ी मुश्किल दरपेश है। प्रान्त-प्रान्त में यही हाल है? पंजाब, यू० पी०, विहार, बंगाल इत्यादि किसी भी प्रान्त की बात ले लीजिए, वहाँ के नगर-निवासी साहित्य-सेवी तथा अन्य राष्ट्र-प्रेमी विद्वान् आम किसानों तथा ग्रामवासियों की बोली में बात करने से अभ्यस्त नहीं। श्रीकृष्णदत्त पालीवाल अपने व्यक्तिगत अनुभव में यही बतलाते हैं—"जब मैं किसी नेता अथवा धुरन्धर विद्वान् को गाँवों में, किसानों में व्याख्यान देते हुए सुनता हूँ, तब मेरा दिल बैठने लगता है। सोचता हूँ, हे राम, इनकी बातें कोई समझ भी रहा है। देखता हूँ बेचारे श्रोता मुँह बाये, वक्ता के होठों को हिलते, उनके शरीर को डुलते और शरीर के अन्य अङ्गों को चलते देखकर समझते हैं कि ये कुछ कह ज़रूर रहे हैं; पर क्या कह रहे, राम जाने। यह बात मैंने पहले-पहल स्वयं अपने व्याख्यानों में अनुभव की थी। तब से अब तक मैं गाँवों के कार्य-कर्त्ताओं के व्याख्यान सुनकर उनसे गाँवों में व्याख्यान देना सीखता रहता हूँ।"

ग्रामों की आम बोली में ग्राम-वासियों का साहित्य मौजूद है—प्रान्त-प्रान्त में वही हाल है; प्रान्तीय भाषाओं का यह साहित्य बहुत प्राचीन है

और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है। लोक-साहित्य से परिचित होना अब हमारे लिए आवश्यक हो गया है, इस साहित्य का अपना ही महत्व है। वे गीत जो ग्राम्य-जीवन का ताना-बाना बन चुके हैं, वे लोकोक्तियां जो दैनिक जीवन में ग्रामवासियों की वाणी को ज़ोरदार बनाया करती हैं, वे कथाएँ जो अवकाश की मधुमय घड़ियों में ग्रामीण स्त्री-पुरुषों का मन बहलाया करती हैं, गश्ती नाटक-मण्डलियों के आख्यान, ये सभी ग्राम-साहित्य के प्रमुख अङ्ग हैं। इस साहित्य के अध्ययन से हम ग्राम-वासियों की मनोवृत्ति का सजीव परिचय पा सकेंगे। खासकर ग्राम-गीतों का मनोवैज्ञानिक मूल्य तो बहुत ही ज्यादा है; इनका संग्रह तथा अध्ययन उस पुल का काम दे सकता है, जो हमें नगरों और ग्रामों के बीच की गहरी तथा विस्तीर्ण खाई को पार करने में पुल का काम दे सकेगा।

लोक-साहित्य की कई विशेषताएँ हैं। सबसे बड़ी विशेषता है इसकी स्वाभाविकता में सुसंस्कृत शृङ्गार के स्थान पर जंगल का-सा प्राकृतिक सौन्दर्य ही प्रधान है। खासकर लोक-गीतों पर तो यह बात सोलह आने ठीक बैठती है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है—"ग्राम-गीत प्रकृति के उद्‌गार हैं। इनमें अलङ्कार नहीं, केवल रस है; छन्द नहीं, केवल लय है; लालित्य नहीं, केवल माधुर्य है। प्रकृति जब तरङ्ग में आती है, तब वह गान करती है। उसके गीतों में हृदय का इतिहास इस प्रकार व्याप्त रहता है, जैसे प्रेम में आकर्षण, श्रद्धा में विश्वास और करुणा में कोमलता। प्रकृति के गान में मनुष्य-समाज इस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है, जैसे कविता में कवि, क्षमा में मनोबल और तपस्या में त्याग। प्रकृति संगीतमय है। ग्रहगण एक नियति कक्षा में फिरकर उस सङ्गीत का कोई स्वर सिद्ध कर रहे हैं। झरनों का अविराम नाद, पत्तों की मर्मर-ध्वनि, चंचल जल का कल-कल, मेघ का गरजन, पानी का छमाछम बरसना, आँधी का हा-हाकार, कलियों का चटकना, विक्षुब्ध समुद्र का महारव, मनुष्य की भिन्न-भिन्न भाषाएँ और विचित्र उच्चारण, खग, पशु, कीट-पतंग आदि की बोलियाँ, ये सब उस सङ्गीत के सहायक मन्द्र और तार; स्वर और लय हैं। वज्रपात काम है और नदियों का प्रवाह मूर्च्छना। लोक-गीत प्रकृति के उसी महासङ्गीत के अंश हैं।

पूर्वकाल में किसी व्याध के तीर से क्रौंच पक्षी को निहित देखकर मर्माहत महर्षि वाल्मीकि के हृदय में स्वभावतः करुणा उत्पन्न हुई थी। उसी करुणा से कविता का जन्म हुआ था। जो हृदय वाल्मीकि के पास था, वह गाँवों में सदा रहता है, अब भी है। उसी में से प्रकृति का गान निकलता रहता है।

कविता प्रकृति का गान है। वह मस्तिष्क से नहीं, हृदय से निकलती है। इसी से कृत्रिम सभ्यता के प्रकाश में उसका विकास नहीं होता। ग्राम-गीतों का जन्म-स्थान गांव है। जिनकी वाणी में मस्तिष्क नहीं, हृदय है; जिनके विनय के परदे में छल नहीं, पश्चात्ताप है; जिनकी मैत्री के फूल में स्वार्थ का कीट नहीं, प्रेम का परिमल है; जिनके मानस-जगत् में आनन्द है, सुख है, शान्ति है, प्रेम है, करुणा है, सन्तोष है, त्याग है, क्षमा है, विश्वास है, उन्हीं ग्रामीण मनुष्यों के बीच में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गान ग्राम-गीत हैं।"

लोक साहित्य में ग्राम-वासियों के जीवन का 'सोरठ' तथा 'विहाग' सुनने को मिलता है। इसकी स्वाभाविक रूप-रेखा हमारे राष्ट्रीय निर्माण में अवश्य सहायक होगी। देश के उन नर-नारियों से जो अन्यदेशीय लेखकों की रचनाओं के अनुवाद में लीन हैं, या जो अपने देश के गिने-चुने नागरिक कवियों तथा लेखकों में ही अपने साहित्य की इति-श्री समझते हैं, हम यह प्रार्थना किए बिना नहीं रह सकते कि वे अपने देश के लोक साहित्य से भी जानकारी हासिल करें, और अपने जन-साधारण की रचनाओं को भी राष्ट्रीय साहित्य-कानन में लाने का प्रयत्न करें। इन रचनाओं की स्वाभाविकता हमारे साहित्य तथा जीवन की बढ़ती हुई अस्वाभाविकता को बन्द करेगी! गुजराती के सुलेखक श्री कालेलकरजी ने इसी तथ्य की ओर इशारा करते हुए लिखा है—"आज का युग कृत्रिम है। हमारी भाषा, हमारा रिवाज, हमारा विवेक, हमारा हेतु, हमारी नीतिमत्ता, हमारा जीवन सब कृत्रिम हो गये हैं। खुली हवा में चलना फिरना या सोना हमारे लिए भय और लज्जा का विषय बन गया है। इसी प्रकार सामाजिक, राजकीय और कौटुम्बिक व्यवहारों में स्वाभाविक होने के लिए हममें कुछ दम नहीं, जैसे स्वाभाविकता में मौत या सर्वनाश की आशंका हो। लोक-साहित्य के अध्ययन से तथा इसके उद्धार से हम अपनी कृत्रिमता का कवच तोड़ सकेंगे और स्वाभाविकता की शुद्ध हवा में चल फिरकर शक्ति-सम्पन्न हो सकेंगे।"

कवि रवीन्द्रनाथ टाकुर ने ग्रामों का महत्व प्रकट करते हुए एक लेख में लिखा है—'ग्रामों के साथ-साथ शहरों की सृष्टि हुई है! वहां राज्य सत्ता के केन्द्र, सिपाहियों के किले और व्यापारियों के मालगुदाम होते हैं, पढ़ने-पढ़ाने के लिए कितने हो विद्यार्थी और अध्यापकगण एक स्थान पर एकत्रित होते हैं।...संसार के सुदूर प्रदेशों के साथ जान पहचान होती है। वहां लेन-देन का बाजार गरम रहता है और आदान प्रदान का सुयोग होता है। वहां भूमि के ऊपर पत्थरों के

ढेरों के ढेर पड़े रहते हैं। शहर ग्रामों का खून चूसते हैं और इसे फल-स्वरूप देते कुछ भी नहीं। आज ग्रामों के दीपक बुझ गये हैं और शहरों में कृत्रिम दीपकों का प्रकाश है—इस शहरी प्रकाश के साथ सूर्य, चन्द्रमा और सितारों का ज़रा भी सम्बन्ध नहीं है। प्रतिदिन सूर्योदय के समय जो प्रणति रहती थी, सूर्यास्त के समय जो आरती-प्रदीप जला करते थे आज वह कहीं भी नहीं हैं। केवल सरोवरों का जल ही नहीं सूखा, हृदय भी सूख गये हैं। जीवन के आनन्द से ओत-प्रोत होकर नृत्य-गीत जंगली फूलों की भांति खिल उठते थे, आज वे सब मुरझा कर धूल-धूसरित हो गये हैं।"

प्राचीन काल में हमारे ग्रामों की अवस्था बहुत उन्नत थी। ग्रामीण नर-नारियों में संगीत और नृत्य कला का बहुत प्रचार था। दैनिक-जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते थे जब वे नाचते हुए 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' का गान किया करते थे। इन गीतों में हृदय के गहरे और जोरदार भावों का प्रकाश किया करते थे।

मातृभूमि का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए पुरातन कवि गा उठा था—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति मर्त्यो व्यैलबाः

—'जहां आनन्द मनानेवाले लोग गाते और नाचते हैं?

संगीत, नृत्य और काव्य को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। कल्पना-सजीव ग्राम-वासियों के हृदय स्रोत से अहर्निश न जाने कितनी ही नाचती हुई कविताएं झरती रहती हैं। मानवता के इस बाल्य काल में नर नारी प्रकृति के बहुत समीप रहते थे; प्रकृति के स्वर उनकी हृदय वीणा को स्पन्दित करते रहते थे। उन दिनों घटना और कल्पना में सगी बहनों का सा सम्बन्ध रहता था।

सामाजिक जीवन की आरम्भिक अवस्था में भी कविता उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर सकती है, यह बात लोकगीतों के अध्ययन के बिना समझ में आ सकती है। कदाचित् कविता के बाल्य-काल की ओर संकेत करते हुए किसी ने कहा था—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला
जायते यत्र काव्यांगमहते भारो महाकवे

—'न कोई शब्द है, न कोई वाणी है, न कोई न्याय है और न कोई काल है जो काव्य का अंग न हो।'

अनेक देशों में किसान आज भी इस भावना से कि फसलें और भी ऊँची हो जायं, उछल-उछल कर अनेक सामूहिक नृत्यों में अपनी प्रतिभा का परिचय

दिया करते हैं। ये नृत्य उन्हें उन पूर्वजों के साथ एक सूत्र में बांध देते हैं जिन्होंने सर्वप्रथम प्रकृति को बहुत समीप से देखा था! जाने किस किस गुप्त-स्थान, मूल हृदय तथा गुप्त इतिहास की वाणी इन शब्दों को जोरदार रंग प्रदान किया करती हैं। इनकी सरसता पर मुग्ध होकर हम कह उठते हैं—मानवता का बहुमूल्य इतिहास इन नृत्यों के एक-एक ताल के रहस्य-गीतों के एक एक स्वर में निहित है। ये बहुमूल्य गीत हैं।

युग युग के अनेक सुखद और दुःखद चित्र भारतीय लोकगीतों में भरे पड़े हैं। इनके दर्पण में हम एक महान् संस्कृति की रूपरेखा देखकर आनन्द-विभोर हो उठते हैं।

एक गुजराती गीत सुनिये! ससुराल में बैठी कोई कन्या नैहर की स्मृति में अटपटे बोल गुनगुनाने लगती है—

म्हने सतावशो न कोई
हूँ छूँ परदेशवासी पंखिणी
म्हने दुभावशो न कोई
हूँ छूँ परदेशवासी पंखणी
दूर दूर छे देशवा डुंगरा ने,
दूर गिरिवर करे माल
दूर दूर छे निर्मलां नारत्यान
दूर छे भोमका ए रसाल
म्हने सतावशो न कोई
मीठो महेरन म्हारो बांधवो
ने अमृत मीठड़ी माय
देव दीधां मारां भाँडवड़ाँ जे
सर्वे सुखमां रहतां त्यांय
म्हने सतावशो न कोई
छांडी ए म्हारा दादाजीना देश ने
वसुं छुं हूं दूर दूर दूर
सोणलां सतावे म्हने रातदिन ने
झाँखी गालुं आँखड़ी नुँ नूर
म्हने शतावशो न कोई
भाग्य म्हारुं लाव्यूँ अहीं दोरी
राम दऊँ कोने हैं दोख

एकलवायी हुँ पंखिणी तोये
राखुँ शो अन्तरमां रीश (रोष)
म्हने शतावशो न कोई

—'मुझे कोई न सतावे,
मैं तो एक परदेशिन चिड़िया हूँ।
मुझे कोई कष्ट न पहुँचाये,
मैं तो एक परदेशिन चिड़िया हूँ।
मेरे देश के टीले बहुत दूर हैं,
मेरे देश की पर्वतमाला बहुत दूर है।
दूर है वहां का निर्मल नीर,
दूर है वहां की रसाल भूमि।
मुझे कोई न सतावे।
मीठे सागर के समान हैं मेरे बन्धु-बान्धव,
अमृत की सी मीठी है मेरी मां।
भगवान ने मुझे बहन-भाई दिये हैं,
वे सब वहां सुख में रहते हैं।
मुझे कोई न सतावे।
अपने दादाजी का देश छोड़कर,
मैं यहां इस सुदूर प्रदेश में रहती हूँ।
उनकी याद मुझे दिन-रात सताती है!
रो रो कर मैंने आँखों का नूर गवाँ लिया,
मुझे कोई न सताये।
मेरा भाग्य ही मुझे यहां खींच लाया है।
हे राम! भला मैं किसे दोष दूँ,
मैं तो एकाकिनी चिड़िया हूँ।
भला मैं दिल में क्या रोष रक्खूँ?
मुझे कोई न सतावे।'

नैहर की कल्पना में प्रायः प्रान्त प्रान्त में मातृभूमि का चित्र सजग हो उठा है।

विवाह के पश्चात् बहिन ससुराल में चली आई। उसके भाई को अब इतनी फुरसत भी नहीं रही कि कभी बहिन से भेंट कर सके। एक दूसरे गुजराती गीत के शब्दों में वह बहन किसी राह-चलते बटोही से कह रही है:—

म्हारा महियरिया ना पंथी
सन्देशो म्हारा वीर ने केजे
दूर बसे छे तारा ब्हेनड़ी
संभारणूँ शूँ न रह्युं स्हेजे
म्हारा महियरिया ना पंथी
व्हाणला वीत्यां कैक मासनां
तो य ना साँवरे शुँ ब्हेनी
कामन कीधांशुं भाभलड़ीए रानी
म्हारा महियरिया ना पंथी
के व्हाल सोयां बालुड़ानी संगे
विसारी मूकी शूं त्हारी ब्हेनड़ी
बाट जोऊं न्यालं पन्थने हुं
आवे म्हारो वीरो हुँ घेलड़ी
म्हारा महियरिया ना पंथी
आव्या रूड़ा पर्वणी ना दिन ने
ना, ब्यांबोरा कई त्हारा संभारणां
संभारजे वीरा कदिक ब्हेनी ने
लेले ब्हेनीनां मन भर वारणां
म्हारा महियरिया ना पंथी

—'ओ मेरे नैहर के पथिक !
मेरे भाई से मेरा सन्देश कहना—
तेरी बहिन इस सुदूर प्रदेश में बसती है,
क्या तुझे उसकी याद भी नहीं रही ?
ओ मेरे नैहर के पथिक !
दिन बीत गये, महीने गुजर गये,
तुझे अपनी बहिन की ज़रा भी याद नहीं आती ।
मुझ पगली ने ऐसा कौनसा कर्म किया !
मेरी ख़बर तक नहीं लेता ?
क्या तूने अपने बाल बच्चों में घुल मिल कर,
अपनी बहन को बिलकुल ही भुला दिया है ?
मैं तुम्हारी बाट जोहती हूँ,
कि मुझ पगली का भाई कब आयेगा ।

ओ मेरे नैहर के पथिक !
त्यौहार का शुभ दिन आ गया,
भाई तुम्हारा सुख-समाचार नहीं आया।
हे भाई ! कभी अपनी बहिन की भी खबर लिया करो।
अपनी प्यारी बहिन के हृदय से निकली असीस लिया करो ?
ओ मेरे नैहर के पथिक !'

अब एक सिन्धी गीत का रस चखिये। कहते हैं, कोई राजा अपने किसी सेवक की पत्नी पर आसक्त हो गया था, जिसने अपने सतीत्व को बचाने के लिये कोई कसर उठा नहीं रखी। कौन जाने इस सिन्धी कुलबधू का वक्तव्य सुनकर राजा का दृष्टिकोण बदल गया था या नहीं। पर इससे इतना तो स्पष्ट है कि सिन्धी लोकगीत ने सामाजिक नैतिकता का समर्थन करने का दायित्व खूब निभाया है—

आज अबेला क्यूं आविया
कहरो मुज में काम
थाँरो महँतो घर नहीं
इरा सुगना रो शाम
शहर उजेनी हूँ फिरिओ
महिले आवियो आज
तास अवेली आवियो
तुज बुलावन काज
चन्द्र गयो घर आपने
राजा तूं भी घर जा
मैं अबला-मी-से केसे बलनों
तूं केहर हूँ गा
अवि डिआं आपरी
आणि मत लोपो आप
हूँ कवली तूँ ब्राह्मण
हूँ बेटी तूँ बाप

—'आज इस असमय में आप यहां क्यों आये हैं ?
मुझसे आपका क्या काम ?
आपका सेवक घर में नहीं है,
यहां तो अपने पति की सती साध्वी पत्नी है।

मैं शहर उज्जैन से चलकर आया हूँ ।
आज मैं तुझे पकड़ ले जाने के लिये इस महल में आया हूं ।
इसलिये ज़रा देर हो गई है ।
हे राजा, चांद अपने घर चला गया है ।
आप भी अपने घर जाइए ।
मुझ अबला से कैसा वार्तालाप ?
आप सिंह हैं और मैं गाय हूँ ।
मैं तुम्हें तुम्हारी ही शपथ देती हूँ ।
देखना इसे झूठी न होने देना ।
मैं गाय हूँ, और तुम ब्राह्मण हो ।
मैं कन्या हूं और तुम पिता हो ।'

हमारे लोकगीत हमारे अमूल्य रत्न हैं, जो हमारे देश के सात लाख ग्रामों में बिखरे पड़े हैं । आवश्यकता है ऐसे नवयुवकों की, जो अपने-अपने प्रान्तों के लोक-गीत संग्रह करें और राष्ट्रीय साहित्य की वृद्धि के लिए इन्हें अनुवाद सहित प्रकाशित करें ।

रस, लय और माधुरी--ये भारतीय लोकगीतों की विशेषताएँ हैं जिनकी ओर हमारे साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से जाना चाहिए ।
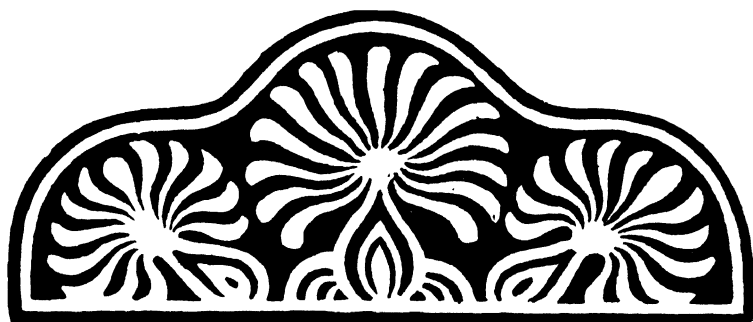
११

बुन्देली गीत

होली का मौसम है। आइये, बुन्देलखण्ड के ग्रामीणों के उत्सव में सम्मिलित हों। वह देखिये, टीकमगढ़ के निकट मिनौरा ग्राम के मुन्ना और चतरा स्त्री-वेश धारण किये हुए आ रहे हैं, और उनके साथ नये गाँव का ढूँढ़े खँगार भी है।

मुन्ना ने गाना शुरू किया--

चाहें कछु हौ जाइ
उमरि भरि मोरी निभाइदेउ बालमा

इस पार्टी में चमार, लुहार, धोबी, कुम्हार और खँगार सभी शामिल हैं। कोई ढोलक बजा रहा है, तो कोई मँजीरा और कोई शरीर द्वारा भिन्न-भिन्न भाव-भंगियों को प्रकट करता हुआ मटक रहा है। ढूँढ़े मँजीरा बजाने में बिल्कुल तल्लीन है। भाँग तो सभी ने पी रखी है। सुन लीजिए वे क्या-क्या गाते हैं--

१

नई गोरी नये बालमा नई होरी की झाँक[1]
ऐसी होरी दागियो तोरे कुल कौं न आवै दाग
सम्हरि कैं यारी करौ मोरे बालमा

[1] आग।

२

प्रीतम प्रीत लगाइकैं बसन दूरि नइँ जाउ
बसौ हमारी नागरी सो दरसन दै-दै जाउ
नजर सैं टारे टरौ नइँ मोरे बालमा

३

जोबन ते जब रूप के गाहक ते संसार
जोबन ढलकि आली गये सो घटि गये मान-गुमान
गोरी रे एक मनुस की ना भई

४

यारी करी दिल जान के दै पनमेसुर बीच
इतनी जामैं खोटी करी छोड़ि गयो अधबीच
छैल रे तोरे भले होने ना

५

सब के सैयाँ नीरे बसैं मो दोखन के दूर
घरी-घरी पै नाचे है सो ह्वै गए पीपरामूरि

आज चूँकि होली की परवा है, इसलिए बेड़नियाँ (ग्रामीण नर्तकियाँ) भी बुलाई गई हैं। उनका फाग भी कुछ कम सुन्दर नहीं—

१

अँगना सूकै सूकनौ सो बन सूकै कचनार
गोरी सूकैं मायकैं सो हीन पुरख की नार
हमैं सुख नइहाँ सासरें आयकैं

२

चुनरी रँगी रँगरेजने गगरी गढ़त कुमार
बिंदिया गढ़ी सुनार ने सो दमकत माँझ लिलार
बिंदुलिया[1] तो लै दई रसीले छैल ने

३

पीपर पत्ता चीकनें दिन चिलकैं औ रात
यारी बालापने की खटकत है दिन-रात
लगी कों कानों बिसारैं मोरे बालमा

[1] शायद इसी बिन्दी की चमक देख कर किसी कवि ने कहा था—
'बिनु बादर बिजुरी कहाँ चमकी।'

४

चन्दा पै खेती करौं सूरज पै करौं खरियान
जोबन के बरदा करौं, मोरे पिया पमर कौं जायँ
झमक झरि लगि रही सावन-भादौं की

इन फागों से प्रकट होता है कि बुन्देलखण्ड के ग्रामीणों के हृदय में रस की मात्रा बहुत काफी है। यद्यपि कभी-कभी वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो नगरों के सभ्य समाज में त्याज्य समझे जाते है, तथापि अपने हृदय के भावों को चुस्त भाषा में प्रकट करने की सामर्थ्य उनमें विद्यमान है।

श्री गौरीशंकर द्विवेदी के मतानुसार बुन्देली गीतो का विभाजन इस प्रकार किया जाना चाहिए--

सैरे—ये आषाढ़ मास में गाये जाते हैं।

राछरे—ये ज्येष्ठ से श्रावण तक गाये जाते हैं।

मलारें और सावन } ये श्रावण और भाद्रपद में में गाई जाती हैं।

विलवारी दिवारी } ये क्वाँर और कार्तिक में गाई जाती हैं।

बाबा के भजन } ये संक्रान्ति आदि तीर्थ-यात्रा के अवसर पर माघ में गाये जाते हैं।

फागें लेदें } माघ-फाल्गुन में गाई जाती हैं।

गारी--विवाहादि के अवसरों पर गाई जानी हैं।

इनके अतिरिक्त घास काटते समय, मजदूरी करते समय, चक्की पीसते समय इत्यादि अनेक अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के गीत, भजन, दादरे आदि गाये जाते हैं।

एक गीत में बैलों के गुण-दोष आदि की जरख वड़ी सुन्दरता में वर्णित है—

कन्त बजारे जात हौ
कामिन कह करजोर
एक अरज सुन लीजियो
कन्त मानियो मोर
जात बजारे छैला मोरे जात बजारे छैला
लेन अनाखे बैला

लीला है रंग अति जबरजंग
औगुन न अंग एकहु बाके
रोमा मुलाम[1] पतरो[2] है चाम
चाहे लगें दाम कितनहुँ[3] बाके[4]
सु लिइए[5] अमल[6] चुखैला[7]
मोरे जात बजारे छैला
धौरा[8] रंग बाँकुड़ा चंचल
ओछे कानन[9] खैला[10]
हंसा से बैल ना लिए छैल
ना दिए पैल[11] अगरे[12] बाके
कजरा की शान ले लिए जान
दै दिए दाम चित में दैके
सो ओछे कानन खैला
मोरे जात बजारे छैला
पुठी उतार घींच[14] पनरी कौ
ना लिइए बगरैला[15]
करिया के दंत जिन गिनौ कंत[16]
हठ चलौ अंत मानौ विनती
सींगन के बीच भौंयन दुबीच

१ मुलाम=मुलायम, नर्म। २ पतरो=पतला। ३ कितनहुँ=कितने ही। ४ बाके=उसके। ५ सु लिइए=सो लीजियेगा। ६ असल ७ चुखैला=खूब चोखनेवाला, जिसने खूब दूध पिया हो। ८ धौरा=सफेद। ९ ओछे कानन=छोटे कानोंवाला। १० खैला=नया बैल। ११ ना दिये पैल=पहले से न दीजिएगा। १२ अगरे=पेशगी। १३ पुठी=पुट्ठे। १४ घींच=गर्दन।

१५ बगरैला=बगर में रहने वाला। देहातों में जिनके यहाँ अधिक बैल होते हैं, वे एक बाड़ा (हाता) बनाकर उसी में बिना बँधे हुए बैल बंद कर देते हैं, जहाँ वे स्वेच्छानुसार बैठते हैं। कहने का मतलब यह है कि इस प्रकार का बैल भी न लीजियेगा।

१६ करिया के दंत, जिन गिनौ कंत=काले बैल के दाँत भी न देखो। बैल लेते समय परीक्षा में दाँत देखे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि काला रंग देखते ही उसे छोड़ दो।

भौंरी हो बीच-सो हुइये असल परैला[1]
मोरे जात बजारे छैला
लेन अनोखे बैला

मानो और मुगल का गीत बुन्देली लोक-गीत की बहुत लोकप्रिय वस्तु है—

काहाँना सें मुगला चले
री मानो काहाँना लेत मिलान
पच्छम सें मुगला चले
सास मेरी अग्गम लेत मिलान
ऊँचे चढ़के मानो हेरियो
कोई लग गये मुगल बजार
हुकम जो पाऊँ रानी सास को
मैं तो देखि आऊँ मुगल बजार
मुगला को का देखना
री मानो मुगला मुगद गँवार
सास की हटकी मैं न मानों
मैं तो देखि आऊँ मुगल बजार
जो तुम देखन जात हो
री मानो कर लों सोरेहों सिंगार
तेल की पटियाँ पार लईं
मानो सिंदूरन भर लई माँग
माथे बीजा अत बनो
री मानो बिंदिअन की छब नियार
माथे बिंदिया अत बनी
री मानों कजरा की छब नियार
चलीं चलीं मानो हुना गईं
रे कोई गईं कुम्हार के पास
अरे-अरे भइया कुम्हार के
रे एक मटकी हमें गढ़ देउ
एक मटकिया का गढ़ूँ
री मानो मटकी गढ़ों दो-चार

[1] परैला=लेट जानेवाला; कामचोर।

एक मटकिया गढ़ो, रे भइया
जा में दहिया बने और दूध
अरे-अरे भइया कुम्हार के
तुम कर दौ मटकिया के मोल
पाँच टका की जाकी बैनी है
री मानो लाख टका को मोल
पाँच टका धरनी धरे
कुम्हार के मटकी लई उठाय
दहिया-दूध जामें भर लयो
री मानो देखि आओ मुगल-बजार
चलीं-चलीं मानो हुना गई
रे कोई गई मुगल के पास
पहली टेर मानो मारियो
रे कोई दहिया लेत कै दूध
दही दूध के गरजी नहीं
री मानो घुँघटा कर दौ मोल
दूजी टेर मानो मारियो
रे कोई मुगल लई पछिआय
लौट आयो मानो बदल आयो
रे मेरी रनियाँ देखैं जायो
रनियाँ को का देखना
रे मुगला ऐसी रैतीं मोरि गुबरारि
लौट आयो मानो बदल आयो
मेरे कुँवरन देखैं जायो
कुँवरन को का देखना
मेरे रैते ऐसे गुलाम
लौट आयो मानो बदल आयो
मेरे हतिया देखैं जायो
हतिअन को का देखना
रे मुगला मेरी भूरी भैंस को मोल
घुँघटा खोलत दस मरे
रे मुगला बिंदिया देखि पचास

मुगला सौक जब मरे
रे जब तनिक उघरि गई पीठ
सोउत चन्द्रावल ओध के
रे तेरी ब्याही मुगल लै जाय
मुगला मारे गरद करे
रे बिनगे लोथें लगा दईं पार
रक्तन की नदियाँ बहीं
रे बिन ने लोथें लगा दईं पार

—'कहाँ से मुगल चला ?
अरी मानो ! कहाँ पर आकर उसने पड़ाव डाला ?
पीछे से मुगल चला,
ओ मेरी सास ! आगे आकर पड़ाव डाला !
ऊँची छत पर चढ़ कर मानो ने देखा—
मुगलों का बाज़ार लग गया है ।
यदि रानी सास का हुक्म पाऊँ
तो मैं मुग़ल-बाज़ार देख आऊँ
मुग़ल का क्या देखना है ?
अरी मानो, मुग़ल तो निरा गँवार है !
सास की रोकी मैं न रुकूँगी,
मैं तो मुग़ल-बाजार देख आऊँगी !
यदि तुम देखने जाती हो,
अरी मानो, सोलहों शृंगार सज लो !
तेल लगा कर पट्टियाँ काढ़ लीं,
सिंदूर से मानो ने माँग भर लीं !
माथे पर बीजा नामक आभूषण बहुत फबा है !
अरी मानो, बिन्दी की छबि न्यारी है !
माथे पर बिंदुली खूब फबी है,
अरी मानो, कजरे की छबि न्यारी है !
चलती-चलती मानो वहाँ पहुँची,
वह कुम्हार के पास पहुँची ।
ओ भाई, ओ कुम्हार के बेटे,
एक मटकी गढ़ दो मेरे लिये ।

एक मटकी क्या गढ़ूँगा,
अरी मानो, मैं दो-चार मटकियाँ गढ़ दूँगा।
ओ भाई, एक मटकी गढ़ो,
जिसमें दूध भी बन पड़े और दही भी !
ओ भाई ! ओ कुम्हार के बेटे !
तुम मटकी का मोल कर दो !
पाँच टके इसकी बौनी है,
अरी मानो, लाख रुपये इसकी कीमत है !
पाँच टके धरती पर धरे हैं,
ओ कुम्हार के बेटे, मैंने मटकी उठा ली है !
दही और दूध उसमें भर लो,
अरी मानो !—सास बोली—मुग़ल बाज़ार देख आओ।
चलती-चलती मानो वहाँ गई—
वह मुग़ल के पास गई !
मानो ने पहली हाँक मारी—
अरे कोई दही लेता है या दूध ?
मैं दही-दूध का ग़रजमन्द नहीं हूँ !
अरी मानो, घूँघट का मोल कर दो !
मानो ने दूसरी हाँक मारी—
मुग़ल ने उसका पीछा किया—
लौट आ, मानो, पलट आ !
अरी मेरी रानी को देखती जा !
रानी का क्या देखना है ?
अरे मुग़ल ! ऐसी तो मेरे यहाँ गोबर के
उपले बनाने पर नौकरानी है !
लौट आ, मानो पलट आ !
मेरे कुँवर को देखती जा !
कुँवरों का क्या देखना है ?
मेरे यहाँ तो ऐसे गुलाम रहते हैं।
लौट आ, मानो, पलट आ !
मेरा हाथी देखती जा !
हाथियों का क्या देखना है ?

अरे मुग़ल ! वे तो मेरी भूरी भैंस के मोल के हैं।
(लो !) घूँघट खोलने पर दस आदमी मरे,
अरे मुग़ल, बिंदुली देख कर पचास आदमी मर गये !
सौ मुग़ल तब मरे,
जब ज़रा मेरी पीठ उघड़ गई !
सोता चन्द्रावल चौंक पड़ा—
अरे तेरी ब्याहता को तो मुग़ल लिये जा रहा है !
मुग़लों को मार-मार गर्द कर डाला,
उसने लाशें पार लगा दीं !
रक्त की नदियाँ बह निकलीं !
उसने लाशें पार लगा दीं !'

ऐसे अनेक गीत हैं। पंजाब के लोक-गीतों में भी मुग़ल अकसर ग्राम की लड़की या दुलहिन को बल से उड़ा ले गया है। युक्तप्रान्त के गीतों में भी भारतीय इतिहास का मुग़ल युग मौजूद है। स्थान-स्थान पर लोक-गीतों में, मुग़ल का इश्क़, ठुकराया गया है। मुग़ल को मानो ने भी खरी-खरी सुनाई थी।

अभी उस दिन हमारे एक बन्धु ने मिनौरा ग्राम के निकट से जाते हुए चक्की की आवाज़ के साथ यह गीत सुना था—

सुनौरी परोसिन गुइयाँ
ये बारे लला मानत नइयाँ !"

—'हे मेरी सखी-सहेली पड़ोसिन, सुनो तो
तुम्हारा यह छोटा लल्ला मानता नहीं, तंग कर रहा है।'

महाराजपुर की रधिया अहीरिन ने भी अपना प्रिय गीत सुना डाला था—

हमाई कैसें चुकत तिहाई
मेंड़न-मेंड़न हम फिर आए
डीमा देत दिखाई
हमाई कैसें चुकत तिहाई
छोटीं-छोटीं बाल कढ़ीं
नरवाई रई फरराई
हमाई कैसें चुकत तिहाई
माँ ते जिमींदार कौ आयौ बुलउआ
को आ करत सहाई
हमाई कैसें चुकत तिहाई

टलियाँ-बछियाँ साहू ने ले लईं
रै गई पास लुगाई
हमाइ कैसें चुकत तिहाई !

—'देखें हमारी-तुम्हारी कैसे-कैसे चुकती है !
मैं मेड़-मेड़ पर फिर आया,
ढेले नज़र आते हैं वहाँ !
देखें हमारी तुम्हारी कैसे चुकती है !
छोटी-छोटी बालें निकली हैं ।
और फ़िज़ूल के घास-पौदे खूब फहरा रहे हैं !
देखें हमारी-तुम्हारी कैसे चुकती है !
वहाँ से ज़मींदार का आदमी बुलाने आया है !
कोई है, जो मेरी सहायता करे ?
देखें हमारी तुम्हारी कैसे चुकती है !
गाय-बछियाँ सब साहूकार ने ले लीं ।
मेरे पास मेरी स्त्री ही रह गई है !
देखें हमारी-तुम्हारी कैसे चुकती है !'

अनेक गीतों में लगान अदा करने की कठिनाइयों की गाथा का गान हुआ ।

स्वतन्त्रता के ऊषा-काल में बुन्देली लोक-गीतों में नई जागृति की आशा की जानी चाहिए ।
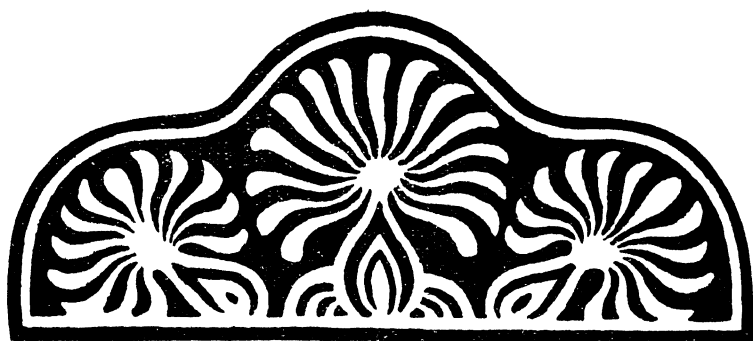
१२

हल लगा पाताल

लोकोक्ति-साहित्य के महत्व पर विचार करते हुए श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने ठीक ही लिखा है "लोकोक्तियां मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। अनन्त काल तक धातुओं को तपाकर सूर्य-रश्मि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती है, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार लोकोक्तियां मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटनेवाली ज्योति प्राप्त होती है। लोकोक्तियां प्रकृति स्फुलिंगी रेडियो एक्टिव तत्वों की भांति अपनी प्रखर किरणें चारों ओर फैलाती रहती हैं। उनसे मनुष्य को व्यावहारिक जीवन की गुत्थियों या उलझनों को सुलझाने में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। लोकोक्ति का आशय पाकर मनुष्य की तर्क-बुद्धि शताब्दियों के संचित ज्ञान से आश्वस्त-सी बन जाती है और उसे अंधेरे में उजाला दिखाई पड़ने लगता है, वह अपना कर्तव्य निश्चित करने में तुरन्त समर्थ बन जाती है।"

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि संसार के नीति-साहित्य में लोकोक्तियों का स्थान बहुत ऊँचा है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि खानाबदोश कबीलों की भांति लोकोक्तियां दूर-दूर की यात्रा करती हुई अपनी-अपनी जन्मभूमि के अतिरिक्त अनेक देशों में आ पहुँची हैं। अपने इस मत की पुष्टि के अनुरूप लोग प्रायः यह युक्ति देते हैं कि देश-देश की अनेक लोकोक्तियों में घनिष्ठ आत्मीयता देखी गई है और कोई-कोई लोकोक्ति तो एक ही रूप में हर कहीं

इतनी लोकप्रिय और उपयोगी नज़र आती है कि उन्हें मानव मात्र की सम्पत्ति मानना पड़ता है !

मिश्र और चीन की प्राचीन संस्कृतियों में बुद्धिमूलक लोकोक्ति-साहित्य का बहुत आदर किया जाता था। यह बात बहुत ज़ोर देकर कही जा सकती है कि बाइबिल की लोकोक्तियां नामक प्रकरण, जो श्रेष्ठ व्यवहार-साधक ज्ञान के सूत्रों के लिए बेबलिन की लोकोक्तियों के प्रभाव को छिपाकर नहीं रख सका, इस युग के आलोचकों ने अपनी छानबीन द्वारा इस विचार को खूब पुष्ट किया है।

हिन्दुस्तान भी इस दिशा में किसी से पीछे नहीं। श्री अग्रवाल लिखते हैं:— "उपनिषद्-युग के अन्त में बुद्धिपूर्वक सोचने की प्रवृत्ति का विकास हुआ, जिसकी झलक बौद्ध-साहित्य में भरपूर मात्रा में विद्यमान है। वही समय सूत्र-शैली के विकास का भी युग था। लोकोक्तियों और नीति-साहित्य का अत्यधिक मन्थन इसी काल में सबसे पहले प्राप्त होता है। कामंदक ने लिखा है कि आचार्य विष्णुगुप्त ने अपनी प्रखर बुद्धि के प्रताप से अर्थशास्त्र के महासमुद्र से नीति-शास्त्र रूपी शास्त्र का मन्थन किया। आर्य चाणक्य बुद्धि के पुजारी थे। उन्होंने स्वयं मुद्राराक्षस नाटक के आरम्भ में बुद्धि की प्रशंसा करते हुए कहा है कि कार्य साधने के लिए अकेली बुद्धि ही सैकड़ों सेनाओं से बढ़कर है।"

चाणक्य-सूत्र में ५६१ सूत्र पिरोये गये हैं, जिनमें कुछ ऐसे भी हैं, जो सर्व-साधारण के चिरसंचित ज्ञान के प्रतीक मालूम होते हैं :—

बिना तपाये हुए लोहे से लोहा नहीं जुड़ता
बाघ भूखा होने पर भी घास नहीं खाता
कलार के हाथ के दूध का भी मान नहीं
लोहे से लोहा कटता है
उधार के हजार से नकद की कौड़ी भली

लोकोक्तियां जनता के सामूहिक ज्ञान तथा अनुभव से जन्म लेती हैं। कंठ इनके घाट हैं। इनकी प्रेरणा सदा देश की सामाजिक गति-विधि की ऋणी रहती है। इनका एक-एक शब्द इस बात का प्रमाण होता है कि भाषा की टकसाल ने अपनी ज़िम्मेवारी कहां तक निभाई है। मौखिक परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है और यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश के निवासियों के जीवन का वास्तविक चित्र उनकी लोकोक्तियों के अध्ययन के बिना अपूर्ण रहता है।

कल के कबूतर से आज का मोर अच्छा है।

अन्तिम दोनों सूत्र उस युग के प्रतिनिधि हैं जब नकद धर्म का पलड़ा भारी हो रहा था अर्थात् जब परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष जीवन ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा था। वात्सायन ने अपने कामसूत्र में इसी प्रकार के जीवन-दर्शन पर जोर देते हुए कहा है—'खटकेवाले निष्क से बिना खटके का वार्षापण अच्छा है। निष्क उन दिनों सोने का सिक्का था और वार्षापण चांदी का। ये दोनों सिक्के श्री अग्रवाल के मतानुसार ईस्वी पांचवीं शताब्दी पूर्व में प्रचिलित थे और इससे इतना तो प्रत्यक्ष है कि इस लोकोक्ति की आयु अधिक नहीं तो इससे कम तो हो ही नहीं सकती। उधार के हजार से नकद की कौड़ी भली का वर्तमान हिन्दी रूपान्तर है, नौ नकद न तेरह उधार।

सर मानियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोष की भूमिका में इस बात पर जोर दिया है कि नीति-शास्त्र की चतुरता में भारतवासी संसार में अद्वितीय रहे हैं। जिन लोगों ने महाभारत का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि इस अकेले ग्रन्थ में व्यावहारिक बुद्धि की कितनी सूक्तियां भरी पड़ी हैं। संस्कृत-साहित्य-सेवियों ने न्यायों के रूप में इसी नीति-साहित्य के बहुमूल्य रत्नों को सुरक्षित रख छोड़ा है। लौकिक न्यायांजलि-ग्रन्थ के तीन भागों में विद्वान् ग्रन्थकार जैकब ने प्राचीन न्यायों का सुन्दर सङ्कलन उपस्थित किया है। इनका वैज्ञानिक अध्ययन, इनका काल-क्रम स्थिर कर सकेगा। संस्कृत, प्राकृत और पाली के सैकड़ों ग्रन्थ इस बुद्धि-परायण साहित्य पर आश्रित हैं। देश की विभिन्न भाषाओं में प्रचलित लोकोक्तियों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करेगा कि किस प्रकार बुद्धि और नीति की बपौती मौखिक परम्परा में आज भी सुरक्षित है।

सन् १८८६ में फैलन ने हिन्दी-लोकोक्तियों का एक महान् संग्रह प्रस्तुत किया था। मराठी[1], काश्मीरी[2], पंजाबी, पश्तो, बंगला, उड़िया, तामिल, तेलुगु आदि भारतीय भाषाओं की लोकोक्तियों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। यह प्रत्यक्ष है कि अभी इस दिशा मे बहुत काम बाकी है। इस बात की विशेष आवश्यकता है कि संग्रह-कार्य के साथ-साथ लोकोक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।

हिन्दी भाषा के अनेक जनपद हैं। प्रत्येक जनपद अपनी बोली पर गर्व

1. Fallon's Dictionary of Hindustani Proverbs (1886)
2. A Dictionary of Kashmiri Proverbs and sayings by Rev. J. H. Knowles (1885)

कर सकता है। प्रत्येक बोली में लोकोक्तियों का असीम भण्डार विद्यमान है। यह कार्य सचमुच एक बहुत बड़ी संस्था के सहयोग ही से किया जा सकता है, यद्यपि इस दिशा में किये गये समस्त एकाकी प्रयत्न विशेष रूप से प्रशंसनीय हैं। एक बुन्देली ही को लीजिये। श्री हरगोविन्द गुप्त ने बुन्देली लोकोक्तियों के क्षेत्र में बहुत बड़ा कार्य किया है। वह २,००० बुन्देली लोकोक्तियाँ संग्रह कर चुके हैं। इसी प्रकार गढ़वाली और कुमायूनी लोकोक्तियों का प्रकाशन भी हो चुका है। भोजपुरी लोकोक्तियों पर भी प्रशंसनीय खोज की जा रही है। जनपदीय वातावरण का चित्रण सबसे अधिक यहाँ की लोकोक्तियों ही में देखा जा सकता है। विभिन्न जनपदीय लोकोक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन अब समस्त देश का ध्यान खींच रहा है। बोल-चाल की ठेठ भाषा एक-एक लोकोक्ति पर अपना अधिकार जमाये हुए है। नारी की निजी भावनाएँ भी किसी-न किसी लोकोक्ति में प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। हमारे चारों ओर नागरिक जीवन का प्रसार है; नगर से दूर ग्राम-ही-ग्राम बसे हुए हैं और इन ग्रामों का हृदय लोकोक्तियों की भाषा में अपने भाव प्रकट करता है। लोक-जीवन में आवश्यकता के अनुरूप नये मुहावरे ढालने और पुराने मुहावरों को खरादने का कार्य बहुत कुछ अचेतन रूप से चलता रहता है।

'राजस्थानी लोकोक्ति संग्रह' का परिचय कराते हुए श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—"राजस्थान हिन्दी-क्षेत्र के अन्तर्गत एक विस्तृत भू-प्रदेश है, जिसमें मेवाड़ी, मारवाड़ी, हाड़ौती और ढूँढाढी बोलियों के अन्तर्गत विपुल जनपदीय साहित्य विद्यमान है। क्रमशः इस साहित्य की कहावतें, मुहावरे, धातु-पाठ, पेशेवर शब्द, कहानी, लोक-गीत आदि का संकलन करना राजस्थानी भाषा के प्रेमियों का कर्त्तव्य है। हर्ष की बात है कि हिन्दी-विद्यापीठ उदयपुर ने इस ओर पग बढ़ाया है। श्री लक्ष्मीलालजी जोशी ने प्रस्तुत संग्रह में मेवाड़ की लगभग १,००० कहावतों का संग्रह करके एक आवश्यक अङ्ग की पूर्ति की है।"

जोशीजी ने अपने लोकोक्ति संग्रह का विषय-विभाग इस प्रकार किया है—१. नीति-परक, २. मानव-जीवन सम्बन्धी, ३. अन्योक्तियां, ४. जाति-सम्बन्धी, ५. इतिहास-सम्बन्धी, ६. ऋतु-सम्बन्धी ७. विविध। जैसा कि इस संग्रह की भूमिका में अग्रवालजी ने भी स्वीकार किया है, विषय विभाग के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सहायता से विषय-विभाजन की प्रणाली अवश्य ही स्पष्टतर होती जायगी।

जनपदीय बोलियों के शब्दकोष तैयार करते समय इनकी लोकोक्तियों से

बहुत सहायता मिलेगी। थोड़ी-बहुत वेश-भूषा बदलकर शत-शत शताब्दियों के पुराने शब्द आज भी इन लोकोक्तियों में जीवित नज़र आते हैं। बोल-चाल की भाषा का रूप बहुत-कुछ बदलता रहता है; परन्तु लोकोक्तियों में पुरातन भाषा के भग्नावशेष देखकर भाषा का समस्त इतिहास हमारी आंखों में फिर जाता है। लोकोक्तियों का अर्थ-निर्देश करते समय केवल भावार्थ लिख डालने की शैली भाषा और जीवन के वैज्ञानिक अनुसन्धान में सहायक नहीं हो सकती, यह मत स्थिर करते हुए अग्रवालजी ने 'राजस्थानी लोकोक्ति-संग्रह' की भूमिका लिखी है।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि भावार्थ शीघ्र ध्यान में आने से शब्दार्थ का स्पष्टीकरण छूट जाता है! यथा, 'रोटी खावे मक्की की और बड़ाई मारे कांसा की' १२१–६० उक्ति में कांसे की बड़ाई मारने का भावार्थ है लम्बी-चौड़ी तारीफ करना, पर शब्दार्थ है कासे के बरतनों में परोसे हुए श्रेष्ठ, सुन्दर वा राजकीय भोजन की प्रशंसा करना। लोकोक्ति १४५–२२ का शब्दार्थ स्पष्ट है। लोकोक्ति १३२–१४६ में भींजा पाहुना क्यों भंगी बराबर है, यह स्पष्ट होना चाहिए। अथवा १६१–६ में कवि और चित्रकार को भी पांच परक के द्वारो गिरने का क्या हेतु है, यह जानने की इच्छा रहती है। सुन्दर स्त्रियों के प्रति चित्र और कविता द्वारा राजाओं को उकसाने के कारण शायद वे निन्दा के पात्र समझे गये। लोकोक्ति १८६–२ नगर-सेठ की ऐतिहासिक घटना की अपेक्षा व्यंग अधिक प्रबल जान पड़ता है और यह ऋण लेकर मौज करने-वाले किसी नादिहन्द की उक्ति-जैसी लगती है। अर्थ की दृष्टि से निम्नलिखित विशेष ध्यान देने योग्य है:—

आसोजां का तावड़ा में जोगी वेग्या जाट
बामण वेग्या सेवड़ा ज्यों बाण्या वेग्या भाट

पुस्तक का अर्थ—'आश्विन मास में धूप तेज पड़ती है, उसमें फिरने से जाट जोगी, ब्राह्मण सेवक, और महाजन भाट जैसे हो जाते हैं;' ठीक नहीं है।

यह उक्ति बहुत ही चोखी है और हमारे जीवन की तीन विशेष घटनाओं पर इसमें चुटकी की मार है। इसका पूरा अर्थ इस प्रकार खुलता है—

'आश्विन की धूप में जाट जोगी हो जाता है, ब्राह्मण सेवक बन जाता है, और महाजन भाट बन जाता है।'

'कुआर की करारी धूप में कहा जाता है कि कस्तूरिया हिरन भी काले पड़ जाते हैं। उस घाम में भी जाट खेत में हल चलाता है और कातिक की बुआई के लिये खेत तैयार करता है। उसका यह परिश्रम योगी के पञ्चाग्नि

तापने से कम नहीं कहा जा सकता।'

'ब्राह्मण सेवड़ा बन जाता है। 'सेवड़ा' शब्द का अर्थ सेवक नहीं है। सेवड़ा संस्कृत में श्वेत-पट अर्थात् श्वेताम्बर का अपभ्रन्श है। जायसी के पद्मावत में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है:—

सेवरा खेवरा बानपर सिध साधक अवधूत
आसन मारे बैठ सब जारि आतमा भूत

(हिन्दी शब्द-सागर, पृष्ठ ३६६८)

"कुआर महीने के पितृ-पक्ष में निमन्त्रण-भोजी ब्राह्मण प्रायः एक ही बार भोजन कर लेता है, रात में नहीं खाता। श्राद्ध में जीमनेवाले भोजन-भट्टों पर किसी ने कहावत में क्या अच्छा कूट किया है। इसी संग्रह की लोकोक्ति सं० १६६–३ 'बामण स्वामी सेवड़ा जात-जात ने मारे' में भी सेवड़ा का यही अर्थ है, 'सेवा' नहीं।

'कुआर में बनिया भाट बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि असौज फसल की पैदावार से अपने देन-लेन की उघाई करते हुए महाजन को भाट की तरह किसान आसामियों के लिए मीठे शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है।

प्रत्येक कृषि-सेवी जनपद की बोली में खेती की कहावतों का अपना अलग स्थान रहता है। इनका सङ्कलन और अध्ययन करते समय हम सोचने लगते हैं कि धरती ही इन उक्तियों की माता है। इनके तानेबाने में खेती का इतिहास बार-बार हमारे सम्मुख आता है। युग-युगान्तर से किस प्रकार मानव अपने परिश्रम से धरती की कोख से फसलें उगाता आया है, धरती से उसकी निकटता, उसका परिश्रम, उसकी हार-जीत सब इन्हीं कहावतों में निहित है। उसका समस्त अनुभव 'जन्म, वृद्धि और ह्रास' की डगर पर चलता हुआ नजर आता है। इनका विकास कृषि-सेवी जनता के शताब्दियों के प्रयोगों का प्रतीक है। हल चलाने, खेत बोने, निराने और फसल काटने इत्यादि के सम्बन्ध में हिन्दी की जनपदीय बोलियों में अनेक लोकोक्तियां प्रचलित हैं। साधारण बातचीत में इनके शब्द बार-बार गूँज उठते हैं। खेती की प्रत्येक क्रिया किसी-न-किसी लोकोक्ति का संकेत चाहती है। यहाँ खेती की कुछ चुनी हुई हिन्दी-लोकोक्तियाँ दी जाती हैं।

वायु-परीक्षा

१. जब जेठ चले पुरवाई, तब सावन धूर उड़ाई

२. सावन में पुरवइया भादों में पछियांव,
हरवाहे हर छोड़ दे लरिका जाय जियाव

३. भादों जै दिन पछिव बयार, तै दिन माघै परै तुसार
४. अम्बाझोर बहै पुरवाई, तब जानो बर्षा ऋतु आई
५. एक बयार बहै जो ऊता[1], मेंड से पानी पियो पूता
६. जो पुरवा[2], पुरवाई, सूखी नदिया नाव चलावै
७. दिन सात चलै जो बांड़ा,[3] सूखे जल सातों सांड़ा
८. पहला पवन पुरुब से आवे, बरसे मेघ अन्न सरसावै
९. पुरवा में जो पछिवां बहै, हांसि के नार पुरुष से कहै
ऊबरसेई करै भतार, घाघ कहै यह सगुन विचार
१०. बयार चले ईसाना, ऊंची खेती करौ किसाना
११. वायु चले जो पछिमा, मांड़ कहां से चखना
१२. वायु चले जो उतरा[4], मांड़ पियेंगे कुतरा
१३. वायु चले जो दखिना, डोला पानी लखना
१४. वायु चले जो पुरवा, पियो मांड़ का कुरवा
१५. सब दिन बरसै दखिना बाय, कभी न बरसे बरखा पाय
१६. पूस वदी दसमी दिवस, बादर चमके तीज,
तो बरसे भर भादों, साधो खेली तीज
१७. माघ पूस जो दखिना चले, तो सावन के लच्छन भले
१८. सावन के मुख पछिमा, उहै समय की लछिमा[5]
१९. औवा औवा बहै बतास, तब जानो बरखा कै आस
२०. फागुन मास बहै पुरवाई, तब गेहूं में गेरुई धाई
२१. माघ पूस बहै पुरवाई, तब सरसों को माहूं खाई
२२. जै दिन भादों बहै पछार, तै दिन पूस में परै तुसार
२३. सावन मास बहै पुरवाई, बरधा बेंचि लिहा धेनुगाई
२४. दखिनी कुलछिनी, माघ पूस सुलछिनी

वर्षा-विज्ञान

२५. एक मास ऋतु आगे धावै, आधा जेठ असाढ़ कहावै
२६. दिन में गरमी रात में औस, कहैं घाघ बरखा सौ कोस
२७. दिन को बादर रात को तारे, चलो कन्त जंह जावै बारे

१ उत्तर से, २ पूर्वाषाढ़, ३ अग्निकोण, ४ उत्तर से, ५ लक्षण

२८. देले ऊपर चील जो बोले, गली गली में पानी डोले
२९. दिन का बादर, सूम का आदर
३०. धनुष पड़े बंगाली,[1] मेंह सांझ या सकालो
३१. जेठ मास जो तपै निरासा, तब जानौ बरखा के आसा
३२. चमके पच्छिम उत्तर ओर, तब जान्यो पानी हो जोर
३३. सांझे धनुक विहाने पानी, कहै घाघ सुनु पंडित ज्ञानी
३४. करिया बादर जी डरवावै, भूरे बदरे पानी आवै
३५. जो हर होंगे बरसनहार, काह करेगी दखिन बयार
३६. सांझे धनुप सकारे मोरा, ये दोनों पानी के बौरा
३७. पछियांव के बादर, लबार का आदर
३८. माघा के बरसे, माता के परसे, भूखा न मांगे फिर कुछ हर से
३९. जो कहूं मग्घा बरसै जल, सब नाजों में होगा फल
४०. धनि वह राजा धनि वह देश, जहवां बरसै अगहन सेस
पूस में दूना माघ में सवाई, फागुन बरसै घरों से जाई
४१. लाल पियर जब होय अकाश, तब नाहीं बरखा के आस
४२. पानी जो बरसै स्वाती, कुरमिनि पहिरै सोने के पाती
४३. जो बरसे पुनरबस स्वाति, चरखा चले न बोले तांति
४४. दिन को बादर रात को तरैयां, यह नारायण का करैयां
४५. साठी होवे साठ दिना, जब पानी बरसे रात दिना
४६. पानी बरसे आधा पूस, आधा गेहूं आधा भूस

बैल

४७. दस हल राव आठ हल राना, चार हलों का बड़ा किसाना
दो हल खेती एक हल बारी, एक बैल से भली कुदारी
४८. एक हल हत्या दो हल काज, तीन हल खेती, चार हल राज
४९. एक बात तुम सुनहु हमारी, बूढ़ बैल से भली कुदारी
५०. डग डग डालन फरका पेलन, कहां चले तुम बांडा[2]
पहिले खाबई रान परोसी,[3] गोसैयां कब छांड़ा
५१. सींग मुड़े माथा उठा, मुंह का होवे गोल
रोम नरम चंचल करन, तेज बैल अनमोल

१ बंगाल की दिशा में, २ पूंछ कटा, ३ महल्लेवाले,

५२. एक समय विधना का खेल, रहा उसर में चरत अकेल
एक बटोही हर हर कहा, ठाढ़े गिरा होस न रहा[1]

५३. पूंछ झम्पा औ छोटे कान, ऐसे बरद मेहनती जान

५४. बैल तरकना[2] टूटी नाव, ये काहू दिन दैहैं दांव

५५. छोटा मुंह ऐठा कान, यही बैल की है पहचान

५६. बरद किसाहन जाओ कन्ता, खैरा[3] का जनि देखौ दन्ता
जहां परै खैरा की खुरी, तो कर डारै चापर[4] पुरी
जहां परै खैरा की लार, बढ़नी लैके बुहारो सार[5]

५७. उजर बरौनी मुंह का महुवा,[6] ताही देखी हरवाहा रोवा

५८. नीला कन्धा बगन खुरा,[7] कबहुँ न निकले कन्ता बुरा

५९. छोटा सींग औ छोटी पूंछ, ऐसे को लेलौ बे पूंछ

६०. छुद्दर[8] कहै मैं आऊं जाऊं, सद्दर[9] कहै गुसैयें खाऊं
नौद्दर[10] कहै मैं नौ दिस धाऊं, हित कुटुम्ब उपरोहित खाऊं

६१. बैल लीजै कजरा,[11] आम दीजै अगरा

६२. निटिया[12] बरद छोटिया[13] हारी,[14] दूब कहे मोर काह उखारी

६३. बरह बेसाअ जाओ कन्ता, कबरा[15] जनि देखो दन्ता

६४. बड़सिंग जनि लीजो मोल, कूएं में डारो रुपिया खोल

६५. मियनी[16] बैल बड़ो बलवान, तनिक में करिहै ठाड़े कान

६६. बाछा बैल बहुरिया जोय, ना घर रहै न खेती होय

६७. बिन बैलन खेती करै, बिन मैयन के रार
बिन मेहरारू घर करै, चौदह साख लबार

६८. बांधा बछड़ा जाय मुठाय, बैठा बैल जाय तुन्दिआय

६९. बूढ़ा बैल बिसाहै, झीना कापड़ लेय
आपुन करै नसौनी, दैवै दूषण देय

७० बैल चमकना जोत में, औ चमकीली नार
ये बैरी हैं जान के, लाज रखैं करतार

१ गादर बैल का कथन, २ चौंकनेवाला, ३ कत्थई रंग के खुरवाला, ४ नष्ट, ५ बैल बांधने की जगह, ६ पीले रंग का, ७ बैंगनी रंग के खुरवाला, ८ छः दांतवाला, ९ सात दांतवाला, १० नौ दांतवाला, ११ जिसकी आंखें काली हों १२ नाटा बैल, १३ छोटा, १४ हलवाहा, १५ चितकबरा, १६ बैल की एक जाति।

७१. अगहन में न दी थी कोर, तेरे बैल क्या ले गये चोर

जोताई

७२. उत्तम खेती जो हर गहा, मध्यम खेती जो संग रहा
जो पूछेसि हरवाहा कहां, बीज कूड़िगे तिनके तहां

७३. जो हर जोते खेती वाकी, और नहीं तो जाकी ताकी

७४. खेत बे पनिया जोतो तब, ऊपर कुवां खुदायो जब

७५. मैदे गेहूं, ढेले चना

७६. जोते खेत घास ना टूटै, तेवार भाग सांझ ही फूटै

७७. कातिक मास रात हल जोतौ, टांग पसारै घर मत सूतौ

७८. गेहूं भवा काहें–सोलह दांय बाहें

७९. गेहूं भवा काहें–असाढ़ के दो बाहें

८०. तेरह कातिक तीन अषाढ़, जो चूका सो गया बजार

८१. बीज फले अच्छा देत, जितना गहरा जोते खेत

८२. बाली छोटी भई काहें ?–बिना आषाढ़ की दो बाहें

८३. बाहें क्यों न असाढ़ एक बार, अब क्यों बाहें बारम्बार

८४. तीन कियारी तेरह गोड़, तब देखो ऊखी की पोर

८५. जो ढेले दे तोर मरोर, ताके दूंगी कोठिला फोर

८६. मेंड़ बांध दस जोतन दे, दस मन बिगहा मों से ले

८७. कच्चा खेत न जोते कोई, न हीं बीज न अंकुरे कोई

८८. बांह न कीन्हों मोटा, बीज बतावें खोटा

८९. जोत न माने अरसी चना, कहा न माने हरामी जना

९०. बांह न जाने मसुरी चना, हित न जाने हरामी जना

९१. छोटी नसी, धरती हंसी

९२. गेहूं भवा काहें, सोलह बाहें नौ गाहें

९३. बिगरे जोत पुराने बिया, ताकी खेती छिया बिया

खाद

९४. खाद देय तो होवे खेती, नहीं तो रहे नदी की रेती

९५. जाकर डालो गोबर खाद, तब देखो खेती का स्वाद

९६. असाढ़ में खाद खेत में जावे, तब भूरी मूठी दाना पावे

९७. वही किसानी में है पूरा, जो छोड़े हड्डी का चूरा

९८. सन के डंठल खेत छिटावै, तिनते लाभ चौगुना पावै

९९. गोबर मैला नीम की खली, 'यह से खेती दूनी फली
१००. जेकरे खेत पड़ा नहीं गोबर, वहि किसान को जान्यो दूबर'
१०१. जो तुम देवो नील की जूठी, सब खादों में रहे अनूठी
१०२. खेती करै खाद से भरै, सौ मन कोठिला में लै धरै

बीज की तोल

१०३. जो गेहूँ बोवै पांच पसेर, मटर का बीघा तीसै सेर
१०४. बोवै चना पसेरी तीन, सेर तीन की जोन्हरी कीन
१०५. पांच पसेरी बिगहा धान, तीन पसेरी जड़हन मान
१०६. दो सेर मोथी अरहर मास, डेढ़ सेर बीघा बीज कपास
१०७. सवा सेर बीघा सांवां मान, तिल्ली सरसों अंजुरी जान
१०८. डेढ़ सेर बजरा बजरी सांवा, कोदो काकुन सवैया बोवा
१०९. बर्रे कोदो सेर बोवाओ, डेढ़ सेर बीघा तीसी जाओ

बोआई

११०. जब बर्रे बरोठे आई, तब रबी की होय बोआई
१११. बुध बउनी, सुक लउनी
११२. आधैं हथिया मूरी मुराई आधैं हथिया सरसों राई
११३. अगा सो सवाई
११४. दीवाली को बोये दीवालिया
११५. सावन सांवां अगहन जवा, जितना बोवै उतना लवा
११६. अगहन बवा, कहूं मन कहूँ सवा
११७. कोठिला बैठी जई आधै अगहन काहे न बई
११८. कोठिला बैठी बोली जई खिचड़ी खाकर क्यों न बई
जो कहं बउतेउ बिगहा चार, तो मैं डरतिउं कोठिला फार
११९. मक्का जोन्हरी औ बजरी इनको बोवै कुछ बिडरी
१२०. घनी घनी सनई बोवै तब सुतरी की आसा होवै
१२१. कातिक बोवै अगहन भरै, ताको हाकिम फिर का करै
१२२. सन घना बन बेगरा मेढकफन्दे ज्वार
पैग पैग पर बाजरा करै दरिद्रै पार
१२३. कदम कदम पर बाजरा मेघकुदौनी ज्वार
ऐसा बोवे जो कोऊ घर घस भरै कुठार
१२४. हरिन छलाँगन काँकरी पैग पैग कपास
जाय कहो किसान से बोवै घनी उखार

१२५. छी छी भली जौ चना छी छी भली कपास
जिनकी छी छी उखड़ी उनकी छोड़ो आस
१२६. गाजर गंजी मूरी तीनौ बोवै दूरी
१२७. दाना अरसी बोया सरसी
१२८. बोओ गेहूं काट कपास होवै ढला न होवै घास
१२९. पहले काँकरी पीछे धान उसको कहिये पूर किसान
१३०. जो तेरे कुनबा घना तो क्यों न बोये चना
१३१. या तो बोयो कपास औ ईख, या तो माँग के खायो भीख
१३२. जो तू भूखा माल का ईख कर ले नाल का
१३३. आलू बोवै अंधेरे पाख खाद में डालो कूड़ा राख
समय समय जो सींचो करै, दूना आलू घर में धरै
१३४. आगे की खेती आगे आगे पीछे की खेती भाग जागे
१३५. साठी में साठी करै बाड़ी में बाड़ी
ईख में जो धान बोवै फूंको वाकी डाढ़ी
१३६. तिल कोरैं उर्द बिलैरे
१३७. ऊँख सरवती दिवला धान इन्हें छाँडि जन बोवो आन

सिंचाई

१३८. धान पान उखेरा तीनों पानी के चेरा
१३९. धान पान औ खीरा तीनों पानी के कीरा
१४०. तरकारी है तरकारी, यानी पानी की अधिकारी
१४१. काले फूलन पाया पानी, धान मरा अधबीच जवानी
१४२. चना जी का लेना, सोलह पानी देना
बीस के बच्छा हारे हारे बलम नवीना
हाथ में रोटी बगल में पैना
एक बार बहै पुरवाई, लेना है न देना
१४३. साठी होवे साठवें दिन, पानी पावै आठवें दिन
१४४. अगहन में सरवा भर, फिर करवा भर
१४५. गेहूं आये बाल, खेतै बनायो ताल
१४६. खेत बेपानी बुड्ढा बैल, सो गिरस्त सांझे घर गैल

निराई

१४७. दो पत्ती क्यों न निराये, अब बीनत क्यों पछिताये
१४८. सावन भादों खेत निरावै, तब गिरहस्त बहुत सुख पावै

१४९. भली जाति कुरमिनी की, खुरपी हाथ
आपन खेत निरावै पिय के साथ
१५०. गेहूं बाहे, चना दलाये
धान गाहे, मक्की निराये, ऊख कसाये

कटाई

१५१. लाग बसन्त, ऊख फुलन्त
१५२. चना अधपका जौ पका काटै, गेहूं बाली लटका काटै
१५३. आये मेष, हरी न देख
१५४. सात सेवाती, धान उठावा

मड़ाई

१५५. पछिवा हवा, ओसावै जोई, घाघ कहें घुन कबहुं न होई
१५६. दो दिन पछुवां छः पुरवाई, गेहूं जौ को लेहू दंवाई
ताके बाद ओसावे जोई, भूसा दाना अलगै होई
१५७ गेहूं जौ जब पछुंवा पावे, तब जल्दी से दायां जावै

फसल के रोग

१५८. गेहूं गेरुई गांधी धान, बिना अन्न के मरा किसान
१५९. फागुन मास बहै पुरवाई, तब गेहूँ में गेरुई धाई
१६०. माघ पूस बहै पुरवाई, तब सरसों का माहूँ खाई
१६१. चना में सरदी बहुत समाई, ताको जान गधैला खाई
१६२. नीचे ओद ऊपर बदराई, घाघ कहै गेरुई खुब धाई·
१६३. कर्महीन खेती करै, कि ओला गिरै कि पाला परै
१६४. जेकरे ऊख लगै सोहाई तेहि पर आवै बड़ी तबाही
१६५. जै दिन भादों बहै पछार, तै दिन पूस में पड़ै तुसार
१६६. ऊख बचाई काहे से, स्वाती का पानी पाये से
१६७. चित्रा बरसे माटी मारै, आगे से गेरुई के कारे
१६८. सावन भादों कुहरा आये, मास पूस में पाला खाये
१६९. गेहूँ गेरुई चरका धान, बिना धान के मरा किसान

फुटकर

१७०. एक मास में ग्रहण जो दोई, तो भी अन्न महँगा होई
१७१. मंगलवारी होय दिवारी, हसैं किसान रोवें बैपारी
१७२. माघ मास जो पड़ै न सीत, मंहगा नाज जानियो मीत

१७३. एक मास दो गहना, राजा मरे कि सहना
१७४. ऊँचे चढ़ के बोला मंडुवा, सब राजों का मैं हूं मंडुवा
१७५. आठ दिना जो मुझको खाय, भले मरद से उठा न जाय
१७६. उठके बजरा यों हंस बोलै, खाये बूढ़ युवा हो जाय
१७७. उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख निदान
१७८. धान गिरै सुभागे का, गेहूं गिरै अभागे का
१७९. बाढ़ें पूत पिता के धर्मा, खेती उपजै अपने कर्मा
१८०. ऊंच अटारो मधुर बतास, घाघ कहैं घर ही कैलास
१८१. चैना चोरी चाकरी, हारे मरै किसान
१८२. पांचे आम पचीसे महुआ, तीस बरस में इमली कहुआ
१८३. दो तोई घर खोई, दो जोई घर खोई
१८४. आगे मेघा पीछे मान, पानी पानी रटै किसान
१८५. सौ बेर सत्तू नौ बेर चबेना, एक बेर रोटी लेना न देना

जोताई, बोआई और सिंचाई, निराई, कटाई और ओसाई के नये-नये वैज्ञानिक उपाय प्रयोग में लाये जायंगे। परन्तु पुराने प्रतीक जनता के मानस में सदा स्थिर रहेंगे। हल और हंसिया का ध्यान आते ही मानव का सिर सदा गर्व से ऊँचा उठ जायगा, भले ही हल और हंसिया के रूप बदलते चले जायं, परन्तु यह तो सम्भव नहीं कि मानव अपने पुरखों की देन को एकदम भुलादे।

ग्राम का इतिहास लाख करवट बदले, धरती के प्रति मानव की यह भावना कि वह उसकी 'सर्व भूलों की धात्री' है, कभी खत्म नहीं हो सकती।

युग-युगान्तर से भूत और भविष्यत् को एक सूत्र में पिरोते हुए, जन्म, वृद्धि और ह्रास की त्रिमूर्ति के सम्मुख अपने अनुभव के पुष्प चढ़ाते हुए, गाँव की कृषि सेवी जनता सदैव यह सिंहध्वनि करती आई है—"हल लगा पाताल, तो टूट गया काल।"
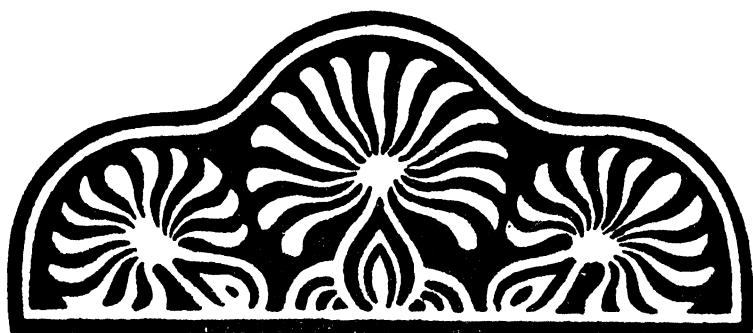
१३

वीर-रस

साहसपूर्ण, ओजस्वी तथा उदात्त विचारों की प्रेरणा से मानव-जगत् में वीर-रस की सृष्टि होती है। यह वह जादू है, जो मुर्दों में जान डाल देता है, और उन्हें मरने मारने के लिए तत्पर कर देता है।

धन्य है वह माँ, जिसका लाल अपने वीर-कार्यों से देश और जाति का सर ऊँचा करता है; धन्य है वह बहन, जिसका भाई बलि-वेदी पर सीस चढ़ाता है, और धन्य है वह रमणी, जिसका पति शत्रु को पीठ नहीं दिखाता।

वीर-रस-पूर्ण लोरियाँ गा-गाकर माताएँ अपने बच्चों को देश और जाति के सच्चे सिपाही बना सकती हैं। ईरान की ऐसी ही एक प्राचीन लोरी है—

'उठ, माँ तुझ पर कुरबान,
उठ, अब तू बहुत सो चुका।
उठ, अब तुझे सोना हराम है।
तेरा बाप आज़ादी की राह में मारा गया,
अपनी जगह तेरे सुपुर्द कर गया है।
उठ, ताकि मेरा दूध तेरे लिए हलाल हो,
उठ मेरे दिल के टुकड़े!
तू अपने बाप की सच्ची यादगार है।
उठ, मैं तेरे बाप की तलवार तेरी कमर से बाँध दूँ,
और तुझे मैदान-जंग में भेज दूँ।

उठ, दुश्मन दरवाजे तक पहुँच चुका है,
अपने बाप की जगह खड़ा हो और उसका बदला ले।
उठ, मेरी दोनों आँखों के चिराग़, उठ !
तेरे बाप के बाद तेरी माँ बेकस है।
दुश्मन दरवाजे की चौखट तक पहुँच चुका है।
उठ, और अपनी माँ की इज्ज़त की हिफ़ाज़त कर।
उठ, मेरे दिल के सहारे, उठ !
मैं तेरी आँखों में बहादुरी के वही निशानात देखूँ,
जो तेरे बाप की आँखों में मौजूद थे।
उठ बेटा ! तेरी आँखें तेरे बाप की आंखों से मिलती-जुलती हैं।
उठ बेटा ! मैदान-जंग की तरफ दौड़।
क्या तुझे शंख की आवाज़ सुनाई नहीं देती ?
क्या तू अपने भाइयों को फरियाद नहीं सुनता ?
सिर बलन्द किये हुए जीतकर आना,
या अपने बाप की तरह वहीं ही जान देना।
उठ कि मेरा दूध तुझपर हलाल हो,
उठ कि तू मेरे जिगर का टुकड़ा है,
और अपने बाप की सच्ची यादगार है।'

देश और जाति का मार्ग प्रदर्शन हमेशा उसकी वीरमाताओं के हाथ में रहता है। संस्कृत-साहित्य की किसी माता ने कैसा वीरोद्गार प्रकट किया था—

धीरज ध्वनि भिरलन्ते नीरद मे मासिको गर्भः।
उन्मदवारणबुद्धया मध्ये जठरं समुच्छलति

—'हे बादल ! मत गरज। मेरे एक मास का गर्भ है।
यह समझकर कि कोई मतवाला हाथी चिंघाड़ रहा है, वह मेरे पेट में उछल रहा है !'

कोई समय था, जब भारत में ऐसी वीर माताएँ हुआ करती थीं, जो अपनी कोख से ऐसे ओजस्वी और साहसी बच्चों को जन्म दिया करती थीं, पर अब दशा बिलकुल विपरीत है। आज हमारे घरों में दुर्बल शरीर और कायर स्वभाव बच्चों का जन्म होता है। भारत के प्रायः बीस लाख से अधिक बच्चे संसार में प्रवेश करते ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। क्षत्रियोचित वीरता अब एक भूली हुई कहानी-सी प्रतीत होती है।

रण-भूमि की ओर प्रस्थान करते समय देशभक्त सिपाही वीर-रस-पूर्ण गीत

गाया करते थे। ये गीत बड़े बड़े कायरों को भी मरने-मारने कटने-जूझने के लिए उतावला कर देते थे। गुरु गोविन्दसिंह का ऐसा ही एक सुविख्यात गीत है—

चिड़ियों से मैं बाज़ लड़ाऊँ
तभी गोविन्दसिंह नाम धराऊँ
सवा लाख से एक लड़ाऊँ
तभी गोविन्दसिंह नाम धराऊँ

इन गीतों की रचना सिपाही लोग स्वयं करते थे। 'युद्ध-कविता-संकलन' की भूमिका में एडमंड बलंडन लिखते हैं—'फौजी सिपाही नहीं चाहते कि उनकी कविता फैक्टरी से बनकर (अर्थात् सिद्ध कवियों द्वारा रचकर) आये।... कैसा भी युद्ध हो, ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक सिपाही ने अपने गीत में युद्ध की भयंकरता का चित्रण न करने की सौगन्द-सी ले रखी हो। प्राचीन युद्ध-काव्य में वीर-धर्म की महिमा पर, जो मृत्यु से अधिक मूल्यवान् वस्तु है, बहुत ज़ोर दिया गया है। इन कविताओं में सिपाहियों के घरेलू जीवन के चित्रों और प्रेम-उद्गारों की, जिन्हें वह अपने पीछे घर पर छोड़ आया है, भरमार है।'

जो हो, भारतीय संस्कृति-वीणा से आज भी वीर स्वर निकल रहे हैं। एक मणिपुरी गीत में वीर-रस के उद्गार सुनिए—

खुंगा बी पाँगो लू-लामे
लू-लामे लू-लामे
टराँग लू-लाम का थाया
खुँगा बी पाँगो लू-लामे

—'सर काट लिया गया, युद्ध का गीत गाओ।
युद्ध का गीत गाओ, युद्ध का गीत गाओ।
सर काटना कितना शुभ कार्य है,
सर काट लिया गया है, युद्ध का गीत गाओ।'

यह वही मणिपुर-राज्य है, जहाँ की राजपुत्री चित्रांगदा के साथ महाभारत के वीर-शिरोमणि अर्जुन का विवाह हुआ था। यहाँ के शिकारी लोग शेर के शिकार को जाते समय प्रायः यह गीत गाया करते हैं—

राले राले कालिया
हेनगुन राले काडियो
शाह शाँग पाँगटे
मा थैल बाटा डैंडुनू

शैम्बू पाँगटे म्ही बलिंग केंग कुँग
छँघाल पाटे मा यैल बाटा डैंडुनू
लू-लामे लू-लामे खुँगा बी पाँगो
लू-लामे टराँग लू-लाम का थाया

—'युद्ध आरम्भ हो गया।
शत्रु बलवान है।
वह उधर खड़ा है।
मज़बूत हो जाओ।
शेर का चमड़ा बिल्कुल तन गया है,
उसकी आँखें बिलकुल खुल गई हैं।
सर काट लिया गया है,
सर का काटना कितना शुभकार्य है।
गीत गाओ गीत गाओ।'

'बरहमपुर गंजाम' ज़िले की जी-उदयगिरि एजेंसी में 'कोंढ़' नामक एक पहाड़ी जाति बसी हुई है। इस प्रदेश में शेर बहुत पाया जाता है। जब किसी ग्राम में अनायास ही शेर आ जाता है, तो उस ग्राम के नर नारी एकत्रित होकर खूब ढोल बजाते हैं। ढोल की आवाज़ सुनकर आस-पास से और भी कितने ही लोग आ जाते हैं। सब लोग मिलकर शेर का पीछा करते हैं। बच्चे-बूढ़े-युवक सब हैरान होकर पूछते हैं—'क्या बात है? शेर कहाँ है?' जिस स्थान पर शेर छिपा होता है, वहाँ घेरा डाल लिया जाता है। सब लोग मिलकर शेर की ओर पत्थर फेंकना आरम्भ करते हैं। फिर भी यदि शेर बाहर न निकले, तो भैंस या कोई अन्य पशु को उन झाड़ियों में धकेलते हैं, जहाँ शेर छिपा होता है। लालच में आकर शेर बाहर निकलता है। कभी-कभी शेर दो-एक आदमियों पर झपट कर उन्हे अपना ग्रास भी बना लेता है। इससे मृत व्यक्तियों के सम्बन्धियों तथा मित्रों का जोश कई गुना बढ़ जाता है। सब लोग मिलकर शेर पर धावा बोल देते और उसे मार गिराते हैं। ग्राम के प्रधान की आज्ञा से शेर की लाश ग्राम के पास के मैदान में लाई जाती है। इस अवसर पर कोंढ लोग भूमि-देवी की पूजा करते हैं। उनका विश्वास है कि जब भूमि नाराज़ हो जाती है, तो किसी-न-किसी का खून अवश्य लेती है। पुजारियों को अंडे, हलदी और चावल दिये जाते हैं। पुजारी हलदी से रंगे हुए धागे सबके बाजुओं में बाँध देते हैं, और सबके कपड़ों पर हलदी के रंग के छींटे देते हैं। यदि मृत-व्यक्तियों के छोटे-छोटे बच्चे हों, तो सब लोग मिलकर उनकी रक्षा का भार अपने सिर पर लेते

हैं। मृत-व्यक्तियों के रिश्तेदार एक सप्ताह तक घर नहीं जा सकते। ग्राम के सब स्त्री-पुरुष अपने-अपने घरों की पुरानी हाँड़ियाँ तोड़ डालते हैं। यदि कोई अपनी हाँड़ी न तोड़े, तो दूसरे लोग उसके साथ खान-पान बन्द कर देते हैं। जिस जगह शेर का शिकार होता है, वहाँ किसी-न किसी पशु की बलि दी जाती है।

शिकार को जाते समय कोंढ़ लोग यह गीत गाया करते हैं—

एरा वाईना वाईना वाईना
कताजामू कताजामू कताजामू
कडाड़ी वाईना ड़े कताजामू
एरा वाईना वाईना कताजामू
कोला कोला वाईना कताजामू
गांडा गांडा वाईना कताजामू

—'वह आता है, वह आता है, वह आता है
काट डालो, काट डालो, काट डालो।
शेर आता है, उसे काट डालो
वह आता है, वह आता है, काट डालो
वह नीचे-नीचे आता है, उसे काट डालो
वह ऊपर-ऊपर आता है, उसे काट डालो।'

शेर का शिकार खेलना कोई आसान काम नहीं है। शेर के शिकारी के प्रति कोंढ़ रमणी के उद्‌गार सुनिये —

ओ-ो-ो-ो कड़ाड़ी प्लाम्बा गटासी
एम्बेटी बाजाभानेंजू-ऊ-ऊ-ऊ-ऊ
ईनूं गापसी डाटा गटाती
कड़ाड़िगा आजा नाती ओ-ो-ो-ो
माँई ईड़ ताँगी वामू नींगे कालू ऊड़पाराई
नाँई जेड़ा तानी राजेंजू गियाई

—'ऐ शेरों के शिकारी, तू कहाँ से आया है ?
तू कितना बलवान है,
शेरों से भी नहीं डरता!
ऐ शेरों के शिकारी, मेरे घर में आ,
मैं तुझे शराब पिलाऊँगी,
तुझे अपने दिल का राजा बनाऊँगी।

बर्मा के सम्बन्ध में एक लेखक का कथन है—

—'ब्रह्मा देश यदि चुन्नी और क़ीमती पत्थरों से मालामाल है, तो, मेरी सम्मति में, वहाँ सुन्दर गीतों की भी कमी नहीं है। ये गीत प्रेम और सौन्दर्य के सरल स्वप्नों से भरपूर हैं। इस देश के जंगलों में हाथी, गैंडे, शेर, चीते और जंगली सुअर आदि हिंसक जन्तु बहुत होते हैं। शिकारी लोग शिकार को जाते समय जो गीत गाते हैं, वे वीरतापूर्ण उद्‌गारों से ओतप्रोत होते हैं।'

कोई बरमी वीरांगना गा रही है—

> **चनऊ टोई टौह्नाई वा अपी सीदी**
> **साँडगू पें मशीबू**
> **चनऊ टो-ई युआ दी**
> **खोएआ-मिया अपी सीदी चा मशीबू**
> **चनऊ ई लेंन दी चा गेदू, यै यैं दी**
> **तू दी चनऊ टों बयें ई, सित्ता फिरा दी**

—'सारा का सारा जंगल बांस के वृक्षों से भरा पड़ा है
चन्दन का वृक्ष एक भी नहीं है
हमारा सारा का सारा ग्राम गीदड़ों से भरा है
शेर एक भी नहीं है।
मेरा पति शेर के समान वीर है
वह राजा का सिपाही है।'

ब्रह्म देश का एक और प्रसिद्ध गीत है—

> **बेंटी दो अखा—ा—ा—ा—ा**
> **आलऊँदा सेता—ा—ा—ा—ा**
> **सेमिएँ पिएँ दोतुवा**
> **चनऊ ई लें-एँ-एँ-एँ**
> **सेमिएँ पिएँ तुआबो पिएँ**

—'ढोल बज रहा है
सब सिपाही युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान कर रहे हैं
हे पतिदेव! लड़ने के लिए कमर कस लो
थोड़ी देर में ही महाराज चढ़ाई करने वाले हैं।'

राजस्थान वीरों की भूमि है। राजपूत-माताओं की कोख से ऐसे कितने ही वीर पुत्रों का जन्म हुआ है, जिन्होंने हँसते-हँसते अपने जीवन मातृ-भूमि की भेंट कर दिये थे। उनकी पुण्य स्मृति आज भी कितनी मीठी प्रतीत होती है!

टाड के कथनानुसार—

'अर्वली का कोई भी दर्रा ऐसा नहीं है, जो राणा प्रताप के किसी-न-किसी वीर-कार्य से, किसी न-किसी विख्यात विजय से, या बहुधा विजय से भी कहीं अधिक शानदार पराजय से, पवित्र न हुआ हो।'

'वृहत्तर भारत-संघ' के सम्मुख व्याख्यान देते हुए एक बार विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था—

'बचपन में मैंने भारत का इतिहास पढ़ना आरम्भ किया था। मुझे प्रतिदिन राजनैतिक युद्धों में सिकन्दर से लेकर क्लाईव तक लगातार भारत की पराजय तथा अपमान की कथाओं के नाम तथा तिथियां याद करनी पड़ती थीं। राष्ट्रीय लज्जा के इस ऐतिहासिक रेगिस्तान में यदि कोई ओसिस, कोई हरियाली थी, तो वह थे राजपूत वीरों के कार्य।'

राजस्थान की वीर-रस-पूर्ण वाणी, वीर-रस-पूर्ण दोहों में आज भी सुरक्षित है—

सिंघाँ देस-विदेस सम सिंघाँ किसा वतन्न
सिंघ जका बन संचरै ते सिंघाँरा बन्न

—'शेरों के लिए देश-विदेश बराबर है, उनका घर कैसा?
शेर जिस किसी जंगल में चला जाय, वहीं उसका घर बन जाता है।'

सखि हमीणां कंथरी पाई यह परतीत
हारियो घराँ न आवसी आसी ओ रणजीत

—'हे सखी! मुझे पतिदेव पर पूर्ण विश्वास है।
हारकर वे कभी घर न आयेंगे आयेंगे तो रण जीतकर।'

धर धरती पग पागड़े अरियां तणो गरड्ड
हजू न छोड़े साहिबा मूछां तणो मरड्ड

—'धड़ पृथिवी पर है, पैर रकाब में, शत्रुओं ने घेरा डाल रखा है।'
ऐसी दशा में भी मेरे पतिदेव मूंछों पर ताव देना नहीं छोड़ते।'

कृपण जतन धन रो करै कायर जीव तपन्न
सूर जतन उणरो करै जिणरो खादो अन्न

—'कंजूस धन जोड़ने का उपाय करता है, कायर जान बचाने का,
पर वीर-पुरुष उसकी रक्षा करने का उपाय करता है, जिसका अन्न खाता है।'

कंता रिण में जाय नै कीजै किणरो साथ
साथी थारे तीनि हैं हियौ कटारी हाथ

—'हे पतिदेव! रणभूमि में तुम किसका साथ करोगे?
वहाँ तुम्हारे तीन ही साथी होंगे—हृदय, तलवार और हाथ।'

गीध कलेजो चील उर काका आंत बिलाइ
तौ भी सोधक कंतरी मूछा-भौंह मिलाइ

—'गीध कलेजा ले गये, चीलें दिल निकाल कर ले गईं, और काग अंतड़ियाँ ले गये
फिर भी हे सखी ! तनी हुई मूंछों और चढ़ी हुई भौंहों को देखकर मैंने अपने पति को पहचान लिया।'

सूर न पूछे टीपणो सगुन न देखे सूर
मरणा नूँ मंगल गिणें समर चढ़े मुख नूर

— 'सूरमा न सायत पूछता है, न सगुन देखता है
वह तो मौत को ही मंगल गिनता है, रण-भूमि में जाकर उसका मुख चमकने लग जाता है।'

घोड़ो जोड़ो पागड़ी मूँछा नोज मरोड़
ये चारों न चूकें रजपूतां राठोड़

—'घोड़ा, जूता, पगड़ी और मूँछों पर ताव देना,
राठौर-वंश के राजपूत चार बातों में कभी नहीं चूकते।'

काछ दृढ़ा कर बरसना तन चोखा मुख मिट्ठ
रिण सूरा जग वल्लभा सो मैं बिरला डिट्ठ

—'काछ का दृढ़, हाथ का दाता, शरीर का निरोग, मुख का मीठा,
रण का शूरवीर जगत्प्रिय पुरुष मैंने बिरला ही देखा है।'

माई एहा पूत जण जैहा राण प्रताप
अकबर सूतो ओझकै जाण सिराणै सांप

—'हे माता ! ऐसे पुत्र को जन्म देना, जैसा राणा प्रताप था,
जिसे सिरहाने का साँप समझ कर अकबर सोते-सोते चौंक उठता था।'

घोड़ा हींसे बारणे वीर अखाड़े पूल
कंकन बांधो रण चढ़ो वै बाज्या रण-ढोल

—'द्वार पर घोड़ा हिनहिना रहा है, ड्योढ़ी में वीरगण खड़े हैं
हे वीर ! रण कंकण बाँध लो और युद्ध में जाओ। सुनो, युद्ध का ढोल बज रहा है।'

सीप उडीके स्वात-जल चकई उडीके सूर
नराँ उडीके रण निडर सूर उडीके हूर

—'सीप स्वाति-जल की प्रतीक्षा करती है, चकई सूर्य की प्रतीक्षा करती है,
वीर युद्ध की प्रतीक्षा करता है, और सुन्दरी वीर की बाट जोहती है।'

तण तलवारां तिलछियो तिल-तिल ऊपर सीव
आला घावां ऊठसी छिन यक ठहर नकीब

—'मेरे वीर पति का शरीर तलवार के जख्मों से भरपूर है, और एक-एक तिल पर टाँके लगे हैं,
हे चारण ! तुम थोड़ी देर के लिए अपनी कविता बन्द कर दो, नहीं तो वे ताजे जख्मों के साथ ही रण-भूमि की ओर चल पड़ेंगे।'

नाह आणे नींद में एँड़ी ठोड़ अँगूठ
सो सजनी किम देवसी पर दल भिड़िय पूठ

—'हे सखी! मेरे पति देव नींद में भी एड़ी पर अंगूठा नहीं रखते,
तब भला, वे उलटे पैर युद्ध से पीठ कैसे दिखायेंगे ?'

ब्रज देसाँ चन्दन बनां मेरु पहाड़ां मोर
रगड़ खगां लंका गढ़ां राजकुला राठोर

—'देशों में ब्रज-भूमि, वनों में चन्दन-बन, पहाड़ों में मेरु-पर्वत
किलों में लंका का गढ़ और शाही घरानों में राठौर-वंश सब से उत्तम है।'

राजपूतों की मौजूदा करुण दशा पर आँसू गिराते हुए नोपला कवि कहता है—

वै घोड़ा वै गाम रिजक वही ठाकुर वही
रजपूताँरो राम निसर गयो अब नोपला

—'वही घोड़े हैं, वही ग्राम हैं, वही अन्न है, वही ठाकुर,
नोपला कहता है, पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे राजपूतों में से अब राम ही निकल गया हो।'

पंजाब में 'वीर' शब्द का बहुत प्रचार है; पर अब लोग इस शब्द का अर्थ बिलकुल भूल-से गये हैं। बहनें अपने भाइयों को 'वीर' कहकर बुलाती हैं। माताएँ भी अपने पुत्रों को सम्बोधन करते हुए 'वीरा' शब्द का प्रयोग करती हैं। अब 'वीर' शब्द प्रायः 'प्रिय' या 'भाई' का पर्यायवाची हो गया है। वीर शब्द का इतिहास बतलाता है कि किसी समय पंजाब में प्रत्येक माँ का लाल और प्रत्येक बहन का भाई वीर होता था।

कोई पंजाबिन बहिन गा रही है—

जित्थे बज्जदी बद्दला वांगूं गज्ज दी
काली डांग मेरे वीर दी

—'मेरे भाई की लाठी काले रंग की है,
वह जहाँ भी चोट करती है, बादल की तरह गरजती है।'

घोड़िये तीजने नीं भला मेरे वीरे दी घोड़ी
पट्ट रेशम तेरा लगाम वीरा चढ़ आया ई
मोढ़े तीर ते हत्थ कमान वीरा चढ़ आया ई
घोड़िये तीजने नीं भला वीरा राजे दी घोड़ी
काठी हीरियां जड़त जड़ी वीरा चढ़ आया ई
हत्थ ढालू ते तलवार वीरा चढ़ आया ई

—'हे तीजन घोड़ी ! हे मेरे वीर की घोड़ी !
तेरी लगाम रेशम की है, और मेरा वीर तुझ पर सवार होकर आया है।
हाथ में कमान है, कंधे पर तीर हैं,
वीर घोड़ी पर आया है।
हे तीजन घोड़ी ! हे मेरे वीर राजा की घोड़ी !
तेरी काठी में हीरे जड़े हैं, मेरा वीर तुझ पर चढ़ आया है।
हाथों में ढाल और तलवार है, वीर तीजन घोड़ी पर सवार होकर आया है।'

गेंद से खेलते समय पंजाब की कन्याएँ 'थाल' नामक गीत गाती हैं—

तिन्न तीर खेडन वीर
हत्थ कमान मोढे तीर
ढालवाला मेरा वीर
तलवार वाला मेरा वीर
घोड़ेवाला मेरा वीर
हाथीवाला मेरा पीर

—'तीन तीर-वीर खेल रहे हैं
हाथों में कमान हैं, कँधों पर तीर,
ढालवाला मेरा वीर है,
तलवारवाला मेरा वीर है,
घोड़ेवाला मेरा वीर है,
हाथीवाला मेरा वीर है।'

युक्तप्रान्त की कन्याएँ सावन के दिनों में झूला झूलते समय सुहावने गीत गाती हैं। इन दिनों 'बिरना' नामक गीत बहुत गाया जाता है। सुनिये, कोई स्त्री गा रही है—

बिरना हाली-हाली जेंवौ बिरन मोरा बलैया लेउँ बीरन

बिरना तुरक लड़इया क ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन
बिरना मुग़ल लड़इया क ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन
बिरना मुग़ल की ओरियाँ सब साठि जने बलैया लेउँ बीरन
मोरा भइया अकेलवई ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन
बिरना मुग़ल जुझैं सब साठि जने बलैया लेउँ बीरन
मोरा भइया समर जीति ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन
बिरना कोखिया बखानौं मयरिया के बलैया लेउँ बीरन
जेकर पुतवा समर जीति ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन
बिरना भगिया बखानौं बहिनियाँ के बलैया लेउँ बीरन
जेकर भइया समर जीति ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन
बिरना भगिया बखानौं मैं भौजो के बलैया लेउँ बीरन
जेकर समिया समर जीति ठाढ़ बलैया लेउँ बीरन

—'हे भाई ! जल्दी-जल्दी भोजन पा लो । मैं तुम्हारी बलैया ले लूँ ।
हे भाई ! मुग़ल लड़ने को खड़ा है, मैं तुम्हारी बलैया ले लूँ ।
मुग़ल के पास साठ आदमी हैं, मैं तुम्हारी बलैया ले लूँ ।
मेरा भाई अकेला खड़ा है, मैं तुम्हारी बलैया ले लूँ ।
भाई, मुग़ल के साठों आदमी हार गये, मैं तुम्हारी बलैया ले लूँ ।
मेरा भाई जीतकर खड़ा है, मैं तुम्हारी बलैया ले लूँ ।
भाई, मैं उस माँ की कोख की सराहना करती हूं, मैं बलैया ले लूँ ।
जिसका बेटा युद्ध जीतकर खड़ा है , मैं बलैया ले लूँ ।
भाई, मैं उस बहन के भाग्य की सराहना करती हूँ, मैं बलैया ले लूँ ।
जिसका भाई युद्ध जीतकर खड़ा है, मैं बलैयां ले लूँ ।
भाई, मैं अपनी भावज के भाग्य की सराहना करती हूँ, मैं बलैया ले लूँ ।
जिसका पति युद्ध जीतकर खड़ा है, मैं बलैया ले लूँ !'

इस प्रकार अनेक वीर रस-पूर्ण गीत भारत के विभिन्न प्रान्तों में गाये जाते हैं । ये गीत मुर्दादिलों में नई जान डाल लेते हैं । कविवर टेनिसन के कथनानुसार 'वह गीत, जो सारी जाति में हलचल पैदा कर देता है, स्वयं एक वीर-कार्य है ।'

वीर-रस से ओतप्रोत ये गीत भारतीय लोक-साहित्य के अमूल्य रत्न हैं । इन गीतों में जातीयता के सच्चे नियम भरे पड़े हैं ।

एण्ड्रूज़ फ्लैचर का कथन है—'यदि किसी मनुष्य को तमाम गीत बनाने

की अनुमति मिल जाय, तो उसे इस बात की ज़रा भी परवा न करनी चाहिए कि जाति के क़ानून कौन बनाता है।'

वीर-रस के ओजस्वी स्वर जनसाधारण के हृदय में नाचनेवाली उत्ताल तरंगों की सूचना देते हैं।

रोहतांग दर्रे के
उस पार
चन्द्र नदी
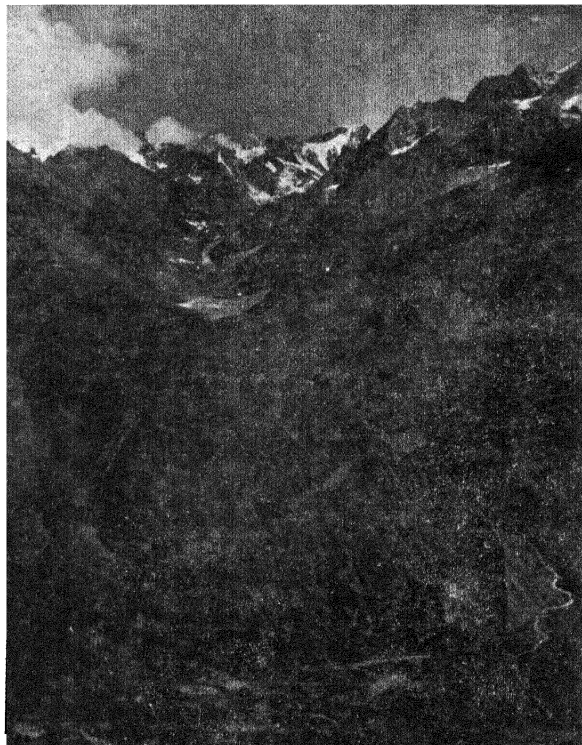
नीचे
बंगाल का एक
खेया घाट
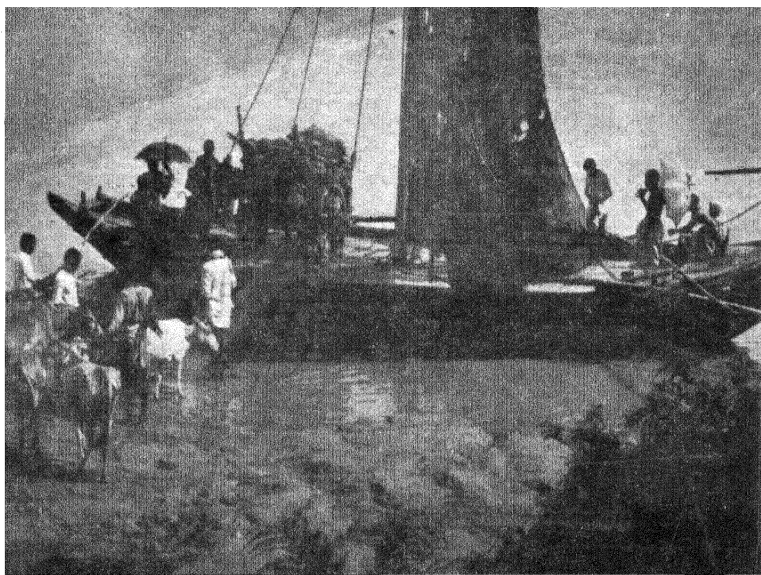
नैपाली गायक

आदान-प्रदान

नीचे:— गढ़वाली युवतियाँ

आन्ध्र देश की
कृषक नारियाँ

नीचे:
ग्रीष्मकाल

लंका में
पुष्प-चयन

नीचे:
खानाबदोश
पश्चिमी पंजाब)
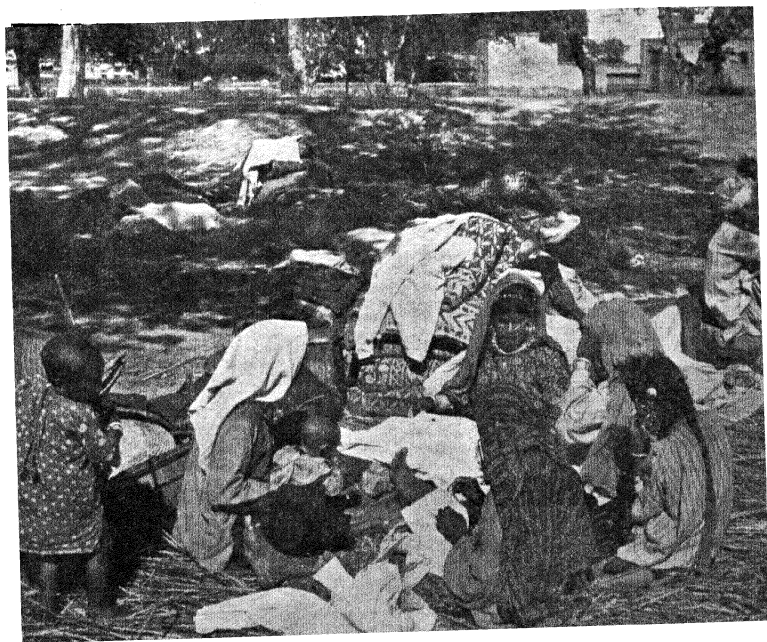
आन्ध्र के लोकगायक

नीचे:
माता और पुत्री

काश्मीरी
बालिका

नीचे:
काठियाबाड़
एक तीर्थस्थ
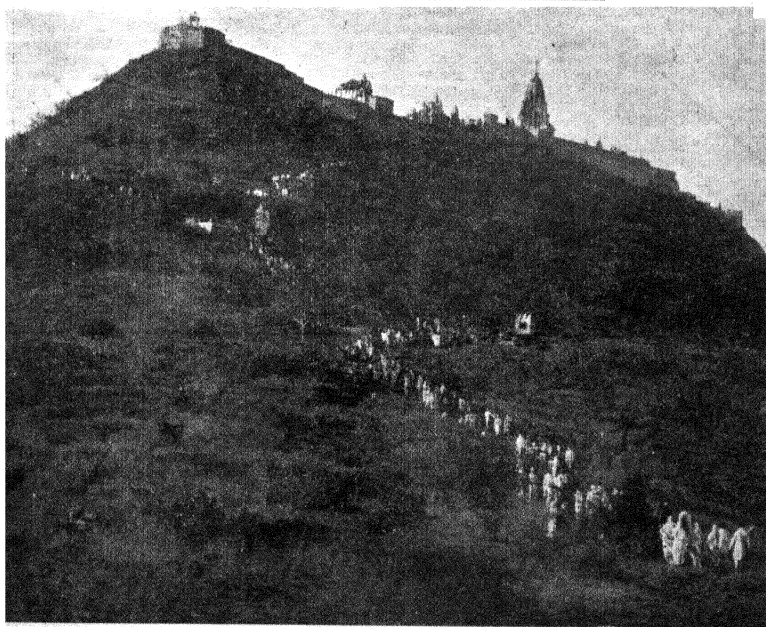
तर्क मातृत्व (तामिल-नाड)
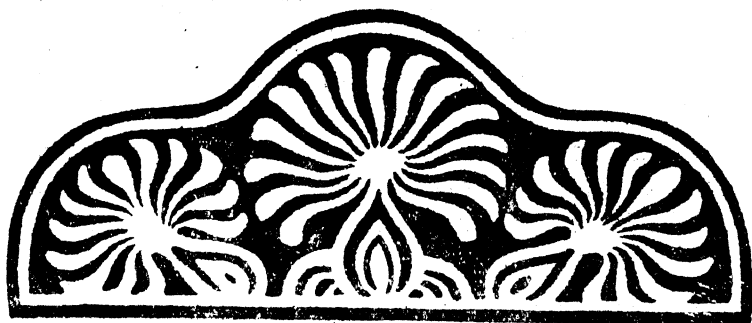
१४

लोरियाँ

मनुष्य बार-बार शिशु के रूप में मां की गोद में आता है, और वात्सल्य-रस से ओत-प्रोत मीठी-मीठी लोरियाँ सुनता है। माँ की गोद कभी ख़ाली नहीं रहती। पुष्पों के-से शिशु कभी प्रताप और शिवा बनने के लिए और कभी कबीर और तुलसी बनने के लिए माँ की गोद में आते हैं, और हृदय की सोई हुई 'कला' को जगाते हैं। माँ की गोद कला की सच्ची पाठशाला है, जहाँ केवल हृदय का ही आधिपत्य होता है।

जन्म से पूर्व ही माँ के स्तनों में दूध की और हृदय में वात्सल्य-रस की सृष्टि होती है। इस रस से ओतप्रोत होकर मां का हृदय गीत गाता है। ये गीत सर्वसाधारण की वाणी में लोरियों के नाम से विख्यात हैं। शिशु दूध पीता जाता है, और लोरियाँ भी सुनता जाता है।

संसार के ग्राम-साहित्य में लोरियाँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। सभ्य तथा असभ्य—सभी जातियों की माताएँ लोरियाँ गा-गाकर आनन्द प्राप्त करती हैं। वे यह नहीं देखतीं कि उनकी आवाज़ सुरीली है या नहीं, उन्हें तो अपने शिशुओं को रिझाने से ही मतलब रहता है। झूला हिलाती हुई, या शिशु की पीठ पर थपकियाँ देती हुई जब वे लोरियाँ गाती हैं, तो उनकी रूखी तथा खुरदरी वाणी में भी अलौकिक मिठास आ जाती है।

स्पष्ट तथा सरल भाषा में सूत्ररूप से गाई हुई लोरियाँ किसी भी देश तथा जाति के साहित्य की आभा एवं महिमा को चार चाँद लगा सकती हैं। देश

तथा काल के क्रम से इनकी भाषा बदलती रहती है; भाव वही रहते हैं। कौशल्या ने राम के लिए जो लोरियाँ गाई थीं, वे अब भी अयोध्या की माताओं को भूली नहीं हैं। हाँ, भाषा संस्कृत के स्थान पर हिन्दी हो गई है; पर भाव वही पुराने हैं।

लोरियों का स्रोत कब आरम्भ हुआ, यह बताना बहुत मुश्किल है। किस स्थान पर पहले-पहल इनकी सृष्टि हुई, इस प्रश्न पर विचार करते हुए बंगाल के सुप्रसिद्ध चित्रकार डाक्टर अवनीन्द्रनाथ ठाकुर अपने एक लेख में लिखते हैं-- "कोन कालेर आलोते प्रथम फुटलो एई सब छड़ानो रकम छवि, एई सब छोटो छोटो भावेर कलिकार मुखे प्रथम एर सुर उठलो, एवम् कोन घूमन्त छेलेर काने आर प्राणे गिये बाजलो, ता जानबार कोनो उपाय नेई।" अर्थात्—'किस समय के प्रकाश में पहले पहल ये सब बिखरी तसवीरों की सी लोरियाँ, यह सब छोटे छोटे भावों की कलियाँ खिल उठी थीं; किसके कंठ से पहले-पहल इनके स्वर निकले थे और किस निद्रित शिशु के कान और प्राण में गूँजे थे, यह जानने का कोई उपाय नहीं है।'

लोरियों का इतिहास कितना ही पुराना तथा अज्ञात क्यों न हो, इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे काव्य-रस की कसौटी पर पूरी उतरती हैं। उनकी महिमा महान् है, जो किसी भी देश के शिशु-साहित्य में नया जीवन प्रदान कर सकती है; उनकी प्रतिभा अपरिमित है, जो हृदय के झरने से दिन-रात झरती रहती है। यहाँ विभिन्न भाषाओं की कुछ लोरियाँ दी जाती हैं।

शिशु अभी बहुत छोटा है। माँ उसे चलना सिखा रही है। माँ के मानस-जगत् में आनन्द की झंकार उठती है। वह अपने-आपको भूल जाती है, और गाती है—एक गुजराती गीत के शब्दों में—

पा...पा...पगली
सोनानीं ढगली

—'पग-पग चलो।
पग-पग पर सोने की ढेरी है।'

माँ इन दो पंक्तियों को ही बार-बार रटती जाती है। 'पा...पा...'के आकार को बहुत लम्बा करके उच्चारण करती है। संसार के लिए माँ ग़रीब हो सकती है; परन्तु अपने शिशु के लिए संसार की सबसे बड़ी सम्पत्ति भी उसके लिये थोड़ी है। शिशु के पथ में क़दम-क़दम पर सोने की ढेरियों की कल्पना कितनी सुन्दर है। शिशु ने एक क़दम उठाया और माँ मुसकरा दी। यह मुसकान

हृदय की मुसकान होती है। संगीत के स्वर शिशु को चलना सिखाते हैं, और माँ की मुसकान उसके हृदय में उत्साह का संचार करती है!

ज्यों ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है, लोरी भी बड़ी होती जाती है। जितनी जल्दी शिशु चलता है, उतनी ही तेज़ी से गुजराती लोरी का ताल चलता है—

'ढगमग ढगमग' डगलाँ भरताँ
हरजी के मन्दिर आव्याँ
पगमाँ डाक यशोदा माये
गोकल माँहीं चलाव्याँ
थेई थेई चरण भरोनें कान
बेचूँ मुकताफल ने पान

—'चल-चलकर शिशु
हरजी के मन्दिर में आ गया।
उसके पैरों में घुँघुरू हैं, और यशोदा माँ ने
उसे गोकुल में चलना सिखाया है।
'हे कान्ह, थेई-थेई चरण उठाओ,
मैं सुपारी और पान बाँटूँगी।'

'ढगमग ढगमग' एक साथ झट से बोल दिया जाता है। अन्त की दो पंक्तियाँ 'थेई-थेई चरण भरोने कान, बेचूँ मुकताफल ने पान,' बार-बार और बहुत ही जल्दी-जल्दी उच्चारण की जाती हैं।

प्रतिवर्ष माताएँ अपने शिशु का जन्म-दिन मनाती हैं। हो सकता है, घर में पुलाव के लिए घी आदि न हो; परन्तु लोरियों के जगत् में कल्पना सब कमियाँ पूर्ण कर देती है। कश्मीरी माँ गा रही है—

वारे वारे चन्द्रे वारे
वारे अज़छुई मुबारिक
बाजो बाजो बुरुँघु ताजो
रगुबुत ताज़ो रोग़न जोश

—'आज सोमवार का दिन है।
आज का दिन मुबारिक हो
हे रसोई बनाने वालो! नई भट्टी बनाओ,
और घी चढ़ाकर ताज़ा पुलाव तैयार करो।'

यह लोरी कश्मीर की मुसलमान स्त्रियों में अधिक प्रचलित है।

लोरियों में बहन-भाई के पवित्र प्रेम की झलक भी पाई जाती है। माँ की

देखा-देखी बहनें अपने नन्हें भाइयों को खिलाती हुई लोरियाँ गाती हैं। कोई पंजाबिन बहन गा रही है—

बे वीरा ! इक्कड़ी-इक्कड़ी
तेनूँ रिन्ह खुयामाँ खिचड़ी

—'हे वीर¹ मैं खिचड़ी पकाऊँगी, और तुझे खिलाऊँगी।'

'इक्कड़ी' भावशून्य शब्द है और केवल तुक मिलाने के लिए ही प्रयोग हुआ है।

सूर्य के प्रकाश में चाहे शिशु आँखें भी न खोले; परन्तु चन्द्रमा के शीतल प्रकाश से उसे विशेष आनन्द मिलता है। चन्द्रमा को लोरियों में मामा कहकर सम्बोधन किया गया है। आन्ध्र देश में लोरी का पर्यायवाची शब्द 'जौल-पाटा' है। शिशु चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है, तेलगू माँ गाती है—

चन्द मामा रावे
जाबिल्ली रावे
कण्डे-कि रावे
कोटि पूलू तेवे
बंडि मीदा रावे
बन्ति पूलू तेवे

—'हे चाँद मामा ! आ।
गाड़ी पर चढ़कर आ।
फूल लेकर आ।
पीले-पीले फूल देकर चला जा।'

उड़िया भाषा में लोरियों को 'बिल्ला-खेला-गीतो' कहते हैं। उड़िया की एक लोरी में चन्द्रमा के साथ उपहास किया गया है—

जन्हाँ मामू रे ! जन्हाँ मामू
मो कथा ही सुनो
बिल-र माछ चील खाईगला
खईंची खँडिए बुणो

—'चाँद मामा, ओ चाँद मामा !
मेरी बात सुनो।
खेत की मछली को चील खा गई।
तुम जाल तैयार करो।'

धान के खेतों में जो जल रहता है, उसमें छोटी-छोटी मछलियाँ भी रहती हैं। टोकरी की शकल के जाल को, जो बाँस की छोटी-छोटी खपाचों से तैयार किया जाता है, उड़ीसा प्रान्त में 'खई ची' कहते हैं। इसे पानी में रख देते हैं। मछलियाँ आपसे-आप इसमें आ फँसती हैं।

बरहमपुर-गंजाम ज़िले के गनसूर-उदयगिरी ताल्लुके में कांद नाम की एक पहाड़ी जाति बसी हुई है। इनकी भाषा कांढ या कुई के नाम से विख्यात है। यहाँ की एक लोरी सुनिये—

ए आपो ! ए आपो ! ड़ीया ड़े ड़ीया
डाँजू माया-ई मेंहमी नू
डाँजू मामा वामु वामु
मांई आपो मेहता नेंजु

—'ओ बेटा ! ओ बेटा ! रो मत।
चाँद मामा की ओर निहार।
आ, ओ चाँद मामा ! आ।
मेरा पुत्र तुम्हें देखेगा।'

आसामी भाषा में लोरी का पर्यायवाची शब्द 'आई नाम' है। आसामी ग्राम-साहित्य लोरियों से भरा पड़ा है। एक आसामी लोरी देखिये। शिशु बाहर जाना चाहता है। माँ उसे रोकती है—

बापा ए ! न लावी राती
बाट-ते जलछे खोटा बाती
छाती जलक बन्ती जलक
पोहर न होए भाल
बियार खमय महला दीले
पोहर हवे भाल

—'हे शिशु ! रात के समय बाहर न जा।
पथ में सोलह दीपक जल रहे हैं
उनका प्रकाश अच्छा नहीं है।
तेरे विवाह के समय मैं दीपक जलाऊंगी।
उनका प्रकाश अच्छा होगा।'

गुजरात में ग्राम-गीतों को लोक-गीत और लोरियों को 'होलरड़ाँ' कहते हैं। देखिये, कोई गुजराती माँ शिशु की व्याख्या कर रही है—

तमें माराँ देवना दिधेल छो
तमें माराँ मागीलीधेल छो
आव्याँ त्यारे अम्मर रई ने थौ
मादेव जायो उतावली ने गई चढ़ावूँ फूल
मादेवजी परसन थये आव्याँ तमें अणमूल
तमें माराँ नगद नाणु छो
तमें माराँ फूल बसाणु छो
आव्याँ त्यारे अम्मर रई ने थौ

—'तू मेरे देवताओं का दिया हुआ धन है।
तू मेरा उधार लिया हुआ धन है।
जब तूने जन्म ले लिया है, अमर होकर जीवन धारण कर।
मैं दौड़ती हुई महादेव को फूल चढ़ाने गई।
महादेवजी प्रसन्न हो गये, और तुझ-सी अनमोल वस्तु मुझे मिल गई।
तू मेरा नगद धन है।
तू मेरा सुगन्धित फूल है। जब तूने जन्म ले लिया है, तो अमर होकर जीवन धारण कर।'

'शिशु' नामक ग्रन्थ में यही भाव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने माँ के मुख से शिशु के प्रति कहलवाया है—

सकले देवतार आदुरे धन
नित्य कालेर तुई पुरातन
सबार छिली आमार होली कैमोने

—'तू सब देवताओं का प्यारा धन है।
नित्य काल की सबसे पुरानी वस्तु तू ही है।
तू जो सबका था, केवल मेरा ही कैसे बन गया?'

बच्चे को झूले में खेलते देखकर आन्ध्र देश की नारी गा उठती है—

तोलुता ब्रह्माण्डम्बु तोटिला गर्विंचि
नालगु वेदमुलु गोलुतुलु अमरिंचि

—'आरम्भ में यह ब्रह्माण्ड झूले के सदृश था।
चार वेद इस झूले की चार ज़ंजीरें थीं।'

पंजाब की कोई बहन नन्हें से भाई को गोद में लिये हुए है। हृदय की आँखों से वह उसके भविष्य का दर्शन करती है, जबकि उसका भाई युवक बन

चुका है, और उसका विवाह हो गया है। उसकी भावज घर आ गई है। भावज मीठा बोलने वाली है। उसका रूप-रंग अति सुन्दर है। इस कल्पना को वह लोरी के रूप में गाती है—

खंड खीर मिट्ठी ए मिट्ठी ए
वीर बहुटी डिट्ठी ए डिट्ठी ए
चौलाँ नालों चिट्टी ए चिट्टी ए
जलेबी नालों मिट्ठी ए मिट्ठी ए

—'खाँड मिली हुई खीर मीठी है, मीठी है,
मैंने अपने भाई की पत्नी को देख लिया, देख लिया
वह चावलों से अधिक सफेद है,
और जलेबी से अधिक मीठी है, मीठी है।'

उत्कल प्रान्त में माँ की दृष्टि में शिशु राजहंस बन गया है—

सर्गर राजहँस पिलाटी मोहर
मुकता गुड़िक आहार ताहार

—'मेरा शिशु स्वर्ग का राजहंस है।
उसका आहार मोती है।'

छोटा-सा बच्चा हाथ से निकल-निकल जाता है। बड़ा बच्चा माँ से दूर परदेश में रहता है, मणिपुरी माँ गाती है—

चेकला पाई खरावना
पोमूवी हंजल लकपना

—'जंगल का पक्षी उड़ गया।
पिंजरे का पक्षी फड़फ़ड़ा रहा है।'

पठान लोग बच्चों से बहुत प्रेम करते हैं। बच्चों के प्रति एक पठान कितना प्रेम कर सकता है, इसका कुछ आभास हमें विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'काबुलीवाला' नाम की कहानी में मिलता है। कवि इस चित्रण में इतने सफल हुए हैं कि कई एक समालोचकों की दृष्टि में 'काबुलीवाला' उनकी सर्वोत्तम रचना है। पठान स्त्रियाँ भी संसार की अन्य जातियों की स्त्रियों की भाँति लोरियाँ गाती हैं। कोई स्त्री गा रही है—

मालियारा पूलारके गुलेना उग़लवा
जमाँ तिफल पे मुसाफरेजी
ग़ना केनवी मालियारा गुलेना उग़लवा
जमाँ तिफल पे मुसाफरेजी

—'हे माली ! रास्ते में फूल बिछा दो ।
मेरा बच्चा आज से मुसाफिर बन रहा है ।
फूल ही फूल बिछाना, काँटा एक भी न रहने देना
मेरा बच्चा आज से मुसाफिर हो रहा है ।'

बच्चे के आराम में ही माँ का आराम है। मातृ-हृदय की वाणी कितनी मनोहर है, कितनी सुगन्धित, कितनी मधुर तथा सुन्दर है ! पंजाबिन माँ अपनी बहन से कह रही है—

हरिया नी मालन हरिया नी भैने
हरिया ते भागीं भरिया
जिस दिहाड़े नी मेरा लाल जन्मयां
सोईयो दिहाड़ा भागीं भरिया

—'हे बहन, हे मालन, वह दिन कितना हरा-भरा था
वह दिन कितना सौभाग्यशाली था ।
जब मेरे लाल ने जन्म लिया ।'

शिशु को नदी में नहाते देखकर खासी माँ कहती है—

को मिनसिम वरडर कि लौंग्
कुमका का-दुखा
अंगा इयेट् या फी

—'प्यारी बच्ची,
मछली की-सी है ।
मैं तुझसे प्रेम करती हूँ ।'

ग़रीब-से-ग़रीब माँ भी अपने शिशु को राजपुत्र कहकर आनन्द मनाती है । आन्ध्र देश की कोई माँ गा रही हूँ—

अरि मुँदारा डैरालेवरीवी
उत्तमा विरुदुला राजेवारम्मा
उरि मुँदारा डैराले मांवी
उत्तमा विरुदुला राजुमा अब्बाई

—'बस्ती के सामने ये तम्बू किसके हैं ?
उत्तम गुणों वाला यह राजपुत्र कौन है ?
बस्ती के सामने हमारे खेमे हैं ।
उत्तम गुणों वाला राजपुत्र हमारा शिशु है ।'

बहन अपना भाई खिला रही है—

गली गली खडामाँ वीर
वीर खावे खंड खीर

—'गली गली घूमकर मैं अपने भाई को खिला रही हूँ ।
मेरा भाई खांड और खीर खाता है ।'

कोई बंगाली माँ अपने शिशु की शिकायत कर रही है—

खोका बोलते पारे, काँदते पारे
घुमोते पारे ना
खेते पारे, नीते पारे
दीते पारे ना

—'शिशु बोल सकता है, रो सकता है,
सो नहीं सकता ।
खा सकता है, ले सकता है,
दे नहीं सकता !'

आन्ध्र देश की एक और लोरी में शिशु माँ की आँख का प्रकाश बन गया है—

इन्तन्ता दीपम्मु इल्लल्ला वेलगु
ईस्वरड़ो चन्दमामा जगमल्ला वेलगु
माड़न्ता दीपम्मु जगमल्ला वेलगु
इन्तन्ता मा अब्बाई मा कड़ला वेलगु

—'छोटा-सा दीपक सारे घर को प्रकाशित कर देता है ।
चाँद मामा सारे जगत् को प्रकाशित कर देता है ।
छोटा-सा दीपक सारे राजमहल को प्रकाशित कर देता है ।
छोटा-सा मेरा बच्चा मेरी आँखों को प्रकाशित कर देता है ।'

चन्द्रमा ने सारे जगत् को प्रकाश प्रदान किया, परन्तु माँ की आँखों को प्रकाशित न कर सका । यह कार्य शिशु ही कर सकता है । योग-शास्त्र में हृदय के लिए आकाश शब्द आता है । हृदयाकाश वास्तव में इस बाह्य आकाश से लाख गुना बड़ा है । चाँद भला उसे कहाँ प्रकाशित कर सकता है । यह तो केवल शिशु की मुस्कान से ही जगमगाता है ।

रात का समय है । शिशु रो रहा है । उसे नींद नहीं आती । सारा संसार निद्राग्रस्त हो जाता है; परन्तु शिशु का बाबा आदम सबसे निराला है, भूखा हो ता माँ उसे दूध पिलाकर चुप करा सकती है । यह क्या ? बिना किसी कारण के ही शिशु रो रहा है । ऐसी अवस्था में अनेक जातियों की माताएँ एक ही प्रकार

के भावों से सिंची हुई लोरियाँ गाती हैं। पहले एक गुजराती लोरी सुनिये—

नींदरड़ी तू आवे जो आवे जो
माराँ बच्चु सारु लावे जो लावे जो
तूँ बदाम-मिसरी लावे जो
तूँ खारेक टोपरु लावे जो

—'आ, हे नींद, आ,
ला हमारे बच्चे के लिए ला,
तू मिश्री और छुहारे ले आ।'

एक बंगाली लोरी में माँ कहती है—

घुमो घुमो घुमो
घुमोच्छे गाछेर पाता

—'सो जा, सो जा, सो जा।
वृक्षों के पत्ते सो रहे हैं।'

गंजाम ज़िले की परलाकिमिडी एजेन्सी में 'सावरा' नाम की एक पहाड़ी जाति बसी हुई है। इनकी भाषा का नाम भी सावरा ही है। सावरा स्त्री गा रही है—

रंगे-डा डीमरलेजी आमंजा जीमन्नाँ
आडगोई डीमरलेजी आमंजा डीमन्नाँ
बुंगबुंगबुट डीमरलेजी आमंजा डीमन्नाँ
समई पप्पर डीमरलेजी आमंजा डीमन्नाँ

—'हवा और पानी सो गये, तू भी सो जा
शहद की मक्खियाँ तथा भ्रमर सो गये, तू भी सो जा।
मच्छर सो गये, तू भी सो जा।
पतंग सो गये, तू भी सो जा।'

एक बंगाली लोरी में बंगाल की नारी कहती है—

हाटेर घूम, बाटेर घूम
घूम गड़ागड़ी जाय

—'बाज़ार सोता है, मैदान (चारागाह) सोता है
ज़ोर की नींद छा रही है।'

एक सन्थाली माँ गाती है—

नींदा बाबू आलमरागा
नड़े गीतिमे आलमरागा

—'सो जा प्यारे बच्चे ! भूमि पर लेटकर ही सो जा।'

'ग्रीक फोक पोयज़ी' नामक पुस्तक में किसी अंगरेज़ विद्वान् ने यूनानी लोरियों के अंगरेज़ी रूपान्तर संग्रह किये हैं। यहाँ तुलनात्मक स्वाध्याय के लिए यूनानी लोरियों की कुछ कड़ियाँ दी जाती हैं—

—'हवा मैदानों के ऊपर सो रही है,
सूर्य ऊँचे आकाश पर सो रहा है।
नींबू के फूल भी सो गये।
रस तने के ऊपर सो रहा है।'

—'चुप हो जा, तेरी मां गा रही है।
तेरी माँ की भुजाएँ थक चुकी हैं, मगर तू अभी तक जागता ही है,
तेरी बड़ी-बड़ी आँखें अभी तक खुली हैं।
आ हे प्यारी नींद ! आ,
मेरे बच्चे को ले ले।'

एक कोंद माँ कहती है—

आपो ड़ ड़ीया-ड़ीया
आजे वातेकाने ड़ीया-ड़ीया
पाड़ुगरो ऊड़ताने ड़ीया-ड़ीया
आपो ड़े ड़ीया-ड़ीया

—'न रो बेटा, न रो।
तेरी माँ अभी आयेगी।
वह तुझे दूध पिलायेगी, रो मत।

एक डोगरा माता कहती है—

चुप्पि करि पौ मैं जो घोलड़ा
तैंजो बोलड़ा चुप्पि करि पौ
मैंजो वीर गलें दिया चुप्पि करि पौ

—'मैं तुझे कहती हूँ, चुप कर।
हे मेरे वीर कहलाने वाले चुप कर।'

एक गारो माँ कहती है—

दा गेपसे दा गेपसे ओई दा गेपसे
दऊथोप दऊथोप दऊ गलंडोई
हवा राँगा हुक्का राँगा फस बा फ़लुंडी दा गेपसे

—'न रो प्यारे, न रो !
तीखी दुम वाला पक्षी !...
बच्चे को पीठ पर लिये हुए
कुछ भी काम नहीं हो सकता ।'
एक मराठी लोरी के स्वर यों उभरते हैं—

रडु नको रडु नको
माझा बाला रडु नको
हसुन हसुन झोप
गाऊन गाऊन झोप
झोप झोप माझा बाला
झोप झोप मधुगोड बाला

—'रो मत, रो मत
मेरे प्रिय शिशु, रो मत
हंसता हंसता सो जा
गाता-गाता सो जा
सो जा मेरे बच्चे ! सो जा ।
हे मेरे शहद के-से बच्चे ! सो जा ।'
एक सावरा माता फिर गाती है—

आकुड़ा अम्बड़ी आ...न इतेन एणते
एडोंग एडोंग किन केना
यान् आलंगा ओ...न इयेंन्
एडोंग एडोंग किन केना

—'हे मेरे ईख के रस के-से बच्चे !
तू रोता क्यों है ?
रो मत, गीत गा ।
मेरा बच्चा बहुत सुन्दर !
रो मत, गीत गा !'
एक बंगाली माँ कहती है—

खोका आमार घूम ना जाय
मिटिर मिटिर चख्खू चाय

घूमेर मासी घूमेर पिसी
घूम दिले भालोबासी

—'मेरा बच्चा सोता नहीं।
अधमिची आँखों से देख रहा है।
नींद की 'मासी या बुआ'
उसे सुला दें, तो मैं उनसे बहुत प्रेम करूं।'

बर्मा की भाषा में लोरी का पर्यायवाची शब्द 'लुगूले तद्मिने' है। नमूने के रूप में यहाँ दो बर्मी लोरियाँ भी दी जाती हैं—

लुगूले ये-अंगो ख्वे फानलो-पे
ख्वे बिऊ वा नैके फाँग् खे ह्ला दे

—'हे शिशु! तू रोता क्यों है?
मैं तेरे लिए कबूतर पकड़ दूँगी।'
'काले, पीले और सफेद कबूतर को पकड़ना बहुत मुश्किल है।'

लुगूले ये छो-ज्या
मैटिला कान् डो आऊका
फा कौंऊँ खेवा
फा पा-येन डा दगौंग पे बा
मिये-लौं येए च्यौंग् टौंग टौंग् ने
फा गौंग् गा ते

—'हे शिशु! चुप कर।
मैटिला नाम की शाही झील से मैं तेरे लिए एक मेंढ़क मँगवा दूंगी।
तुम्हें कहीं से मेंढक मिले, तो ले आना।
मेंढ़क की आँखें तो छोटी-छोटी हैं, पर हैं बहुत चमकदार।'

'मैटिला झील' अपर-बर्मा में माण्डले के समीप है। कहते हैं, पुराने ज़माने में इस झील में मेंढ़क नहीं होते थे। यह लोरी बर्मा की बहुत ही पुरानी लोरी है।

लोरियों की परम्परा उतनी ही पुरातन है, जितनी पुरातन स्वयं माँ है। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर आज तक जितने कवि संसार में हुए हैं, उन सब ने सर्व-प्रथम लोरियों के स्वरों में ही प्रेरणा प्राप्त की थी।

विदेशों में विभिन्न भाषाओं की लोरियों के अनेकों संग्रह हैं। बंगाली लोरियों पर कुछ लेख विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'साधना' पत्रिका में

प्रकाशित किये थे। गुजराती लोरियों का एक संग्रह 'होलरड़ाँ' नाम से स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी ने किया है। एक ऐसा संकलन अवश्य प्रस्तुत किया जाना चाहिए, जिसमें भारत की विभिन्न भाषाओं की लोरियों का तुलनात्मक अध्ययन राष्ट्र के सम्मुख रखा जा सके।

*

१५

खबर की आजाद रूहें

"क्या कहा 'पुख्तून'?"— मैंने ज़रा हैरान होकर पूछा।

मेरे साथी ने कहना शुरू किया—"हाँ, हाँ, 'पुख्तून'। पठानों का क़ौमी लक़ब 'पुख्तून' ही है। हम इनकी भाषा को 'पश्तो' कहते हैं; पर इसका पठान उच्चारण पुख्तो है। 'पुख्तून' का अर्थ है 'पुख्तो'-भाषी लोग। इससे पठान जाति की मातृ-भाषा-भक्ति का परिचय मिलता है।"

मैंने कहा—"तब तो सम्पूर्ण पश्तो-भाषी इलाके को पठान-प्रदेश मान लेना होगा।"

"निस्सन्देह,"—मेरे साथी ने कहा—"भारत का उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, अफ़ग़ानिस्तान के पश्तो-भाषी हिस्से, जिनमें कन्धार का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है, और सीमा-प्रान्त तथा अफ़ग़ानिस्तान के बीच का 'आज़ाद इलाक़ा'—ये सभी विशाल पठान-प्रदेश के अंग हैं।"

पाँच-दस मिनट चुप रहकर मैंने पूछा—"सुनता हूँ, अपने सुनहले अतीत में पठान-प्रदेश आर्य-सभ्यता का मन्दिर रहा है। आपका इसके बारे में क्या ख़याल है?"

इस प्रश्न का उत्तर सोचने के लिए मेरा साथी राह चलते-चलते रुक गया। थोड़ी देर बाद वह बोला—"भाई, मेरा ऐतिहासिक ज्ञान अधिक नहीं है, इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ कहना अनधिकार चेष्टा होगी; पर इतना मैं अवश्य जानता हूँ कि दूसरी शताब्दी (विक्रमी) में यहाँ सम्राट् अशोक ने

अपना झंडा फहराया था। उन दिनों यहाँ के स्त्री-पुरुष निश्चय ही भगवान् बुद्ध के गीत गाते रहे होंगे। इससे अधिक आश्चर्यजनक बात और क्या होगी कि स्वयं पठान अपने इतिहास की इस विख्यात घटना से बिलकुल ही अनजान है। आज के पठान तो अपनी वंशावली का श्रीगणेश इसराईल से बताते हैं। अभी उस दिन मेरे एक पठान दोस्त ने, जो एक पठान मासिक के सम्पादक और यहाँ के गिने-चुने साहित्य-सेवियों में से हैं, कहा था—अजी, हम लोग तो बनी इसराईल (इसराईल के वंशज) हैं।"

इसके पश्चात् वर्तमान पठान व्यक्तित्व की चर्चा छिड़ी। मैंने कहा—"पठान-प्रदेश का तो बच्चा-बच्चा आज़ादी का पुजारी है, दिलेर है और जन्म-सिद्ध योद्धा है।"

मेरी हाँ-में-हाँ मिलाते हुए साथी ने कहा—"ख़ासकर आज़ाद इलाके के जीवन में तो पग-पग पर ही निर्भीक युद्ध शक्ति का परिचय मिलता है। युद्ध-प्रियता ने यहाँ के कोने-कोने में घर कर रखा है। यहाँ की रूह बला की लड़ाकू है; पर दुःख इस बात का है कि यह जंगी स्पिरिट प्रायः ख़ानाजंगी में ही ख़र्च होती है।"

मेरे साथी ने अपनी बात ख़तम ही की थी कि पास से लम्बे-चौड़े जिस्म और बहादुर रूहों वाले पठानों की एक टोली गुज़री। बच्चे, बूढ़े और युवक—इस टोली में सभी उम्र के आदमी मौजूद थे; कुछ लड़कियाँ और स्त्रियाँ भी थीं। दो-तीन आदमी ऐसे भी थे, जो अपने जीवन में साठ-सत्तर वसन्त देख चुके होंगे; पर उनके दिल आज भी कितने जवान प्रतीत होते थे!—वसन्ती फूलों की भाँति ही। सभी के चेहरों पर खिला हुआ सौन्दर्य था, जो उतना ही सादा था, जितना उनका दैनिक जीवन। फटे-पुराने वस्त्र भले ही इस सौन्दर्य का शृंगार करने से लाचार थे; पर इसका एक अपना ही आकर्षण था, कितना सजीव, कितना सजग!

दर्रा ख़ैबर के बीचों-बीच चलते-चलते हम काफ़ी दूर निकल आये थे। हमारे सम्मुख कोई नयनाभिराम दृश्यपट न था। ऊबड़-खाबड़ निचाट नंगे पहाड़ सर उठाये खड़े थे। पत्थर के इन काले देवों पर नज़र डालते ही कवि की ये पंक्तियाँ साकार हो उठीं:—

> **न इसमें घास उगती है न इसमें फूल खिलते हैं**
> **मगर इस सरज़मीं से आस्माँ भी झुकके मिलते हैं**
> **कड़कती बिजलियों की इस जगह छाती दहलती है**

घटा बचकर निकलती है हवा थर्रा के चलती है
ये नाहमवार चटियल सिलसिले काली चटानों के
अमानतदार हैं गोया पुरानी दास्तानों के

इन काली चट्टानों ने न जाने कितनी बार रक्त-स्नान किया है। यह खुश्क ज़मीन न जाने कितनी बार लहू से होली खेलकर मुर्ख़रू हुई है। वास्तव में इन वीरान पहाड़ियों में कुछ अजीब ख़ौफ़नाक, रोब ग़ालिब करने वाला असर है। किन्तु ये पहाड़ पठान-व्यक्तित्व के बाह्य रूप को प्रतिबिम्बित करने में कितने समर्थ हैं!

मेरा साथी कितनी ही बार ख़ैबर यात्रा कर चुका था। अपने जन्म-ग्राम से बहुत दूर इस पठान-प्रदेश में उसने कितने ही वर्ष बिता दिये हैं, तथा अभी और कितने वर्ष इधर ही बीतेंगे, इसका स्वयं उसे पता नहीं। पठान-जीवन का अध्ययन करके उसका हृदय सहानुभूति से भर उठा है। ऐसे व्यक्तियों पर उसे क्रोध आये बिना नहीं रहता, जो दूसरे देशों में जाकर हमेशा वहाँ के निवासियों के काले पहलू ही खोजा करते हैं। पठान-व्यक्तित्व के रोशन पहलुओं का अध्ययन करके वह पठान-प्रदेश पर मुग्ध हो उठा है।

ख़ैबर के खुश्क और बंजर पहाड़ों की ओर निहारते हुए मैंने कहा—"यार, मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो ये पहाड़ कह रहे हैं—"भोले राहगीर, मेरी कुरूपता पर मत जा। याद रख कि आज़ादी का दुर्लभ पौधा हरे-भरे, कोमल बाग़ों में न उगकर कठोर, निर्मम पाषाण-हृदयों में ही उगा करता है। मैं आज़ाद हूँ, और आज़ाद रूहों का गहवारा हूँ, इसीलिए मैं कुरूप हूँ, सौन्दर्य विहीन हूँ, आकर्षण-हीन हूँ।"

मेरा साथी बोल उठा—"नहीं, नहीं, इन पहाड़ों में भी आकर्षण है, सौन्दर्य है। जब यही पहाड़ प्रभातकालीन सुनहरी किरणों से नहाते हैं, तब कहीं-कहीं से बड़े सुन्दर दीख पड़ते हैं। संध्या की स्वर्ण-राशियों से शराबोर होने पर मैंने अनेक बार इन काली-कलूटी चट्टानों में सौन्दर्य की दुनिया बसी देखी है। ऐसा जान पड़ता है, मानो सुन्दर तरुणियों ने कुछ देर के लिए अपने काले घूँघट उठा दिये हों!"

मैंने पूछा—"क्या समूचे पठान-प्रदेश में प्रकृति की यही रूप-रेखा है?"

"नहीं, पठान-प्रदेश में हरे-भरे और उपजाऊ स्थलों की भी कमी नहीं।"

समस्त पठान क़ौम कितनी ही छोटी-बड़ी जातियों में बँटी हुई है। प्रत्येक जाति की अपनी निजी विशेषता है,—अपना निजी इतिहास है। पठान-

व्यक्तित्व की झलक देखने के लिए पठानों की विशेष-विशेष जातियों से परिचित होना आवश्यक है।

ख़टक एक जातीय जागीर थी, जो अकबर के समय में समस्त 'ख़टक' जाति की बागडोर सम्हालने के लिए अस्तित्व में आई। ख़टक जागीरदार को उन दिनों 'ग्रैण्ड ट्रंक रोड' की हिफ़ाज़त के मेहनताने में मुग़ल-सम्राट् से ख़ैराबाद और नौशहरा के बीच की भूमि प्राप्त हुई थी। ख़टक जागीरदार 'ख़ान' कहलाता था, और मुग़ल साम्राज्य के अधीन समझा जाता था। जब मुग़ल-साम्राज्य की क़िस्मत औरंगजेब के हाथ में आई, तब ख़टक-जागीर का कर्ता-धर्ता खुशहालख़ान नामक सरदार था। खुशहालख़ान आज़ादी का पुजारी था। उसका व्यक्तित्व पठान-इतिहास की एक अमर वस्तु है। पठानों की मातृ भाषा पश्तो ने उसे एक उच्चकोटि के कवि के रूप में पाया था। वह तलवार का ही नहीं, कलम का भी धनी था। जीवन की आख़िरी घड़ी तक वह लड़ाकू पठान जातियों को एक सुसम्बद्ध राष्ट्र के रूप में परिणत करने के काम में जुटा रहा। एक अजब शान थी, जिससे उसने अपने वतन में आज़ादी का झंडा फहराया था। एक बार उसे मुग़ल फ़ौज पकड़ ले गई थी और उसे आगरे के क़िले में बन्दी रहना पड़ा था। उधर ख़टकों के हाथ में राज-वंश के कई मुग़ल फँस गये थे। आख़िर इस शर्त पर कि ख़टक लोग मुग़ल कैदियों को रिहा कर दें, खुशहालख़ान को आगरे के क़िले से छुटकारा मिला था। आज भी खुशहालख़ान का नाम पठान-प्रदेश के घर-घर में जीवित है,—केवल ख़टक ही नहीं, अन्य जातियों के पठान भी उसके गीत गाते गाते मस्त हो उठते हैं। कवि खुशहालख़ान के जंगी तराने अपने भीतर देश-प्रेम और पठान-वीरता का सन्देश रखते हैं। कितना सजग तथा सजीव हो उठता है यह सन्देश, जब पठान गवैये रुबाब पर खुशहालख़ान की चिर-नवीन रचनाओं का गान करते हैं। ख़टक जाति कोहाट और पेशावर ज़िले में बसी हुई है। 'टेरी' ख़टक और 'अकोरा' ख़टक इस जाति के प्रमुख विभाग हैं।

प्रत्येक अफ़रीदी अपने वतन की धरती पर एक होनहार योद्धा के रूप में ही गिरता है। अफ़रीदी बच्चा क़द में लम्बा और बदन से तगड़ा होता है। उसकी रगों में बहने वाले लहू में कुछ अजीब जंगी जौहर होते हैं। यदि शत-प्रतिशत नहीं, तो नब्बे प्रतिशत से अधिक अफ़रीदी हमेशा एक बहादुर और दिलेर रूह के मालिक होते हैं, तभी तो उनका बच्चा-बच्चा राइफ़ल का धनी है, और राइफ़ल चलाने के लिए चाहिए बाजुओं में बल और हृदय में साहस। इन दोनों बातों में अफ़रीदी नर-नारी अपनी मिसाल आप हैं। राइफ़ल चलाने की शिक्षा

उन्हें किसी स्कूल में नहीं प्राप्त करनी पड़ती। राइफ़ल-शिक्षा का 'क ख ग' तो वे बाप-माँ की गोद में ही सीख लेते हैं। अपने नित्यप्रति के जीवन में राइफ़ल के कलम और लहू की स्याही से मौत के अफ़साने लिखना उनका काम है।

पर इन रण-बांकुरों की युद्धशक्ति हमेशा घरेलू तनातनी के रूप में ही प्रकट हुआ करती है। खानाजंगी के ताल पर युद्ध-संगीत का अभ्यास इतना महँगा पड़ता है कि किसी प्रकार की क़ौमी एकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब देखो, तब ज़रा-ज़रासी बात के लिए ख़ून से रँगे हुए हाथ और इसके बाद 'बदला-दर-बदला' की रक्तरंजित लम्बी कहानी। हाँ, इतिहास से पता चलता है कि आवश्यकतानुसार ये लोग आपस के भेद-भाव मिटाकर उतनी ही बार एक सूत्र में भी बँधे हैं। जिन दिनों फारस-सम्राट् नादिरशाह अपनी विजय-पताका फहराने के लिए ग़ज़ब ढा रहा था, उस समय समस्त अफ़रीदी जाति एक हो उठी थी। नादिरशाह इन लोगों पर भी अपना आधिपत्य जमाना चाहता था। पर जब उसने अफ़रीदी योद्धाओं के कारनामे सुने, तो उसको अपना ख़याल बदल देना पड़ा। अपने देश के जंगली कन्द-मूल और बेर इत्यादि से ही पेट-ज्वाला बुझाकर ये लोग लगातार कई-कई मास तक शत्रु का सामना कर सकते हैं।

आप पूछेंगे, अफ़रीदी-प्रदेश से कौन-सा भू-भाग समझना चाहिए? 'सुफ़ेद-कोह' के निचले और चरम पूर्वीय अंचल, 'बाज़ार' और 'बाड़ा' की उपत्यकाएँ तथा 'तीराह' घाटी का उत्तरीय भाग अफ़रीदी जन साधारण का निवास है। कूकीखेल, कम्बरखेल, कमरखेल, मलकदीनखेल, सिपाहखेल, जख़ाखेल, अकलदीनखेल और आदमखेल—अफ़रीदियों के ये आठ विभाग हैं। आदमखेल अफ़रीदियों को छोड़कर बाक़ी समस्त अफ़रीदियों को उड़ती चिड़िया ही कहना चाहिए। गरमियों में वे 'तीराह' की ऊँची-ऊँची श्यामल पहाड़ियों पर उत्सवका सा मधुर जीवन बिताते हैं, और जब जाड़ा आ जाता है, तो वे 'बाज़ार' और ख़ैबर की ओर उतर आते हैं।

पठान लोक वाणी से दर्रा-ख़ैबर के सौन्दर्य-हीन होने का कारण पूछिये, तो पता चलेगा कि जब ख़ैबर-निर्माण की बारी आई, तब अल्ला-ताला सृष्टि-रचना में सारी-की-सारी सौन्दर्य-सामग्री शेष कर चुके थे; इसलिए ख़ैबर के हिस्से में आया सिर्फ़ बचा-खुचा पाषाण भंडार, जिसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की रूप-रेखा ढूँढ़ना सरासर ग़लती होगी। 'ख़ैबर' की भूमि एकदम कृषि के अयोग्य है। पेट माँगता है भोजन—ठीक, बे-ठीक किसी न किसी उपाय से पेट की ज्वाला शान्त करनी ही पड़ती है। अतः पुराने ज़माने से अफ़रीदी स्त्री-

पुरुष दर्रा-खैबर में से गुज़रनेवाले तिजारती कारवानों पर छापा मारने या कारवाँवालों से कुछ टैक्स वसूल करने के अभ्यस्त चले आ रहे थे; पर आजकल जब कि 'लण्डीकोतल' के स्थान पर ब्रिटिश पॉलिटिकल एजेन्सी दर्रा-खैबर की हिफ़ाज़त की ज़िम्मेवार है, अफ़रीदी पठान ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए अब उन्हें मेहनत-मज़दूरी तथा सरकारी इनाम इत्यादि पर ही गुज़ारा करना पड़ता है।

युद्धशक्ति के लिहाज़ से मोहमन्द पठानों का बोल-बाला भी कुछ कम नहीं है। वैसे मोहमन्द नर नारी कृषिसेवी प्राणी हैं। प्रकृति ने मोहमन्द प्रदेश को, जो आज़ाद इलाके में उत्मानखेल पठानों की दक्षिणी-पश्चिमी दिशा में है, काबुल तथा स्वात जैसी नदियों से सींचा है। यदि मोहमन्द किसान अपने उपजाऊ खेतों से अन्न के जवाहर उपजाने में कुशल हैं, तो उनका राइफल का अभ्यास भी कुछ कम नहीं है। खेत बारी के काम के साथ ही साथ वे बहादुरी के कारनामों की सृष्टि भी किया करते हैं। ताजिकज़ई, हलीमज़ई तथा बायेज़ई इत्यादि इनकी प्रमुख उपजातियाँ हैं।

कुर्रम-घाटी, जहाँ आजकल तूरी पठानों का निवास है, तूरी-लोकवाणी के अनुसार हमेशा ही तूरी-प्रदेश नहीं रही। तूरी लोगों का निकास फ़ारस से है। कई शताब्दियों की आवारागर्दी के बाद जब वे कुर्रम-घाटी में पहुंचे, तब वहाँ बंगश पठानों का दौर-दौरा था; पर समयक्रम से बंगश घरानों की बड़ी संख्या धीरे-धीरे 'मीरानज़ई' नामक इलाके में जा बसी, और रहे-सहे बंगश-घराने आपस की खानाजंगी के कारण अपनी सत्ता खो बैठे। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से कुर्रम घाटी कोरमकोर तूरी-प्रदेश ही बन गई है। इसका क्षेत्रफल तीन सौ वर्गमील के लगभग है।

खोस्त-पहाड़ियों के सिलसिले ने कुर्रम-घाटी को दो भागों में विभक्त कर दिया है--अपर कुर्रम और लोअर कुर्रम। अपर कुर्रम में 'पारा चिनार' स्थान पर ब्रिटिश पोलिटिकल एजेन्सी है। यहाँ की ज़मीन उपजाऊ है, और जगह-जगह चीड़-वृक्षों से लदी हुई पहाड़ियाँ नयनाभिराम चित्रपटों की सृष्टि करती हैं।

अन्य पठान-जातियों में निम्नलिखित विशेषतया उल्लेख योग्य हैं--

वज़ीर—कुर्रम-घाटी और गोमल नदी के बीच बसा हुआ प्रदेश वज़ीर पठानों की भूमि है, और वज़ीरिस्तान के नाम से विख्यात है। इसके दो भाग हैं-- उत्तरीय और दक्षिणीय। पहले का क्षेत्रफल २,३०० और दूसरे का २,७०० वर्गमील के लगभग है। दोनों ही भागों में पृथक्-पृथक् ब्रिटिश पोलिटि-

कल एजेन्सियाँ हैं—पहले में 'मीरनशाह' के स्थान पर और दूसरे में 'वाना' के स्थान पर।

बंगश—बंगश पठानों की आबादी अधिकतर कोहाट ज़िले में है। मीरानज़ई, सामलज़ई और बायेज़ई—ये इनके तीन विभाग हैं।

मर्वत—'लकी' तहसील, जहाँ मर्वत ग्राम बसे हुए हैं, मर्वत-प्रदेश कहला सकती है। इनके पाँच विभाग हैं—खुदखेल, बहरामखेल, टोपीखेल, मूसाखेल और आचाखेल।

बन्नूची—कुर्रम तथा टोची नदियों के बीच का भू-भाग, जो बन्नूची तहसील में है, टोची या बन्नूची पठानों की भूमि है।

शिनवारी—सॉगूखेल, अलीशेरखेल, सिपाहखेल और माण्डोज़ई—ये शिनवारी पठानों की छोटी-छोटी जातियाँ हैं। पेशावर और काबुल के बीच व्यापार करना इन लोगों का मुख्य धन्धा है।

उत्मानखेल—आज़ाद इलाक़े में 'बाजौड़' का दक्षिणी भाग उत्मानखेल पठानों का घर है।

यूसफ़ज़ई—आज़ाद इलाक़ों में दीर, बुनेर और स्वात में बसे हुए पठान उत्मानज़ई नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा पेशावर ज़िले के उत्तरी-पश्चिमी भाग में बसे हुए पठान भी 'उत्मानज़ई' कहलाते हैं।

ख़लील—ख़ैबर के प्रवेश-द्वार के सम्मुख बाड़ा नदी की ओर ख़लील पठान बसे हुए हैं।

मुहम्मदज़ई—ये लोग हश्तनगर तहसील में रहते हैं।

दादूज़ई—इनके ग्राम काबुल और बाड़ा नदियों के संगम के समीप बसे हुए हैं।

"अजी, पठान जाति तो सचमुच गाँवों में बसने वाली क़ौम है!"—एक दिन मैंने अपने एक पठान मित्र से कहा।

"बहुत ठीक,"—मेरे मित्र ने कहना शुरू किया—"सीमा-प्रान्त को ही लीजिए। छोटे-मोटे कस्बों तथा छावनियों आदि की संख्या सन् १९३१ की मनुष्य गणना के अनुसार सिर्फ़ २६ ही है, जब कि ग्रामों की संख्या २,८३० है। नगरों की संख्या तो सिर्फ़ दाल में नमक के बराबर ही समझिए। आज़ाद इलाका तो एकदम ग्रामों की ही भूमि है। अफ़ग़ानिस्तान में भी इने-गिने नगरों को छोड़कर ग्राम-ही-ग्राम समझिए।"

"अच्छा, तो यहाँ के ग्रामों के नाम किस प्रकार के हैं?"—मैंने धीरे से पूछा।

दो-एक क्षण के पश्चात् उत्तर मिला--"कुछ ग्रामों के नाम बौद्ध रंग लिए हुए हैं; जैसे, 'सहरी बहलोल', 'हुंड' और 'तख्त बारी'। कुछ नामों पर सिख इतिहास की छाप है, जैसे 'शंकरगढ़' और 'बुर्ज हरिसिंह'। अनेक नाम ऐसे हैं, जो ग्रामों के संस्थापकों या उनके किसी सम्बन्धी का स्मरण दिलाते हैं--इस लड़ी में 'शरीफाबाद','फतहआबाद' और 'अकोड़ाखटक'का ज़िक्र ठीक होगा। कितने ही ग्रामों के नाम स्थानीय सन्तों की याद को ताज़ा करते हैं; जैसे, 'ग़ाज़ी बाबा' 'पीर सद्दो' और 'काका साहब'।

इसके बाद मेरा मित्र कुछ सोचने के लिए रुक गया। मैंने पूछा--"बस, या और किसी प्रकार के भी हैं ?"

अब जो पठान-ग्रामों के नाम सम्मुख आये, वे ख़ास तौर पर दिलचस्प जान पड़े।

"अच्छा, और सुनिए।"--उसने मीठी आवाज़ से कहना शुरू किया--"कुछ नाम ऐसे हैं, जिनसे उनके प्राकृतिक सौन्दर्य का आभास मिलता है, 'गुलाबा' (गुलाब पुष्प), 'गुलबदन' (गुलाब-पुष्पसम), 'स्पिना वड़ई' (सफेद ढेरी) इत्यादि। कुछ नाम ऐसे भी हैं, जिनसे जन साधारण की काव्य-रसात्मक सूझ का कुछ-कुछ परिचय मिलता है। इस सिलसिले में 'नावागई' (नई नवेली दुलहिन) का ज़िक्र काफ़ी होगा।"

इतना कह चुकने के बाद ज़रा रुक कर मेरे मित्र ने, जो स्वयं एक अच्छे कवि हैं, पूछा--"हाँ, तो ख़ामोश क्यों हो ? क्या सोच रहे हो ? जान पड़ता है, 'नावागई' शब्द ने तुम्हें किसी दूसरी ही दुनिया में पहुँचा दिया है।"

"इसमें क्या सन्देह है, मियाँ सैद रसूल ! स्वप्न-जगत् के रंगीन दृश्य-पट को सजीव बना देने की सामर्थ्य इस शब्द में है।"

इसके बाद अनेक बातें सुनने को मिलीं, और वह भी एक योग्य व्यक्ति से। मियाँ सैद रसूल का कवि-हृदय भी उस समय स्फूर्ति से पूर्ण हो रहा था। उन्होंने कहा—"पठान ग्रामों के नाम तो तुमने सुन ही लिये, अब वहाँ के निवासियों के नाम सुनो।"

"और क्या चाहिए दोस्त !"

"पठान ग्रामवासियों के नाम तुम्हें ग्रामों से कहीं अधिक दिलचस्प लगेंगे। पठान माँ अपने बच्चों की तुलना अकसर फूल से करती है; अपनी गोदी के लालों को सम्बोधन करते समय मैंने ग्रामीण स्त्रियों को 'गुल' शब्द का प्रयोग करते सुना है। नव-प्रस्फुटित पुष्प में किसी नन्हें शिशु का मुँह देख लेना पठान स्त्रियों का रोज़ का काम है—प्रत्येक ग्राम में बीसियों स्त्रियाँ ऐसी मिलेंगी, जो

अपने बच्चों को 'ताज़ा गुल' नाम से विभूषित करती हैं। इस सिलसिले में विशेष-विशेष फूलों के नाम भी प्रयोग में लाये जाते हैं। कितने ही शिशु ऐसे मिलेंगे, जिनके माता-पिता उन्हें 'गुलाब' कहकर खुशियाँ मनाते हैं। अनार के सुर्ख़ सुर्ख़ फूल का रुतबा कितना बढ़ जाता है, जब हम पठान लड़कों से उनके नाम पूछते हुए 'अनारगुल' नाम की बहुतायत पाते हैं। जिसे फारस निवासी 'गुले-रेहान' कहते हैं, वही हम पठानों के यहाँ 'कश्मालू' कहलाता है। यह भी हमारे गिने-चुने पुष्पों में से एक है, और अकसर हम अपने लड़कों को 'कश्मालू' नाम से बुलाया करते हैं। अंजीर का फूल होता भी है या नहीं, मुझे मालूम नहीं; पर हमारे यहाँ बुजुर्गों ने यह मशहूर कर रखा है कि अंजीर का फूल लगते ही आँखों से ओझल हो जाता है, सिर्फ भाग्यवान व्यक्ति ही उसे देख सकते हैं, अतः हमारी माताएँ लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् प्राप्त किये लड़कों को 'इंजरगुल' कहा करती हैं। मधुर वाणीवाले युवक का 'तोता' नाम काफ़ी सार्थक समझा जाता है। चीड़ के वृक्ष का पठान नाम है 'नख़तर'। हमारे यहाँ यह शब्द भी अकसर गठे शरीरवाले सुन्दर युवक के नाम के रूप में कम सार्थक नहीं समझा जाता।"

यहाँ पहुँचकर मियाँ सैद रसूल ज़रा रुक गये।

"ये नाम तो बड़े सुन्दर हैं। क्या वीर-रस-पूर्ण नाम भी रखे जाते हैं?"

"हाँ, हाँ, हमारे वतन में, जहाँ हर किसी का जीवन युद्धमय है, वीर-रस-पूर्ण नामों की कमी नहीं है। 'शेरदिल' यहाँ के पुरुषों का एक लोकप्रिय नाम है। शेर के लिए हमारा पठान शब्द है 'ज़म्रे'। पुरुषों का नाम अकसर 'ज़म्रे' भी होता है। पक्षियों में 'बाज़' हमारे यहाँ वीरता का चिह्न माना जाता है। कितने ही वीर पुरुषों का नाम 'बाज़' सुनने में आया है।"

मैंने कहा—"बहुत ठीक। अच्छा, यह तो हुई पुरुषों की नामावली। ज़रा स्त्री नामों से भी परिचय होना चाहिए न?"

"अच्छा, स्त्री नाम भी लो। 'शीनो' (हरियावल), 'पर्खा' (शबनम), 'रणा' (रोशनी), 'ह्यातई' (ज़िन्दगी), 'रेश्मा' (रेशमी सुन्दरी), 'दुर-जमाला' (मोती की-सी रूपवती), 'दुरख़ानी' (मोती-सी रानी), 'बद्रे-जमाला' (चाँदनी), 'सोसन जान' (सोसन फूल की सी सुन्दरी), 'बुलबुला' (बुलबुल-सी मधुर भाषिणी, 'कौतरा' (कबूतरी), 'ख़ारोनई' (मैना) आदि नाम काफ़ी होंगे।"

पेशावर के इस्लामिया कालेज के सामने से जो सड़क दर्रा ख़ैबर की तरफ़ जाती है, हम उसी पर टहल रहे थे। सूर्यास्त होने में अभी थोड़ा समय बाकी

था। दिन न गर्म था, न अधिक ठंडा। आकाश पर बादलों का बिखरा-बिखरा-सा साम्राज्य था। मियाँ सैद रसूल सामने ख़ैबर की ओर आकाश-पट पर स्थिर-दृष्टि से ताक रहे थे, मानो वहाँ अतीत का चिर-नवीन देवता-ख़ैबर का इतिहास लिये बैठा हो।

"अच्छा, तो अब पठान संस्कृति के किसी दूसरे पहलू पर रोशनी न डालियेगा?"—मैंने दबे स्वर से कहा।

"ज़रूर, ज़रूर, और हमें काम ही क्या है?"—मियाँ सैद रसूल बोले—"मैं चाहता हूँ कि अपनी अनुभूतियों का सारा ख़जाना ही अपने दोस्त के रूबरू उँडेल दूँ। सुनो, अन्य मुस्लिम प्रदेशों की भाँति हमारे यहाँ भी जब दो परिचित या अपरिचित व्यक्ति मिलते हैं, तो 'अस्लाम अलेकम' (तुम्हें शान्ति नसीब हो) और 'वालेकुम सलाम' (तुम्हें भी शान्ति नसीब हो) कहकर एक दूसरे का अभिवादन करते हैं; पर ये वाक्य अरबी भाषा के हैं, अतः ग्रामीण जन-साधारण के हृदय को वे नहीं छू पाते। इसीलिए हमारे यहाँ ऐसे मौक़े पर कितने ही गिने-चुने पश्तो वाक्य प्रयोग में लाये जाते हैं, जिन्हें हर शख़्स समझ सकता है। इनसे आप हमारी संस्कृति की नब्ज़ देख सकेंगे। जब कभी कोई अतिथि हमारे द्वार पर आता है, तो हम 'हर कला राशा' (हर रोज़ आ) कहकर उसका स्वागत करते हैं। इसके उत्तर में अतिथि की ओर से 'नेकी दर्शा' (आपका भला हो) और 'हर कला ओर्सा' (आप चिरजीवी हों) कहने की प्रथा है। राह-चलते पथिक बिना किसी जान-पहचान के भी एक दूसरे का अभिवादन किया करते हैं; एक कहता है—'अस्तड़े मशी' (आपको कभी थकावट न हो), इसके उत्तर में दूसरा पथिक, यदि वह पहले का हम-उम्र है तो, 'लोए शे' (ईश्वर तुम्हें महानता प्रदान करे) कहकर मुस्करा देगा, और यदि वह उम्र में पहले से छोटा है, तो 'मा ख्वारेगी' (आपको कभी नीचा न देखना पड़े) कहकर अपनी राह लेगा। कृतज्ञता प्रकट करते हुए अकसर इन वाक्यों के प्रयोग का रवाज है—'खुदाए दे उबाख़ा' (भगवान् तुम्हें क्षमा प्रदान करें) 'खुदाए दे उलोईका' (भगवान् करे, तुम एक महान् व्यक्ति बनो), 'खुदाए दे ओसाता' (भगवान् तुम्हारे रक्षक हों), 'ख़ा चारे' (तुम अपने मिशन में सफल रहो) इत्यादि। बिछुड़े हुए बन्धु-बान्धव और यार-दोस्त एक-दूसरे से गले मिलते हैं, तो इन प्रश्नों का सिलसिला शुरू हो जाता है—'जोड़े' (क्या तुम स्वस्थ हो?), 'खुशहाले' (क्या तुम खुशहाल हो?), 'ख़ा जोड़े' (क्या तुम बिलकुल स्वस्थ हो?), 'ख़ा खुशहाले' (क्या तुम बिलकुल खुशहाल

हो ?), 'ख़ा ताज़ा' (क्या तुम बिलकुल ताज़ादम हो ?), और 'ख़ा चाखे' (क्या तुम बिलकुल ओजस्वी हो ?) ।"

आख़िर संध्या हो आई। सैद रसूल बोले—'खेल ख़तम, पैसा हज़म।' इसके बाद हम लोग अपने-अपने स्थान को लौट आये।

दूसरे दिन नाश्ता-पानी करके मैंने और सब काम छोड़कर इस्लामिया कालेज की राह ली। मियाँ सैद रसूल रविवार की छुट्टी मना रहे थे, मुझे देखकर बोले—'आओ, आओ, चलो, आज कमरे में बैठकर ही कल की बात ख़त्म की जाय।

इधर-उधर की दो-एक बातों के पश्चात् मियाँ सैद रसूल ने कहना शुरू किया—"हमारे यहाँ गाँवों की बस्ती विभिन्न हिस्सों या मुहल्लों में विभक्त की जाती है। प्रत्येक हिस्सा 'कण्डी' कहलाता है। एक एक 'कण्डी' एक एक 'खेल' (जाति) की रिहायशगाह होती है। गाँव का मुखिया 'मलिक' कहलाता है। ब्रिटिश इलाके में वह ज़मीन की मालगुज़ारी वसूल किया करता है; पर 'आज़ाद इलाके' में, जहाँ हर कोई अपने घर और ज़मीन का खुदमुख्तार हुक्मराँ होता है, 'मलिक' केवल जातीय नेता ही होता है।

"प्रत्येक कण्डी की अलग 'जमात' (मस्जिद) होती है, जिसके लिए प्रायः ग्राम-सीमा की ओर ही स्थान चुना जाता है; मुल्ला लोग, जो पठानों के धार्मिक नेता होते हैं, इन जमातों के कर्ता-धर्ता हैं। कुरान की विशेष-विशेष आयतें पठान बालकों तथा बालिकाओं को कंठस्थ कराने के लिए इन जमातों में मक्तब लगते हैं। अध्यापन का काम मुल्ला लोग ही करते हैं। इस धार्मिक सेवा के फल-स्वरूप मुल्ला लोग जन-साधारण से अपनी ज़रूरत की सामग्री प्राप्त कर लेते हैं।

"आज़ाद इलाके में प्रत्येक कण्डी में कई बुर्ज (watch-towers) होते हैं, जिन पर से गाँववाले दुश्मनों को दूर से ही देख लेते हैं। प्रत्येक बुर्ज इस प्रकार सर उठाये रहता है; जैसे, वह वीर रस-पूर्ण पठान-जीवन का जीता-जागता चिह्न हो।

"पश्तो भाषा में घर के लिए 'कोर' शब्द का प्रयोग होता है—पठान आत्मा इस शब्द से एकदम झंकृत हो उठती है। बाहर की चहारदीवारी के भीतर एक अच्छा-ख़ासा आँगन और दो-तीन कोठे, बस यही होता है जन-साधारण के घर का नक्शा। चहारदीवारी 'गोलै' कहलाती है। कोठों के भीतर की दीवारें किसी प्रकार के चित्र इत्यादि के योग्य नहीं होतीं; पर कितनी

ही कला-प्रेमी गृह-देवियाँ अकसर इन दीवारों पर चित्र इत्यादि बनाने की चेष्टा किया करती हैं। अपने देश के विशेष-विशेष फूल तथा पत्ती इत्यादि इन चित्रों के विषय होते हैं। पठान-प्रदेश के उन भागों में जहाँ प्रकृति अपना सौन्दर्य निखारकर हमेशा दुल्हिन-सी बनी रहती है, प्रायः घरों के आँगनों में बेर या शहतूत इत्यादि के वृक्ष भी लगाये जाते हैं; सब्ज़ी और तरकारी के लिए भी थोड़ा स्थान नियत रहता है—साथ ही कुछ फुलवारी भी रहती है।

"ऊबिए मत, लीजिए अब कुछ पठान-कहावतों का मज़ा चखिए।"—यह कहकर मियाँ सैद रसूल ने फिर कहना शुरू किया—"हमारे यहाँ हर कोई अपने वतन के साथ एक ख़ास रिश्ता समझता है। अकसर लोग कहा करते हैं—

पा हरचा अख्यल वतन कश्मीर दे

—'हर किसी के लिए अपना वतन काश्मीर होता है।'

मैंने कहा—"बहुत खूब, इसका साफ़ अर्थ यही हुआ कि पठान जाति अपनी जन्म-भूमि को काश्मीर-सा सौन्दर्य-निकेतन कहकर उसका अभिनन्दन करती है।"

"अपने वतन के सुन्दर स्थलों पर रीझ-रीझकर ही शायद हमारे बुजुर्गों ने एक कहावत का निर्माण किया है—

पा खैस्तायो बान्दे खुदै हुम मइन दा

—'सुन्दर वस्तुओं को तो खुदा भी प्यार करता है।'

प्रत्येक पठान की आन्तरिक इच्छा यही रहा करती है कि जब कभी उसे मौत का सामना करना पड़े, तो वह अपने ग्राम में ही हो, ताकि वह कब्रस्तान में अपने बुजुर्गों और बन्धु-बान्धवों के बीच सो सके। यदि कोई व्यक्ति अपने ग्राम से दूर मौत का शिकार हो जाय, तो उसकी लाश को उसके ग्राम में पहुंचाना उसकी रूह के प्रति अत्यन्त कृपा का काम समझा जाता है। कितनी ही ग्रामीण कथाओं के नायकों को हम अपने स्वदेश से बहुत दूर मैदानों में बहादुरी से लड़कर वीर-गति प्राप्त करता पाते हैं। बाद में यह दिखाया जाता है कि उसके मित्र उसकी कब्र खोदकर उसकी हड्डियों को उसके ग्राम में लाकर दफ़नाते हैं।

"अपनी जातीय संस्कृति का परित्याग करने के लिए बहुत ही कम पठान तैयार होते हैं। एक कहावत भी है, जिसमें ऐसा करने की मनाही की गई है—

ला कली ना ऊजा, ला नरखा ना मा ऊजा

—'अपने ग्राम का परित्याग भले ही कर दो; पर अपने ग्राम की चाल-ढाल न छोड़ो।'

"मार-धाड़-पूर्ण जीवन के अंचल में रहकर भी पठान-आत्मा एक दम निर्दयी और खूनी नहीं बन गई है। इस सिलसिले की हमारी एक कहावत भी है—

त ज़मा शड़े ता लास मा चवा
ज़ वा स्ता शाल त-लास ना चुन

—'तुम मेरे कम्बल पर हाथ न डालो, मैं तुम्हारी शाल पर हाथ न डालूँगा।'

"मेहमाँ नवाज़ी हम पठानों की एक ख़ास शान है। कितनी ही कहावतें ऐसी मिलती हैं, जिससे पठान-जीवन का यह रोशन पहलू दीख पड़ता है। मेहमान को सम्बोधन करके पठान मेज़बान अकसर कहा करता है—

दस्तरख़्वान ता मे मुगोरा
तंदी ता मेगोरा

—'मेरे दस्तरख़्वान की ओर न निहार, मेरी पेशानी की ओर देख।'

"मेज़बान के कथन का भाव यह है कि ग़रीब होने के कारण वह अपने मेहमान के सामने राजसी भोजन नहीं उपस्थित कर सका ; पर फिर भी वह अपने मेहमान की सेवा में अपने हृदय का आनन्द पेश कर सकता है, इसी आनन्द की कुछ रेखाएँ अपनी पेशानी पर दिखाने के लिए वह अपने मेहमान का ध्यान आकर्षित करता है। उपर्युक्त सूक्ति के उत्तर में पठान मेहमान कहता है—

प्याज़ दे वी, खो प-न्याज़ दे वी

—'मुझे प्याज़ ही क्यों न दो, पर ज़रा प्रेम से दो।'

"युद्ध-प्रिय जाति होने के कारण पठानों ने सिपाहियाना ज़िन्दगी के हर भले-बुरे स्वरूप से घुल-मिलकर एक होना सीख लिया है। तभी तो हमारे लोग कहा करते हैं—

ग़म ओ खादी ख़ोर ओ रोर दी

—'दुःख और खुशी बहन-भाई हैं।'

"हर एक पठान-स्त्री अपनी कोख से वीर पुत्र को जन्म देने के स्वप्न देखा करती है—

ज़दे बुरायिम ख़ो चे मेदान प्रे नग़दे

—'हे पुत्र! मैं बाँझ रहना ही पसन्द करूँगी, बनिस्बत इसके कि तू रण-भूमि से पीठ दिखाये।"

"अधेड़ उम्र के उन योद्धाओं को, जो अपनी शक्ति का अनुमान ज़रूरत से ज्यादा किया करते हैं, सम्बोधन करते हुए वयोवृद्ध कहा करते हैं—

द मेड़ खुइ द-मजरीज्ड़ गुवाड़ी

—'वीर-पद प्राप्त करने के लिए चाहिए शेर का सा दिल।'

"सिपाही-जीवन के साथ हाथ-में हाथ मिला कर चलता है खेती-बारी का काम। उम्र-रसीदा पठानों से वार्तालाप कर देखिए, कोई-न कोई व्यक्ति यह कहते सुना जायेगा—

पा माते स तुख्म अचवा

—'क्या हुआ यदि तू पराजित है, जा अपने खेत में बीज बो।'

"शीघ्र पकी हुई फसल और यौवन के दिनों में प्राप्त की हुई औलाद अच्छी समझी जाती है—

ला ज्वाड़ी ज्वामन दी, ला ज्वाड़ी ग़ामन दी

—'यौवन में उत्पन्न बच्चे अच्छे और जल्द तैयार हुई गेहूँ की फ़सल अच्छी।"

"जैसा किसान, वैसी ही उसकी भूमि, इसकी ताईद भी की गई है—

चे पा अख़यला कर बन्दा कड़ी

क शौ दिवी टोल ग्वड़ीशी

—'यदि कोई अपनी कृषि का प्रबन्ध अपने हाथ में रखता है, तो यदि उसकी फस्ल दूध होगी, तो घी हो जायगी।'

"यदि हल चलाना ही अधूरा है, तो खेत का सींचना क्या फल देगा। प्रायः कहा जाता है—

शल ब्रजे कन्दुना कवा

यवा ब्रज ओब लगावा

—'अपने खेत में बीस दिन तक हल चला, और फिर एक दिन इसे सींचने में ख़र्च कर।"

: २ :

मैंने अपने पठान मित्र मियाँ सैद रसूल से कहा— 'हाँ, तो उस दिन आप अपनी जातीय मर्यादा के नियम बतलाने जा रहे थे, आज ज़रा उस पर प्रकाश डालिए।"

"अपनी जातीय मर्यादा के नियमों को हम लोग 'नंगे पुख्तूना' कहा करते हैं। 'इज्ज़त' और 'शर्म' ये दो शब्द इन नियमों के ताने-बाने हैं। इन दोनों शब्दों के मूल अर्थ कुछ भी हों; पर हमारे यहाँ इनका स्वरूप विचित्र-सा बन गया है। 'बदले दर बदले' के लम्बे सिलसिले की प्रथा का सम्बन्ध इन दोनों ही शब्दों के साथ स्थापित है। वह हाथ जो अभी तक 'बदले' के ख़ून से सुर्ख़ नहीं

हुए, शर्म के चिह्न समझे जाते हैं, और वह तलवार जो बदला लेते वक्त रक्त-रंजित हो चुकी है, इज़्ज़त की बड़ी-से-बड़ी निशानी मानी जाती है।..."

अभी मियाँ सैद रसूल को कुछ और कहना था ; पर मैंने बीच ही में बात काट कर पूछा--"क्या बदला चुकाने की यह ख़तरनाक प्रथा दूर नहीं की जा सकती ?"

"नहीं, शायद कदापि नहीं। आप पूछेंगे, क्यों ? अच्छा, तो सुनिए। हमारी लोक वाणी में बुज़ुर्गों ने यह मशहूर कर रखा है कि संसार रचना के थोड़ी देर बाद ही पठानों के आदि-पिता के किसी काम से अल्ला-ताला नाराज़ हो गये थे। ग़ुस्से में आकर अल्ला ताला ने उसे श्राप दिया। उसी श्राप का यह नतीजा है कि आज के पठान ज़रा ज़रा सी बात पर 'बदला' की ख़तरनाक प्रथा के शिकार होकर अपने वतन में ख़ाना-जंगी का अखाड़ा बनाये रहते हैं। कुछ समझदार बुज़ुर्गों ने इस प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज़ भी उठाई ; पर उसका कुछ अच्छा नतीजा अभी तक तो नहीं निकला।"

"अच्छा, तो 'नंगे पुख्तूना' के सम्बन्ध में और भी जानने योग्य बातें होंगी, ज़रा बतलाइए तो सही।"—मैंने कहा।

"सुनिए, यदि कोई व्यक्ति किसी स्त्री या पुरुष का बिना किसी क़ुसूर के ही बध कर दे, तो उसे निश्चय ही मौत के घाट उतार दिया जाता है ; पर यदि ख़ूनी मक़तूल का (निहत व्यक्ति का सम्बन्धी हो, तो वह एक सूरत से अपनी जान बचा सकता है। वह सूरत यह है कि ३६० रुपये मक़तूल के नज़दीकी रिश्तेदारों को दे दे ; पर ऐसा करने के लिए रिश्तेदारों की रज़ामन्दी ज़रूरी है।

यह सारी कार्रवाई एक जातीय पंचायत की मार्फ़त होती है, जिसे 'जिर्गा' कहा जाता है। युद्ध के दिनों में जिर्गा सचमुच ही एक राष्ट्रीय समिति बन जाता है, जब वह सर्वसाधारण को प्रेरित करता है कि वे आपस के भेद-भाव को दूर करके अपने शत्रु का सामना करें।

यदि जिर्गा का यह हुक्म हो कि लोग युद्ध में शामिल हों, तो जो व्यक्ति उसमें उपस्थित नहीं होता, वह क़ौम का दुश्मन समझा जाता है, उसका घर जला दिया जाता है, सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जाती है और बतौर 'नागा' के उसे ४० रुपये जिर्गा की सेवा में भेंट करने पड़ते हैं। किसी विशेष 'नागा' की सज़ा देश-निकाला तक हो सकती है।

व्यभिचार की सज़ा हमारे यहाँ बड़ी कड़ी है। पहले वह पुरुष, जो किसी स्त्री की आबरू पर हाथ डालता है, मौत के घाट उतार दिया जाता है। इसके बाद व्यभिचारिणी स्त्री का काम तमाम करने की बारी आती है।

शरणागत की रक्षा की प्रथा भी हमारे यहाँ काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। इसका नाम है 'नानावातई'।

इसके बाद मैं मियाँ सैद रसूल से छुट्टी लेकर शहर की तरफ़ चल पड़ा।

× × ×

पठान-प्रदेश को संगीतमय बनाने में सबसे बड़ा हाथ 'डूम'[1] लोगों का है। ये लोग पठानों के जातीय गायक हैं। इनके तराने सरूर का साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। जो कोई भी इन्हें सुनता है, आत्म विस्मृत और मन्त्र-मुग्ध हुए बिना नहीं रहता। जब 'डूम' गायक की उँगलियाँ 'रुबाब' पर चलने लगती हैं, तो ऐसा जान पड़ता है, मानों संगीत की देवी निद्रा त्याग रही है और अब उठा ही चाहती है। गीतों के स्वप्न लोक में आनन्द के कपाट खुलते भी देर नहीं लगती। यदि गायक ज़रा सिद्धहस्त है, तो कहना ही क्या!—तब तो राग का आलाप एक ज़िन्दा चीज़ हो उठता है।

ग्राम के प्रत्येक विभाग में एक ऐसा स्थान रहता है, जहाँ अकसर संगीत की महफ़िलें जुटती हैं। हर उम्र के पुरुष बड़े चाव से इन महफ़िलों में शामिल होते हैं। इस स्थान का पठान नाम है—'हुजरा'। कितना ही छोटा ग्राम क्यों न हो, वहाँ दो तीन 'हुजरे' अवश्य मिलेंगे। ऐसा ग्राम शायद एक भी न मिले, जहाँ के निवासी इतने अभागे हों कि उनके यहाँ एक भी 'हुजरा' न हो। अच्छे ख़ासे क़द का एक कच्चा कोठा, जिसमें एक द्वार रहता है; कोठे के सामने खुला आँगन, जिसमें शहतूत इत्यादि के वृक्ष भी देखे जा सकते हैं—बस, यही है 'हुजरे' का साधारण नक़शा। कोठे में और वृक्षों के नीचे आप कितनी ही चारपाइयाँ[2] देखेंगे। कुरसी-मेज़ का यहाँ क्या काम? इन्हीं चारपाइयों पर बैठकर लोग महफ़िल सजाते हैं। आवश्यकतानुसार कभी कभी लोग भूमि पर बैठने में ही महफ़िल की शान समझते हैं।

'हुजरों' की एक विशेषता और भी है। हर प्रकार के परिचित या अपरिचित अतिथियों के लिए 'हुजरों' के द्वार खुले रहते हैं। पठान महमाँनवाज़ी के

१ संगीत के अलावा 'डूम' लोग हज्जाम का काम भी किया करते हैं; फोड़ों की साधारण चीर-फाड़—जर्राही—इत्यादि सरंजाम देना भी इनका पुश्तैनी धन्धा है। —लेखक

२ रात के समय ग्राम के प्रत्येक विभाग के अविवाहित लड़के अपने-अपने हुजरों में आकर इन चारपाइयों पर नींद के मजे लेते हैं। पाँच-छै वर्ष की उमर के बाद ही लड़के हुजरों में सोना शुरू कर देते हैं।

तो ये 'हुजरे' जीते-जागते नमूने हैं। ग्राम का 'मलिक' (मुखिया) जी-जान से अतिथियों का स्वागत करता है। हर प्रकार की ख़ातिर-तवाज़ा के साथ-साथ संगीत-सुधा-द्वारा भी इन अतिथियों का मनोरंजन किया जाता है।

संध्या के पश्चात् भोजन आदि से निबट कर लोग प्रायः रोज़ ही 'हुजरों' में आ जुटते हैं। दिन-भर के परिश्रम के बाद थके माँदे ग्रामवासी यहाँ दिल का आराम पाते हैं। उन की रूह पर लदी हुई थकावट यहाँ आकर न-जाने कहाँ भाग जाती है। मलिन-से-मलिन और खिन्न-से-खिन्न हृदय भी 'हुजरों' के गीत-सम्मेलनों में आकर आनन्द की सुनहरी दुनिया में पहुँच जाते हैं। गायक और श्रोता दोनों की रूहें सरूर से ओत-प्रोत हो उठती हैं। जातीय उत्सवों तथा त्योहारों के दिनों में तो 'हुजरों' के गीत-सम्मेलन अपने पूरे जोबन पर होते हैं। 'डूम' गायक अकसर कवि सुलभ प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं, और समय समय पर नवीन गीतों की सृष्टि भी किया करते हैं। प्राचीन काल से चले आने वाले ग्राम गीतों के साथ साथ ही 'डूम' कवियों की ये नवीन रचनाएँ भी समय-क्रम से पुरानी होती जाती हैं। आजकल 'डूम' गायकों की उतनी कदर नहीं रही, जितनी पुराने दिनों में रह चुकी है। उन दिनों कविता प्रेमी 'ख़ान'[1] अपने जातीय गायकों का बहुत सम्मान करते थे और सिद्धहस्त गायक कवियों को राजकवि के पद से भी विभूषित करते थे।

संगीत के साथ साथ ही पठान-प्रदेश में नृत्य की भी प्रचुरता है। संगीत की भाँति नृत्य कला के पालन-पोषण तथा प्रचार का श्रेय भी 'डूम' जाति को ही है। विशेष-विशेष 'डूम' परिवार अपने लड़कों को बाल्य-काल से ही नृत्य-कला के विद्यार्थी बनने की प्रेरणा किया करते हैं। ये नर्तक सर पर दस दस बारह-बारह इंच लम्बे केश रखते हैं, और स्त्री-भेष में अपनी कला का प्रदर्शन किया करते हैं। स्वयं पठान जन साधारण में ये नर्तक 'लख्तई' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'लख्तई' शब्द कदाचित 'लख्ता' शब्द से बना है। 'लख्ता' का अर्थ होता है वृक्ष की टहनी। नृत्य मग्न 'लख्तइ' की तुलना अजब अन्दाज़ से हिलती जुलती लचकती टहनी से की गई है। प्रायः बीस-बाईस वर्ष की आयु तक ही 'लख्तई' नर्तक इस कला क्षेत्र में क्रियात्मक भाग लेते हैं। इसके बाद वे इससे विदा लेकर केवल संगीत के स्निग्ध अंचल में ही अपना जीवन बिताते हैं। इस प्रकार सिद्धहस्त नर्तक समय-क्रम से अवकाश ग्रहण करते जाते हैं, और नये रंगरूट भरती होते रहते हैं। यहाँ यह जान लेना अप्रासंगिक न होगा कि

१ जागीरदार या सरदार का पठान नाम 'ख़ान' है।

'लख्तई' नर्तकों के हेड-क्वार्टर नगरों में हैं। पेशावर में 'डब्गरी गेट' के भीतर कितने ही 'लख्तई' निवास करते हैं। यहाँ से वे आवश्यकतानुसार जातीय त्योहारों तथा खुशी के अन्य अवसरों पर ग्रामों में जाकर अपनी कला से जन-साधारण के मनोरंजन की सामग्री पेश किया करते हैं। 'बन्नू' के समीपवर्ती स्त्री-पुरुष 'लख्तई' के स्थान पर 'नाचा' शब्द का प्रयोग किया करते हैं। 'नाचा' का सीधा अर्थ 'नाचने वाला' निकलता है।

'लख्तई' नृत्य में केवल कुरुचिपूर्ण हाव-भाव का ही चित्रण रहता हो, सो बात नहीं। शृंगार-रसमयी अंग-भंगी के साथ-साथ ही इस नृत्य के रचना-कौशल में युद्ध-प्रेमी सिपाही की विजय-दुन्दुभी की लय तथा तालका दिग्दर्शन भी रहता है। इससे इस बात का अनुमान लगाना कठिन नहीं कि पठान-प्रदेश के सुनहले अतीत में घमासान युद्धों के पश्चात् मनाये जाने वाले विजय-उत्सवों में 'डूम' गायकों की संगीत-सुधा के साथ साथ 'लखतई' नर्तकों की नृत्य-कला भी विजेताओं के सम्मान में आमन्त्रित होती होगी, और तभी से 'लखतई' नृत्य में सिपाही-हृदय के हस्ताक्षरों का समावेश हुआ होगा।

'लख्तई' नर्तकों के अलावा ग्रामों के उत्सवों तथा त्योहारों में नगर-निवासिनी नर्तकियों का भी अपना ही स्थान है। धनी-मानी ग्रामवासी उन्हें निमन्त्रित करके ले जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नर्तकियों की स्त्री-सुलभ कोमलता-सम्पन्न कला के सम्मुख 'लखतई' नर्तकों का रंग फीका पड़ जाता है; पर पठान-प्रदेश में ऐसे प्राणी लाखों की संख्या में मिलेंगे, जिन्हें 'लख्तई' नृत्य का चसका पड़ गया है, और जो नर्तकियों की स्निग्ध अंग भंगी की ज़रा परवा न करते हुए सदैव 'लख्तई' नर्तकों पर ही जी-जान से मुग्ध रहते हैं। पठानों के यहाँ मूक नृत्य को बिलकुल स्थान नहीं दिया जाता, अतः प्रत्येक नृत्य के साथ गीतों का क्रम चलता रहता है।

जातीय सन्तों के मक़बरे तीर्थ धाम माने जाते हैं। स्वयं पठान स्त्री-पुरुष इन्हें 'ज़ियारतें' कहा करते हैं। सुनिश्चित तिथियों पर विशेष विशेष ज़ियारतें संगीतमय हो उठती हैं। कितनी ही ज़ियारतों के वार्षिक मेले तो इतने लोकप्रिय हो गये हैं कि वहाँ केवल आसपास के ग्रामवासी ही एकत्रित नहीं होते, वरन् सुदूर ग्रामों के लोग भी बड़ी श्रद्धा और उत्सुकता से उन मेलों में आते हैं। यही वे अवसर हैं, जब जन-साधारण का जातीय जीवन इन्द्रधनुष के समान रंगीन और नयनाभिराम प्रतीत होता है। घुमक्कड़ गवैयों, सिद्धहस्त 'डूम' गायकों और 'लख्तई' नर्तकों की बन आती है। कहीं-कहीं नर्तकियों की

कला-प्रदर्शनी के लिए भी स्थान रहता है। काव्य, संगीत और नृत्य की मेहरबानी से ज़ियारतों के मेले पूरे आनन्द-धाम ही बन जाते हैं।

आज़ाद इलाके में ज़ियारतों के लिए प्रायः पर्वत-शिखरों पर सड़क के किनारे का स्थान ही अधिक उपयुक्त समझा जाता है। स्थानीय वृक्षों के झुरमुट के नीचे बनी हुई क़ब्र श्वेत पत्थर की कंकड़ियों से सुशोभित रहती है। वृक्षों की टहनियों के साथ रंगीन वस्त्रों के छोटे-छोटे चीथड़े बँधे नज़र आते हैं। ये तीर्थ-यात्रियों की सौगन्धों के चिह्न हैं। इन्हें वे मक़बरे के सन्त के सम्मुख विशेष-विशेष व्रत लेते समय अपनी सौगन्ध की परिपक्वता की निशानी के रूप में बाँध देते हैं। वैसे तो नित्यप्रति ही लोग इन ज़ियारतों पर आते-जाते रहते हैं; पर मेलों के संगीतमय अवसरों पर तो बेशुमार जनता उपस्थित होती है।

पठानों के जातीय उत्सवों और त्योहारों में 'ईद' का अपना ही स्थान है। इसे इधर 'अख़्तर' कहते हैं। आनन्द-समीर के जीवनप्रद झोंकों का स्पर्श करते ही इन दिनों पठान-हृदय गुलाब की भाँति प्रस्फुटित हो उठता है। जनसाधारण का समस्त जीवन ईद के स्वागत में मधुमय गीत का रूप धारण कर लेता है। गायकों की रूह रुबाब के श्रुति मधुर स्वरों में गूँज उठती है। नर्तकों तथा नर्तकियों की कला पर नवीन निखार आता है। कवियों को नये-नये तराने सूझते हैं। कहीं कहीं सामूहिक संगीत का विराट् रूप भी अपनी बहार दिखाता है। पुरुषों की महफ़िलें अलग जमती हैं, स्त्रियों की अलग। पठान-प्रदेश के उस भाग में, जहाँ ख़टक-जाति बसी हुई है, इन दिनों खड्ग-नृत्य की प्रदर्शनी भी की जाती है।

'शाबल' और 'रजब' के महीनों का संगीत अपनी मिसाल आप होता है। ब्याह-शादी रचाने के लिए इनसे बढ़कर और कोई शुभ दिन नहीं माने जाते। 'प्रेम विवाह' यहाँ नहीं के बराबर ही समझना चाहिए। 'मँगनी' या 'सगाई' के लिए पठान स्त्री-पुरुष 'कोझादान' शब्द का प्रयोग करते हैं। जो पुरुष वर-पक्ष की ओर से कन्या के पिता से सब बात ठीक-ठाक करता है, वह 'रैबर' कहलाता है। निश्चित तिथि पर वर तथा उसका पिता कन्या के घर जाते हैं। वर का पिता कन्या के पिता को कुछ धन, जो 'थाल' या 'मोहर' के नाम से प्रसिद्ध है, भेंट करता है। कन्या का पिता घी, शक्कर और चावल की परिमित मात्रा की माँग भी पेश करता है। इसे वह विवाह के अवसर पर बरात की ख़ातिर-तवाज़ा में ख़र्च करता है, और इसका भार वर के पिता को ही उठाना पड़ता है। यदि सब सौदा तय हो जाय, तो उसी वक्त 'सगाई' की रस्म पूरी कर दी जाती है। विवाह की निश्चित तिथि से कई-कई सप्ताह पूर्व ही

वर के घर में स्त्रियों के गीत-सम्मेलनों की बैठकें आरम्भ हो जाती हैं; पर कन्या के घर में ऐसा नहीं होता। कन्या के आगामी विछोह के ध्यानमात्र से कन्या-पक्ष की स्त्रियों के हृदयों में उदासी छा जाती है, अतः उनके यहाँ विवाह-तिथि के पहले के दिन गीतहीन ही रहते हैं। हाँ, जब बरात आ पहुंचती है, तो कन्या-पक्ष की स्त्रियाँ भी मूक नहीं रह सकतीं, और बरातियों को सम्बोधन करते हुए अपना स्वागत-गान आरम्भ करती हैं। इसके अलावा विवाह के विभिन्न कृत्यों के साथ भी उनके गीत विवाह-उत्सव की रौनक को दोबाला किया करते हैं।

क्या ख़ूब होता है उस शुभ अवसर का चित्रपट, जब दुलहिन के सुहाग-स्नान की बारी आती है। दुलहिन की सखियाँ स्वर-में स्वर मिलाकर गाती हैं—आशीर्वादात्मक अनुभूतियाँ इन गीतों की ताना बाना होती हैं, साथ-ही-साथ सखि-प्रेम की मीनाकारी भी रहती है। सम्मिलित गान के साथ-साथ सखियाँ दुलहिन के प्रत्येक अंग पर सुगन्धित उबटन मलती हैं। केवल सखियों का ही नहीं, स्वयं दुलहिन का भी यह विश्वास होता है कि इस सुहाग-स्नान के पश्चात् उसका सौन्दर्य जन्नती हूर की भाँति निखर आयेगा। स्नान के बाद दुलहिन के केश सँवारने की बारी आती है। यह कार्य दुलहिन की सात गिनी-चुनी रिश्तेदार स्त्रियों के सुपुर्द किया जाता है। पठानों की अविवाहिता कन्याएँ अपने माथे पर दो-तीन इंच लम्बी एक जुल्फ रखा करती हैं, इसको इधर 'उरबल' कहते हैं। इसे हम कन्याओं के कुँवारेपन का चिह्न कह सकते हैं। सुहाग-स्नान के बाद दुलहिन के केशों की सात मींढ़ियाँ गूँथी जाती हैं—एक-एक स्त्री एक-एक मींढ़ी गूँथती है। उरबल भी मींढ़ियों में शामिल हो जाता है। इसके बाद उरबल के बाल भी अपनी पूरी लम्बाई प्राप्त करते रहते हैं। केश-विन्यास के बाद दुलहिन को नवीन वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया जाता है। पठान-प्रदेश के उन भागों में जिन्हें प्रकृति ने जी भरकर सँवारा है, दुलहिन के शृंगार में खिले हुए फूलों का प्रयोग भी किया जाता है।

स्त्रियों का सम्मिलित गान विवाह-उत्सव की रूप-रेखा को एक सवर्गीय छटा प्रदान कर देता है। बरात के साथ बैंड बाजा बजता आता है। वे स्त्रियाँ भी, जिनके दाँत बुढ़ापे की नज़र हो गये हैं और जिनकी वाणी का समस्त लालित्य भी समय ने छीन लिया है, दुलहे के स्वागत में गीत गाने के लिए उत्सुक हो उठती हैं। हर किसी की अभिलाषा यही रहती है कि वह संगीत-राज्य की पटरानी बन जाय। आख़िर निश्चित समय पर वर तथा कन्या को विवाह-सूत्र में बाँध दिया जाता है। इस अवसर पर पठानों के यहाँ हवा में राइफ़ल की गोलियाँ छोड़ी जाती हैं। रमणियों के आशीर्वादी गीतों के साथ-साथ गरजती हुई राइफ़लें भी अपने 'धाँय-धाँय' संगीत से वर-वधू को आशीर्वाद देती हैं!

पठान-प्रदेश की मर्वत-जाति में यह प्रथा है कि विवाह का आख़िरी दिन दुलहिन अपनी सखियों के साथ मिलकर झूला झूलने में गुज़ारे, इसीलिए वे इसे 'पेंगावज़'* (झूला झूलने का दिन) कहते हैं। आख़िर वह घड़ी भी आ उपस्थित होती है, जब दुलहिन को बरात के साथ अपने नये घर की ओर प्रस्थान करना पड़ता है। दुलहिन की सखियों के गान में करुण रस का संचार हो जाता है। बरात पहुँचने पर वर के घर में फिर गीतों की दुनिया में नया यौवन आ जाता है। एक सप्ताह के क़रीब, जब तक दुलहिन वहाँ रहती है, गीत गाने की प्रथा है। विवाह के दिनों में स्त्रियाँ एक विशेष प्रकार के नृत्य-द्वारा अपना मन बहलाती हैं। इसे यूसफ़ज़ई इलाक़े में 'अताण' कहते हैं, 'मर्वत' लोग इसे 'ड्रंस' कहते हैं और 'वज़ीर' लोगों के यहाँ यह 'मंदर' कहलाता है। चक्र में नाचना इसकी सब से बड़ी विशेषता है। इस नृत्य के साथ-साथ विशेष गीतों का चलन है।

विवाहित जीवन में ऐसी शुभ घड़ी भी आती है, जब 'दुलहा' पिता बन जाता है और दुलहिन माता, और दोनों के बीच में एक तीसरा जीव आ विराजता है। यह जीव है वह भोला भाला शिशु, जो एक अतिथि के रूप में पधारता है और माता-पिता के प्रेम-प्रासाद पर विजय प्राप्त करके वहीं रम जाता है। लड़की के जन्म पर पठान प्रदेश में खुशी के बाजे नहीं बजते ; पर लड़के के जन्म पर सोया हुआ संगीत जाग उठता है। स्त्रियों के श्रुति-मधुर स्वर, चाव-भरे गीत गा-गाकर नवीन अतिथि का स्वागत करते हैं। 'डूम' गायक भी आते हैं और रुबाब पर अपनी आत्मा की मधुमय अनुभूतियों का गान अलापते हैं। गली-मुहल्ले के युवक इस शुभ घड़ी पर हवा में राइफ़लों को दाग कर अपने सैनिक-सुलभ आनन्द का परिचय देते हुए नवीन शिशु का स्वागत करते हैं, जो बड़ा होकर युद्ध-क्षेत्र में राइफ़ल चला कर मौत से लोहा लिया करेगा। पठान स्त्रियों का विश्वास है कि उनका सम्मिलित गान, 'डूम' गायकों का संगीत और दनदनाती हुई गोलियों की प्रलयकारी 'धाँय धाँय' नवजात शिशु के पास आनेवाली सभी कुदृष्टियों को दूर भगाने की शक्ति रखती हैं। यदि शिशु का जन्म प्रभात के समय हो, तो यह उसके आनन्दपूर्ण और भाग्यशाली भविष्य का सूचक समझा जाता है। आँधी-अन्धड़ के समय जन्मा हुआ शिशु, पठान लोक-वाणी के अनुसार, प्रायः स्वास्थ्य-हीन और बदनसीब होता है। शिशु-जन्म

* यूसफ़ज़ई इलाक़े में झूले के लिए 'पेंगा' के बजाय 'टाल' शब्द का प्रयोग होता है।

के थोड़ी देर बाद मुल्ला आकर उसके कान में 'बाँग' का आलाप करता है। इस कृत्य के फलस्वरूप लड़के का पिता उसे एक रुपया भेंट करता है। यदि लड़के का पिता धनी-मानी है, तो वह मुल्ला को बीस रुपये तक दे सकता है। शिशु के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य मे स्त्रियाँ कई कई सप्ताह तक गीत गाया करती हैं; पर शिशु की माता को जातीय प्रथा के अनुसार चालीस रोज़ तक एक पृथक् कोठे में रहना पड़ता है, जहाँ हर-कोई नहीं जा सकता। इसके बाद वह नहा-धोकर शुद्ध हो जाती है।

'सर कलई' उस उत्सव का नाम है, जिसमें शिशु का पहली बार 'मुंडन' होता है। शिशु के तीसरे और छठे वर्ष के बीच, जब कभी भी माता-पिता चाहें, इसे मना सकते हैं। इस अवसर पर संगीत को प्रचुर स्थान मिलता है। शिशु को माता-पिता और अन्य बन्धु-बान्धवों के सामने घर के आँगन में बिठाकर ग्राम का हज्जाम, जो जाति का डूम होता है, उसका मुंडन करता है। प्रायः इस कृत्य के लिए ताज़े पानी से शिशु के केश भिगोना और फिर नवीन उस्तरे से हजामत करना आवश्यक समझा जाता है। धनी माता पिता के बालकों के मुंडन-संस्कार में हज्जाम चाँदी के प्याले में रखे हुए गुलाब-जल से बालकों के केश भिगोता है। साधारण दशा में हज्जाम को दो रुपये दिये जाते हैं; पर धनी-मानी माता-पिता इससे अधिक देते हैं।

'सुन्नत'-उत्सव की अपनी ही बहार होती है। रिश्तेदार स्त्री-पुरुषों को निमन्त्रण भेजे जाते हैं। इस अवसर पर एक सहभोज भी होता है, जिसमें ग्राम के लोग भी भाग लेते हैं। सहभोज के बाद जाते समय प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भेंट, जो 'निन्दराह' कहलाती है, पेश करता है।

जीवन-संगीत के पश्चात् मृत्यु के करुण गान का स्थान है। इसे कौन रोक सकता है? मर्सिये के शोक-गान का पठान नाम है 'वीर'। जब सुनहला पक्षी उड़ जाता है और पिंजरा ख़ाली पड़ा रह जाता है, उस वक्त समस्त वातावरण 'वीर' के करुण स्वरों से उदास हो उठता है। जब शव आँगन में रख दिया जाता है, तो स्त्रियाँ सम्मिलित स्वरों से शोक-गान करती हैं। बड़ी-बड़ी बूढ़ी और तजरुबेकार आँखें भी सजल हो उठती हैं। स्त्रियों की मुखिया इस गान में अगवाई करती है और उसके पीछे सभी स्त्रियाँ सम्मिलित स्वर से शोक-गान की तुकों का आलाप करती हैं। कभी-कभी स्त्रियाँ दो भागों में बँट जाती हैं, और एक विशेष प्रकार का शोक-गान गाती हैं। शव को नहलाने के बाद पुरुष शव का जुलूस क़ब्रस्तान की ओर ले जाते हैं, और शोक-गान-मग्ना स्त्रियाँ घर पर ही रह जाती हैं।

३

गीत के लिए पठानों का जातीय शब्द है 'सन्दरा'। इस चिरनवीन शब्द के प्रति पठानों के हृदय में विशेष श्रद्धा दीख पड़ती है। इसका उच्चारण तथा श्रवण करते ही पठान जन-साधारण की रूह नाच उठती है; 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के इस चिरमधुर सन्देशवाहक के स्पर्शमात्र से ही जन साधारण की कवि-सुलभ भावनाओं में एक नई रवानी-सी आ जाती है; सरसता के इस 'मेघदूत' पर पठान गवैये गर्व करते फूले नहीं समाते।

गीत-निर्माण तथा उनके प्रचार की एक-मात्र आधार-शिला है जन-साधारण की आनन्दवृत्ति! इन वीर-रस-पूर्ण तरानों के अलावा, जिनका आलाप सुनने के लिए पठान-रण-चंडी सदैव ही उत्सुक रहती है, पठानों में अन्य विषयों के गीतों की भी कमी नहीं है। ऐसे लाखों गीत मिलते हैं, जिनका निर्माण अनेक शताब्दियों से होता चला आ रहा है। इन परम्परागत गीतों की मौलिक रूप-रेखा में प्रतिभा-सम्पन्न स्त्री पुरुषों-द्वारा हेर-फेर भी होते रहते हैं; फिर भी आज के अन्वेषक को किसी-किसी पुराने गीत में पठान-काव्य के प्रथम युग की रचनाओं के भग्नावशेष दृष्टिगोचर हो सकते हैं। पठानों के परम्परागत गीत-कोष से हम समस्त पठान-राष्ट्र की कल्पना तथा अनुभूति का सजीव परिचय पा सकते हैं—प्रत्येक गीत की एक-एक कड़ी पठान-रूह की आवाज़ है।

'अपने जातीय गवैयों की जीवनप्रद कला का सत्संग प्राप्त करने के लिए प्रायः शत-प्रतिशत पठान उत्सुक रहा करते हैं। जब पठान गवैयों की अँगुलियाँ रुबाब के तारों को छेड़ती हैं, तो एक ऐसी मधुमय ध्वनि निकलती है, जिस पर किसी भी पठान का दिल घड़ी-भर के लिए मुग्ध हो उठता है। यह इसी संगीत की मेहरबानी है कि पठान जन साधारण की आत्मा अविराम मार-काट और जंगी जीवन में रहते हुए भी मरकर पत्थर नहीं हुई है।

कितने ही गवैये प्रकृत कवि भी होते हैं, और समय-समय पर अपनी नवीन रचनाएँ सुना-सुनाकर देश के कविता-प्रेमी हृदयों को तृप्त किया करते हैं। गीत-निर्माण के लिए उन्हें अधिकतर अपने देश के दैनिक जीवन से ही प्रेरणा प्राप्त हुआ करती है! कोई-कोई गवैया पद-लालित्य तथा शब्द-माधुर्य का विशेष पारखी होता है। किसी भी अर्थ-पूर्ण घटना को गीत बद्ध कर देना और इस प्रकार अपने रचना-सौन्दर्य को गौरवान्वित कर देना कुशल गवैयों के बाएँ हाथ का खेल होता है।

गीत-निर्माण के लिए पठान गवैयों को कोई ख़ास मुहूर्त देखना पड़ता हो, सो बात नहीं; इसके लिए हर एक समय उपयुक्त समझा जा सकता है। ग्रामीण

'हुजरों' में जुटने वाली संगीत-महफ़िलें तो इस कार्य के लिए प्रयोग में लाई ही जाती हैं ; पर गीत-निर्माण तथा प्रकाशन का सिलसिला अन्य अवसरों पर भी बराबर जारी रहता है ! 'हुजरों' में मनाये जानेवाले संगीत-सम्मेलन तो गीतों के अखाड़े होते ही हैं ; पर निपुण गवैयों की प्रतिभा-प्रदर्शिनी तो अपनी मिसाल आप ही होती है । इन अवसरों पर नये रंगरूट भी भरती होते रहते हैं, जिनको रुबाब के श्रुति-मधुर स्वर में तल्लीन होते देर नहीं लगती । रसज्ञ गवैयों की देख-रेख में नये रंगरूटों की शिक्षा का क्रम भी चलता रहता है । जिन्हें कभी पठानों के ग्रामीण हुजरों में रात काटने के बहाने वहाँ के संगीत-सम्मेलनों का रसास्वादन करने का अवसर मिला है, उन्हें इस बात का अन्दाज़ा लगाने में ज़रा कठिनाई न होगी कि किस तरह कविता की देवी पठानों के क़ौमी गवैयों से 'लुकन छिप्पन' खेलती है, और किस तरह इन गवैयों की आत्मा अपने वतन के लोकप्रिय ग्राम-गीतों की परिक्रमा किया करती है । सचमुच इन गवैयों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व निजी विशेषता लिये रहता है ; ख़ासकर निपुण गवैयों की सुरुचिपूर्ण कलात्मक परख तो उनके भाव-प्रदर्शन में चार चाँद लगा देती है ।

हुजरों में, संगीत सम्मेलनों में केवल पुरुष ही-पुरुष एकत्रित होते हैं । प्रत्येक उम्र के दिल इसी ओर खिंचे चले आते हैं । उठती जवानीवालों के बीच-बीच में ऐसे मुख-मंडल भी देखे जा सकते हैं, जिन पर समय ने झुर्रियाँ डाल दी हैं । गायन तथा वादन के साथ-साथ हँसी-दिल्लगी की पुट भी रहती है । इन सम्मेलनों के लिए समय की अवधि भी किसी सुनिश्चित नियम के अधीन नहीं रहती । आनन्द की अभिव्यक्ति जितनी भी शानदार होती है, उसी के अनुपात से समय की अवधि बढ़ती रहती है । अन्त में जनता की सम्मिलित अनुमति के द्वारा ही काफ़ी रात बीतने पर ये सम्मेलन विसर्जित होते हैं ।

क्या हुआ, यदि स्त्रियाँ हुजरों के संगीत-सम्मेलनों में शामिल नहीं हो सकतीं। इनकी महफ़िलें अलग जमती हैं । गली-मुहल्ले में कोई एक घर निश्चित कर लिया जाता है, जहाँ हर उम्र की स्त्रियों का जमघट लग जाता है । क़ौमी गवैयों की स्त्रियाँ इन ज़नानी महफ़िलों को संगीतमय बनाने में सहायक होती हैं । कभी-कभी सभी स्त्रियाँ स्वर-में-स्वर मिलाकर सम्मिलित गान भी किया करती हैं ।

पठानों की जातीय भाषा है पश्तो*, अतः यही उनके ग्राम-गीतों की भाषा भी

*** 'पश्तो' शब्द का शुद्ध पठान उच्चारण 'पुख़्तो' है । पश्तो-भाषी नर-नारियों की संख्या उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में १२,६०,४८४ (१९३१ की**

है। पश्तो ग्राम-गीतों के साहित्यिक विकास का सिंहावलोकन करने वाला व्यक्ति अपने सम्मुख विभिन्न प्रकार के गीत पाता है। इन्हें हम पृथक्-पृथक् काल तथा शैलियों के प्रतिनिधि मान सकते हैं।

इन गीतों के दरबार में प्रथम स्थान 'लंडई' का है। 'लंडई' का शब्दार्थ है संक्षिप्त। प्रत्येक 'लंडई' गीत दो-दो पंक्तियों के चन्द एक बेजोड़ टुकड़ों का संग्रह होता है। प्रत्येक टुकड़ा 'मिसरा' या 'टप्पा' कहलाता है, जो न तुकान्तक होता है और न इसकी दोनों पंक्तियों की मात्राएँ ही एक-सी रहती हैं—

१

च स्परले तीरशी ब्या बराशी
ज़वानई च तीरशी ब्या न राज़ी मइना

२

कलम द-स्तो काग़ज़ द-रिंनो
यो सो मिसरे पविनी स्ते यार ता ले गमा

३

वतन दे स्ता त पक्के ओसा
ज़ द मरगै प बूटो श्पे दरताकोमा

४

द डज़ औ डुज़ दे ज़ामन कीगी
ज़ द मोज़ी प कोर के ताँदा उचाशुमा

५

द जिने द्रे सीज़ुना मज़ै कड़ी
द स्त तावीज़ स्पिनै पंजै लंड कदमुना

मर्दुमशुमारी के मुताबिक) है और आज़ाद इलाक़े में २२,१२,८३७ (सीमा-प्रान्तीय सरकार के अन्दाज़ के अनुसार)। अफ़ग़ानिस्तान में भी बहुसंख्या पश्तो-भाषियों की ही है। बादशाह अमानुल्लाख़ाँ की मातृ-भाषा भी फ़ारसी न होकर पश्तो ही है। अपने राज-काल में वे फ़ारसी के स्थान पर पश्तो को ही राज-भाषा बनाने की फ़िक्र में थे; पर अभागी पश्तो के भाग्य में ऐसा बदा न था। अफ़ग़ानिस्तान में अब भी कन्धार के कितने ही साहित्य-सेवी पश्तो को यह मान दिलवाने में पूर्णतया जुटे हुए हैं, और पश्तो-साहित्य में विकास-काल को आमन्त्रित करते हुए वे कितने ही पत्रों का सम्पादन भी कर रहे हैं। —ले०

६

वार दे तेर शो ज्यड़ा गुला
ब्या ब बौरा व फ़रियाद शौ तंदे बोवई

७

यार मे द समे ज़ द स्वात यिम
समा दी वरान शी चे दुयाड़ा स्वात लजुना

१

'वसन्तऋतु चली जाती है और फिर लौट आती है।
(पर) हे सखी, गई-गुज़री जवानी फिर कभी नहीं लौटती !

२

स्वर्ण-निर्मित लेखनी है और रुपहला कागज़ ।
अपने प्रीतम के प्रति मैं कुछ गीत भेज रही हूँ, जो मेरे रक्त से लथपथ हैं।

३

यह तेरा अपना वतन है, ख़ुदा करे, तू इसमें आबाद रहे।
मैं तो एक चिड़िया (मुसाफ़िर) हूँ, और तेरी स्मृति में वृक्षों पर ही रातें काटती हूँ ।

४

गोलियाँ चलने की आवाजें आ रही हैं, कई घरों में पुत्र जन्मे हैं ।
मैं भी एक फलदार झाड़ी सिद्ध हो सकती थी ; पर अपने इस मौजी पति के घर में आकर मैं बिलकुल ही सूख गई ।

५

लड़की की तीन वस्तुएँ नयनाभिराम होती हैं--
उसके गले का स्वर्ण-निर्मित ''ताबीज़'' गोरी-गोरी पिंडलियाँ और छोटे-छोटे क़दमों की चाल ।

६

अरे बसन्ती पुष्प ! तेरी बारी गुज़र गई ।
अब भ्रमर फ़रियाद करेगा और पछतायेगा ।

७

मेरा प्रीतम मैदानी प्रदेश का रहने वाला है और मैं हूँ 'स्वात'-वासिनी।
ईश्वर करे, मैदानी प्रदेश उजड़ जाय, ताकि हम दोनों स्वात में चले जायँ ।

'लंडई' गीत के प्रत्येक 'टप्पे' या 'मिसरे' की पहली पंक्ति दूसरी पंक्ति से

छोटी रहती है; संगीत की स्वदेशज प्रथा के अनुसार 'लंडई' गीत के गायक जब भी इसका अलाप करते हैं, पहली पंक्ति विशेषतया लोचदार हो उठती है, और श्रोताओं को यह पता ही नहीं चलता कि पहली पंक्ति दूसरी पंक्ति से छोटी है।

'लंडई' गीतों की खेती अनिश्चित तिथियों की उपज है। बिलकुल ही गुमनाम हैं इनके रचयितागण। इन गीतों के विभिन्न विषयों में पठान व्यक्तित्व की प्रायः सभी मनोवृत्तियों का समावेश हो गया है। इन गीतों की रचना ऐसे अत्युक्तिपूर्ण भाव-चित्रण से एकदम आज़ाद है, जिसे समझने में पठान दिमाग़ को पसीना आ जाय। इस गीत-कोष को छन्दवेत्ता स्त्री-पुरुषों की मेहनत का फल न कहकर, जनसाधारण का रचना संग्रह ही मानना चाहिए। 'लंडई' गीतों के कवि न तारों-भरे आकाश के कवि हैं, न किसी महासागर की ऐसी अथाह गहराइयों के, जिनका उनके जीवन से कोई सीधा सम्बन्ध ही न हो। उनकी प्रतिभा तो देश के साधारण जीवन का गान करने के लिए ही मैदान में आती है। 'लंडई'-रचयिताओं की प्रतिभा उनके अपने घर की चीज़ है—कहीं से उधार ली हुई नहीं, और इस प्रतिभा की चिर-सरस धाराएँ अपनी जातीय काव्य फुलवाड़ी का शृंगार करने के लिए ही उत्सर्ग हुआ करती हैं।

यह कहना ठीक न होगा कि 'लंडई'-काल के कवियों की शत-प्रतिशत रचनाएँ उच्चकोटि में शुमार करने योग्य हैं। पठान-साहित्य के प्रथम युग के इन गीतों की तुलना हम स्काटलैण्ड के आरम्भिक गीतों से कर सकते हैं। स्काटलैण्ड के एक साहित्य-सेवी का कथन है—"अगरचे स्काटलैण्डवासी कृषक-समाज के जीवन में काव्य के बीज प्रचुरता से बखेर दिये गये थे; पर इनकी उपज नाशपाती और सेब की भाँति ही हुई—उत्पन्न हुई एक हज़ार वस्तुओं में से नौ सौ पचास ऐसी थीं, जो एकदम तीसरे दर्जे की निकलीं, पैंतालीस या इससे कुछ अधिक कामचलाऊ सिद्ध हुईं, और बाक़ी वस्तुएँ एकदम अव्वल दर्जे की हैं।" पठान-प्रदेश के 'लंडई' गीतों की पैदावार भी बहुत-कुछ स्काटलैंड के आरम्भिक युग के गीतों की भाँति ही हुई।

उत्तर-'लंडई'-काल की गीत-शैलियों का सिंहावलोकन करते हुए इस बात का पता चलते देर नहीं लगती कि 'लंडई' गीत की रचना बाद की अन्य सभी शैलियों के गीतों से आसान है। सचमुच 'लंडई'-रचना इतनी सहज है कि ज़रा-सी काव्यमयी रुचिवाला स्त्री-पुरुष भी इसमें अपनी कल्पना तथा अनुभूति का गान कर सकता है

सम्भवतः 'लंडई'-काल के आरम्भ में किसी भी 'लंडई' गीत के लिए

कम-से-कम तीन 'टप्पे' या 'मिसरे' होने आवश्यक समझे जाते थे, और इस गीत की लम्बाई की तो कोई सीमा ही न थी—चालीस या इससे भी अधिक मिसरे एक ही गीत में समा सकते थे। ये सब मिसरे एक दूसरे से बिलकुल असम्बद्ध रहते थे, यह बात 'लंडई' गीत के उपर्युक्त नमूने से प्रत्यक्ष है। पर धीरे-धीरे जनसाधारण की काव्य सम्बन्धी रुचि के साहित्यिक विकास के साथ-साथ इन मिसरों की असम्बद्धता का ह्रास शुरू हुआ, और कुछ दिन बाद केवल वही गीत सराहनीय समझे जाने लगे, जिनके मिसरों में बेजोड़पन नाममात्र को भी नहीं होता था। इन आदर्श-गीतों का एक-एक मिसरा एक दूसरे से परस्पर जुड़ा रहता था। निम्न-लिखित गीत 'लंडई' गीत की इस सुरुचिपूर्ण दशा का नमूना है—

पेज़वान मे श्रंग लपोज़े प्रेवत
रुस्तया यारा ! ज़ प ता कुम गुमानुना
स्ता द पेज़वान गुमान प माशा
प पीर बाबा बा दरता ऊकम सौगन्दुना
ज़मा पेज़वान पशे बला शा
प पीर बाबा ब कसम सला दरकावोमा

—'मेरा पेज़वान (नाक में पहनने का आभूषण) गिर गया और मुझे उसकी झंकार सुनाई दी।

ऐ मेरे पीछे-पीछे आनेवाले प्रेमी ! मुझे सन्देह है कि उसे तूने ही चुराया होगा।

तू मुझपर अपने पेज़वान की चोरी का सन्देह करती है।

मैं पीर बाबा की ज़ियारतगाह पर चलकर सौगन्ध खाऊँगा (कि मैंने यह चोरी नहीं की)।

मेरा पेज़वान भाड़ में जाय।

मैं तुझे पीर बाबा की ज़ियारतगाह पर क्यों सौगन्ध खाने देने लगी ?'

धीरे धीरे एक ऐसा समय आया, जब कि 'लंडई' गीत की लम्बाई तीन या चार मिसरों से घटकर एक ही मिसरे पर आ गई, और इस गीत-शैली के कवियों तथा कवयित्रियों ने प्रेरणा-भरी अनुभूतियों की जीवित तसवीरें खींचने में कमाल की रूप रेखा का प्रयोग करना शुरू किया। निम्न लिखित मिसरा इस नवीन धारणा के अनुसार एक सम्पूर्ण 'लंडई' गीत का नमूना समझा जाना चाहिए—

ज़ाने जड़ो जामो के जोड़ कड़
लका प वरान कलीके बाग द गुलोबीना

— 'कन्या ने अपने आपको फटे-पुराने वस्त्रों से बनाया सँवारा।
ऐसा प्रतीत होता था, जैसे ग्राम के खँडहरों में फूलों का बग़ीचा लगा हुआ हो।'

पठान-साहित्य के इन प्रारम्भिक दिनों में युद्ध गान भी 'लंडई'-शैली में निर्मित होते थे। युद्ध हो अथवा शान्ति, पठान गवैये ग्राम ग्राम में फेरी लगाते फिरते थे। रुबाब पर युद्ध गान का आलाप करना उनके जीवन-क्रम का एक विशेष अंग समझा जाता था। निम्नलिखित गीत 'लंडई' शैली का एक लोकप्रिय नमूना है—

तीरा कशमीर द नंगियालो दे
दा बे ग़ैरत दे दलता न ओसी मएँना

—'तीरा (घाटी) वीरों का काश्मीर है।
हे प्रिये! इसमें भीरु पुरुषों के लिए स्थान नहीं है।'

प्रतिष्ठित ख़ानों के प्रति जातीय गवैयों का वन्दना-गान भी उन दिनों 'लंडई' गीत का रूप लिये रहता था। ऐसे ही एक गीत के एक मिसरे का उदाहरण लीजिए—

ख़ाना! ख़ादी दे मुबारक शाह
यवा दे द सल अवया दे नोरे वी

—'ऐ ख़ान! तुझे तेरा आनन्द मुबारक हो।
ख़ुदा करे तुझे तेरे इस आनन्द के अलावा एक सौ सत्तर आनन्द और प्राप्त हों।'

इसी 'लंडई' गीत का रूप लिये रहती थी पठान माँ की वात्सल्य-भरी लोरी—

ज़माँ ज़ोए अंगूर द ओवो डक दे
ख़ुदाई बाग़ के माता मिलादिना
ज़माँ ज़ोए द असमान स्तोरे
ख़ुदै माता प जोलई रा कड़ेदिना
ज़माँ ज़ोए गुल द गुलाब दे
च अग़ाता गोरम ज़माँ अस्तरगे यख़शिना

—'मेरा शिशु रसदार अंगूर है।
वह मुझे भगवान् के बग़ीचे से प्राप्त हुआ है।

मेरा शिशु आकाश का सितारा है।
भगवान् ने उसे मेरी गोद में ला रखा है।
मेरा शिशु गुलाब का पुष्प है।
उसे देख-देखकर मेरे नेत्र तरावट पोते हैं।'

'लंडई'-काल में वात्सल्य-रस का अभिनन्दन करने वाली पठान-माँ वीर-रस-पूर्ण लोरियों की सृष्टि भी करती थीं--

त प जाँगू के जाड़ा माँ
स्ता मलगरी ब ता दवीज्ञ न गणी
नन दे वार दइ ख़ोबुना वुक्ड़े
सबा बार दइ द मैदान ब गटी

—'मेरे शिशु ! झूले में रुदन न कर
नहीं तो तेरे हमउम्र साथी तुझे बुज़दिल समझेंगे।
--'ओ मेरे शिशु ! आज तेरी सोने की बारी है।
कल तेरे सम्मुख मैदान सर करने की बारी आयेगी !'

'लंडई'-काल के पश्चात् एक ऐसा समय भी आया, जब कि केवल पठानों के जातीय गवैये ही नहीं, जनसाधारण भी किसी नवीन गीत-शैली की तलाश में निकल पड़े। यह नवीन गान पठान-जीवन की रंगभूमि में यूनान देश के 'स्ट्रोफ ऐण्ड ऐण्टी-स्ट्रोफ' (Strophe and Anti Strophe) नामक प्राचीन गान की-सी शक्ल लिये उपस्थित हुआ। समय-क्रम से इस नवीन गान का नाम 'लोबा' पड़ गया। 'लोबा' के शब्दार्थ होते हैं 'खेल'। इस गीत की नाटकीय रचना-शैली का अवलोकन करते हुए यह नाम बिलकुल उचित ही जान पड़ता है।

'लोबा' गान की नृत्यमयी प्रकृति सम्भवतः नाटकीय अभिव्यक्ति के उस प्राचीन बीज का परिणाम था, जो कि 'लंडई'-काल की कितनी ही रचनाओं में पहले ही विद्यमान थे। ऐसी ही रचनाओं का एक उदाहरण पेज़वान-सम्बन्धी गीत है, जो ऊपर आ चुका है। अतः 'लोबा' गान के रचयिता शुरू-शुरू में 'लंडई'-काल के गायक कवियों के अहसानमन्द ज़रूर रहे होंगे। निम्न-लिखित 'लोबा' एक पुरानी रचना है—

गुलुना वाड़ा शा रसूल द बाग़ा वड़िना
प शश के दे गुल रावड़ा
वरशा बौरा नसीम त वाया
बे द रातलो दे ग़ोटई न स्पड़ी गुलुना

गुलुना वाड़ा……
प गुल द ख़ुदाए फ़ज़ल पकार दे
स ब नसीम वी सबा वरपड़ी गुलुना
गुलुना वाड़ा……

—'हर कोई शाह रसूल के बाग़ से फूल ले आता है।

तू भी जा और अपने हाथ के अंगूठे तथा उसके साथ की अँगुली के बीच में पकड़ कर एक फूल ले आ।

'हे भ्रमर! जा और बादे-नसीम (वसन्ती वायु) से कह दे।

यदि उसका आगमन न होगा, तो फूल नहीं खिलेगा।'

फूलों पर ख़ुदा की रहमत चाहिए।

बादे-नसीम की क्या ताक़त है कि फूल खिलाये?

हर कोई शाह रसूल के बाग़ से फूल ले आता है।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि इसके छन्द-कौशल में अधिक हाथ 'लंडई' का ही है। 'लोबा' गीत का आरम्भिक भाग, जो प्रत्येक मिसरे के बाद दोहराया जाता है, और 'द सर मिसरा' कहलाता है, 'लंडई' के मिसरे का ही एक परिवर्तित रूप है। यदि 'लोबा' गीत के 'द सर मिसरा' की पहली पंक्ति को दूसरी और दूसरी को पहली बना दें, तो यह 'लंडई' का ही मिसरा बन जाता है, और 'लोबा' गीत के दोनों मिसरे तो हैं ही बिलकुल 'लंडई' के मिसरे। पर धीरे-धीरे 'लोबा' गीत की रचनाशैली में बहुत परिवर्तन आ गया—इतना परिवर्तन कि 'लंडई' छन्द के साथ इसके छन्द का कुछ भी सम्पर्क न रहा। निम्न-लिखित गीत इस परिवर्तित शैली के 'लोबा' गान का एक पुराना नमूना है—

बब्बो मंगे रावाख़्ला द जलाला गुदर ला जुना
गुदर ला जम रा पसे राशा बब्बो मंगे रावाख़्ला
मंगी मीं द्व दी नरै म्ला मे मातावीना
मा प मंगीके प्राटे रावुड़ी दीना बब्बो मंगे रावाख़्ला
बब्बो मंगे रावाख़्ला द जलाला गुदर ला जुना
गुदर ला जम रा पसे राशा बब्बो मंगे रावाख़्ला
कुलाला रोका रुपै वाख़्ला
द बब्बो जान प मंगी वाचवा गुलुना बब्बो मंगे रावख़्ला
बब्बो मंगे रावाख़्ला द जलाला गुदर ला जुना
गुदर ला जम रा पसे राशा बब्बो मंगे रावाख़्ला

रेशमा रो रो दड़े पे केगदा
चे वरान मे नक्ड़े जने ख़ालूना बब्बो मंगे रावाख़्ला
बब्बो मंगे रावाख़्ला द जलाला गुदर ला ज़ना
गुदर ला जम रापसे राशा बब्बो मंगे रावाख़्ला

—'आ हम 'जलाला' घाटी को चलें, री बब्बो !
मैं घाटी की ओर प्रस्थान करती हूँ ।
तू मेरे पीछे-पीछे चली आ ।
मेरे सिर पर दो घड़े हैं ।
उनके बोझ से मेरी पतली कमर टूटी जा रही है ।
मैं अपने घड़ों में परौंठे (छुपा) लाई हूं।
अरी बब्बो, आ हम चलें ।
आ हम 'जलाला' घाटी को चलें, री बब्बो !
मैं घाटी की ओर प्रस्थान करती हूँ ।
तू मेरे पीछे-पीछे चली आ
—यह ले रोक रुपया, रे कुम्हार ।
बब्बोजान के घड़े पर फूल डाल दे ।
अरी बब्बो, आ हम चलें ।'
आ हम 'जलाला' घाटी की ओर चलें, री बब्बो !
मैं घाटी की ओर प्रस्थान करती हूँ ।
तू मेरे पीछे-पीछे चली आ ।
मेरे सरपर आहिस्ता-आहिस्ता सिन्दूर लगा ।
ओ रेशमी कन्या !
ऐसा न हो कि तू मेरी ठोड़ी के तिल को पोंछ डाले ।
आ हम 'जलाला' घाटी को चलें, री बब्बो !
मैं घाटी की ओर प्रस्थान करती हूँ ।
तू मेरे पीछे-पीछे चली आ ।'

जब 'लोबा' गान के प्रचार ने लोकप्रिय रूप धारण कर लिया, तो मंगल आमोद-प्रमोद के साथ-साथ मनोवृत्ति के चित्रण के लिए भी इस गान का नाटकीय रूप उपयुक्त समझा जाने लगा। निम्न-लिखित रचना किसी पठान ख़ान की स्मृति में हुई है। करुणारसपूर्ण 'लोबा' का यह एक सजीव उदाहरण है—

बादशा ब ललै ख़ानई द से ख़लक वाई
चे प दारे स्वरावीना
ख़ानई मिरज़ा अकबरी
प कद बाला प हुस्न पूरा ख़ानई
ज़ान ता मग़रूरा द ग़ुलाम ग़ुलाम दे ज़मा ख़ानई
बादशा ब ललै······
यवा द ख़ुतन द नाफे बुई दे ख़ानई
या अम्बरिन ज़ुल्फे जानान स्पड़दलीदिना ख़ानई
बादशा ब ललै······
स्तरगे ब वले उख़ के नक्ड़ी ख़ानई
चे प मौसम द ख़ुशाली रागल ग़मुना ख़ानई
बादशा ब'ललै······
अस्मान दे कोर त पके न्वरे ख़ानई
ज़ न्वर परस्त गुल पशान मख दरपसे ब्ड़मा ख़ानई

—'बादशाह ने खान को बुलाया है।
लोग कहते हैं कि बादशाह उसको सूली पर चढ़ा देगा।
ख़ान का नाम है मिरज़ा अकबर ख़ान।
ऐ ख़ान, तेरा क़द लम्बा है और सौन्दर्य पूर्ण है।
तेरे गुलामों का भी गुलाम हूँ मैं ऐ स्वाभिमानी खान!
या तो ख़ुतन की कस्तूरी की लपटें आ रही हैं।
या (कहीं समीप ही) तेरी प्रेमिका ने सुगन्धित केश खोल रखे हैं।
मेरी आँखें आँसू क्यों न बहायें, ऐ ख़ान।
आह! आनन्द की ऋतु में दुःख उमड़ आये हैं।
आकाश है तेरा निवास-स्थान, ऐ ख़ान।
तू वहाँ सूर्य की भाँति विराजमान है!
मैं सूर्यमुखी फूल की भाँति सदैव तेरी ओर मुँह किये रहता हूँ।'

यदि 'लंडई' और 'लोबा' को हम भोर के मधुर गीत कहें, तो नवयुग के 'चार-बैता' नामक गीत को बालारुण का प्रतिनिधि कहना पड़ेगा। जागरण के सुनहले प्रान्तर में पैर रखते ही अज्ञातयौवना पठान कविता को अपनी भरी जवानी का बोध हो गया।

शत-प्रतिशत नहीं, तो नब्बे प्रतिशत चार-बैते अछूते युद्ध-गान हैं। उदाहरणस्वरूप एक पुराने चार-बैते का निम्न-लिखित खण्ड देखिये—

वु-लवेदल ल ख़ोबा प मरवतो द ग़ज़ा
मरवत सू सरा मस्त प कोरो चे कई गुंदई
ज़का प हर कल्यो चे द डोलो ब द्रज़ा
वु-लवेदल ल ख़ोबा प मरवतो द ग़ज़ा ?
डोलुना ये द्रज़ेची मरवत जंग ता त्यारेज़ी
नन प तरकी तोपको ईशेवा नारा
वु-लवेदल ल ख़ोबा, प मरवतो द ग़ज़ा

--'नींद को ख़ैरबाद कहकर वे जाग उठे हैं।
लो, 'मरवत' पठानों के वतन में जंग का दौरदौरा है।
(आत्माभिमान ने) 'मरवत' पठानों को मस्त बनाया।
घर-घर में वे धड़े-बन्दियाँ कर रहे हैं।
ग्राम-ग्राम में (जंगी) ढोल बज रहे हैं।
नींद को ख़ैरबाद कहकर वे जाग उठे हैं।
लो 'मरवत' पठानों के वतन में जंग का दौरदौरा है।'
जंगी ढोल बज रहे हैं और 'मरवत' पठान जंग के लिए कमर कस रहे हैं।
आज तोड़ेदार बन्दूकों के फलीते सुलगा दिये गये हैं।
नींद को ख़ैरबाद कहकर वे जाग उठे हैं।
लो, 'मरवत' पठानों के वतन में जंग का दौरदौरा है।'

'चार-बैता' पद्धति के अनुसार प्रत्येक गीत की टेक 'द सर मिसरा' कहलाती है, और गीत के प्रत्येक पद के लिए 'कड़ी' शब्द का प्रयोग होता है। कम-से-कम आकार के गीत में चार-पाँच कड़ियाँ रहती हैं, और दस कड़ियाँ प्रायः बड़े-से-बड़े गीत के लिए काफ़ी समझी जाती हैं। जैसा कि उपर्युक्त गीत से प्रत्यक्ष है, प्रत्येक कड़ी दो बैतों का मजमुआ होती है; हर एक बैत के बीच में विराम रहता है। इसी विराम के कारण इस युग के कवियों ने हर एक बैत के दो भागों को दो सम्पूर्ण बैत समझना शुरू कर दिया, और इसी ख़याल से कि हरएक कड़ी में चार बैत होते हैं, इस नवयुग के गीत को 'चार-बैता' नाम से पुकारा जाने लगा है।

नवयुग के आरम्भिक दिनों में 'चार-बैता' का यही सरल स्वरूप था, जो उपर्युक्त गीत से स्पष्ट है; पर ज्यों-ज्यों विकास के मधुर समीर का आगमन होता गया, 'चार-बैता' की साधारण रूप-रेखा में सुरुचिपूर्ण रचना-कौशल आता गया। अब केवल टेक के आकार में ही वृद्धि नहीं हुई, बल्कि प्रत्येक कड़ी में तीन या चार बैत (जो चार-बैता-रचयिताओं के अपने हिसाब से

छै या आठ होते थे) तक का समावेश हो गया। नमूने के तौर पर एक 'चार-बैता' की टेक और एक कड़ी मुलहज़ा कीजिए—

चा वे चे दोस्त मुहम्मद ग़ाज़ी सम्बाल शो प काबल के
बादशाह प कन्दाहार ज्वगाए खेज़ी द लखकरो
चावे चे दोस्त मुहम्मद अमीर रावोबुतज़ी ग़ज़ाला
फोज़ना वरसरा दी बरे बरकड़े ज़ूल जलाला
यवा ब्रज़ मुहम्मद अकबर चे वरागे द रांगर ख़याला
दुश्मन ये खरमिन्दा प मखके नरस्ती बे सम्बाला
खाना टींग दे कड़ा इस्लाम कलिमा डाल्का प मंगुल के
चा वे चे दोस्त मुहम्मद ग़ाज़ी सम्बाल शो प काबल के
वोए कड़ अंगरेज़ लड़ाव ये ज़ोड़ कड़ द शुतरो
बादशाह प कन्दाहार ज्वगाए खेज़ीद लखकरो

हर कोई कह रहा है कि दोस्त मुहम्मद तैयारी कर रहा है।

सम्राट् कन्धार में है, उसका लश्कर कमर कस रहा है और रण-नाद में मग्न है।

हर कोई कह रहा है कि अमीर दोस्त मुहम्मद खान जंग का एलान करने के लिए (अपनी छावनी से) बाहर निकल आया है।

उसकी पुश्त पर बहुत-सी फौजें हैं। या अल्ला ! उसे फतह का मुँह दिखाना।

(अमीर दोस्त मुहम्मद का पुत्र) मुहम्मद अकबर एक रोज़ (शत्रु के) मोरचे के समीप चला गया।

उसका शत्रु शरमिन्दा हुआ, और बेसरोसामानी के साथ पीठ दिखा गया।

ऐ खान मुहम्मद अकबर, इस्लाम को मज़बूती से पकड़ ले और कलमे को ढाल की तरह अपनी मुट्ठी में दबा ले।

हर कोई कह रहा है कि दोस्त मुहम्मद तैयारी कर रहा है।

उसने हल्ला बोल दिया है और (जंगी सामान ढोने के लिए) ऊँटों की क़तार लगा दी है।

सम्राट् कन्धार में है। उसका लश्कर कमर कस रहा है और रण-नाद में मग्न है।

समय पाकर 'चार बैता' की रूप-रेखा में और भी विकास हुआ। अब गीत की टेक के विभिन्न भाग बारी-बारी से कड़ी के प्रत्येक विभाग के बाद दोहराने की प्रथा चली। उदाहरणस्वरूप इस शैली के एक 'चार-बैता' की चार भागों

में विभक्त टेक और चार भागों में विभक्त एक कड़ी देखिये—

(१) तक़दीर ता निश्ताबन्द (२) क हर सोए कड़ो हुनर
(३) मुलतानप टगै गेर शो गुलाब द सर दरे
(४) ब्या ब सोक कवी दाड़े
(क) मुलतान द ज़ख़ाखेलो रागै दै प आदम खेलो
शो राख़कता प ज़ाखेलो
प ख्वुड़ द सुड़े ओके प यौ ग़ारश्वलो सरगन्द
तकदीरता निश्ताबन्द
(ख) सरगन्द शो प यौ ग़ारके पदे कात इतबार के······
जासूसे द डोडै प बाना लाड़ा लो सहर
क हर सोए कड़ो हुनर
(ग) डोडै प बाना लाड़ कढ़ो ख़बर ए थानेदार
शो दीन प दुनिया ख़ुयार
रपट प तारके रागै ब्या ज़लज़ल रागे अन्देर शो
मुलतान प टगै गेरशो
(घ) ज़लज़ल शू पेरंगनियान वे चे राग़लै मुलतान
फ़ौज ना शू रवान
दस्ते पसे रवाने रिसाला शोड़े-शोड़े
ब्या ब सोक कवी दाड़े

—(१) तक़दीर कितनी अटल होती है।

(२) कोई भी कौशल क्यों न कर देखो (कभी तक़दीर भी टली है क्या ?)

(३) मुलतान को धोखे से घेर लिया गया—मुलतान क्या था दर्रा-ख़ैबर का गुलाब था।

(४) अब (मैदानी इलाक़े पर) धाड़ें कौन मारा करेगा ?

१—(क) मुलतान एक ज़ख़ाखेल (आफ़रीदी) था।
आदमखेल आफ़रीदियों के वतन से होता हुआ।
वह 'ज़ाखेल' प्रदेश में उतर आया।
'सुड़ेज़इ' ग्राम के समीप वह एक गुफा में दिखाई दिया।
तक़दीर कितनी अटल होती है।
(ख) वह एक गुफ़ा में दिखाई दिया।
आप मेरी बात को बिलकुल खरी ही समझें।
···एक जासूस (जो ऊपरसे मुलतानका साथी बना हुआ था) भोर होते ही

रोटी लाने के बहाने से मुलतान के पास से चला गया।
कोई भी कौशल क्यों न करो (तक़दीर भी कभी टली है क्या ?)
(ग) जासूस रोटी लाने के बहाने से चला गया।
उसने थानेदार को (मुलतान का) भेद दे दिया।
इस प्रकार जासूस ने अपनी आक़बत (परलोक) गन्दी कर ली और
दुनिया में भी वह बदनाम हुआ।
ज्यों ही (अफ़सरों को) तार द्वारा मुलतान का भेद मिला।
उन्होंने अपनी फौजों को एकदम धावे के लिए तैयार कर दिया।
मुलतान को धोखे से घेर लिया गया।
(घ) ब्रिटिश अफ़सर एकदम धावे के लिए तैयार हो गये।
हर कोई कहता था, मुलतान आ गया। फौजें (मुलतान की तरफ़) चल पड़ीं।
फौजों के दस्ते मुलतान की तलाश में निकल पड़े।
कितने ही रिसाले मुलतान के दस्ते का पीछा करने लगे।
अब (मैदानी इलाके पर) धाड़ें कौन मारा करेगा ?'

'चार-बैता' गीत की रचना-पद्धति किसी विदेशी ज़मीन की उपज बिलकुल नहीं; स्वयं पठान कविता को इस चिर-अभिनन्दनीय प्रतिभा-कौशल का श्रेय हासिल है। हाँ, यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस गीत की रचना-पद्धति के उस्तादी दाँव-पेंच जनसाधारण की रचता शक्ति से काफ़ी परे की चीज़ हैं, अतः यह निश्चित है कि इसके जन्मदाता आम ग्रामीण स्त्री-पुरुष न होकर उन्नतमना और सिद्धहस्त क़ौमी गवैये ही रहे होंगे, और ज्यों-ज्यों 'चार-बैता' गीत-पद्धति की मोहिनी रूप-रेखा का मर्मस्पर्शी प्रवाह आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों क़ौमी गवैयों के अलावा आम ग्रामीण स्त्री पुरुष भी 'चार बैता' रचना के प्रान्तर में अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाने लगे।

छन्द-सम्बन्धी पाण्डित्य प्रदर्शनी के बावजूद 'चार-बैता' शैली ग्रामीण कविता के क्षेत्र में बेगानी नहीं लगती। हाँ, एक बात में ग्रामीण इंग्लैंड के Ballads से 'चार बैतों' की दुनिया निराली अवश्य है—प्रत्येक 'चार-बैता' की अन्तिम पंक्तियों में हम इसके मूल रचयिता का नाम पाते हैं; केवल नाम ही नहीं, कहीं-कहीं रचयिता का आत्म-भाव भी देखने में आता है। ऐसे 'चार-बैते' हमेशा अधूरे समझे जाते हैं, जिनकी अन्तिम पंक्तियों में उनके रचयिताओं के नाम न मिलते हों। पर यह सब कुछ 'चार-बैतों' को ग्राम-गीतों की दुनिया से देश निकाला नहीं दिला देता। एक दम मौखिक—लिखित अवस्था से बिलकुल

अनजान—रूपमें रहने के कारण 'चार-बैतों' की मौलिक शब्द-योजना में बराबर उथल-पुथल होती रहती है; कितने ही शब्द और कभी-कभी तो पंक्तियों की पंक्तियाँ निकाल बाहर की जाती हैं, और उनका स्थान लेने के लिए नये शब्द आ हाज़िर होते हैं। जो कोई भी पुराने 'चार-बैतो' को गाता है, चिर-नवीन प्रेरणा के इशारों पर चलता हुआ अपनी अभिनन्दनीय सूझ का सबूत देता है, और गीतों की भाषा तथा भाव-धारा में यथासम्भव हेर-फेर करता रहता है। यही कारण है कि प्रायः एक ही 'चार-बैते' के कई-कई रूप मिलते हैं। पर परिवर्तन की आँधी किसी 'चार-बैते' के मूलरचयिता का नाम नहीं उड़ा ले जाती। जो कोई भी किसी 'चार-बैते' में किसी प्रकार का हेर-फेर करने के लिए उत्सुक होता है, हमेशा उसके मूलरचयिता के प्रति असीम श्रद्धा बनाये रहता है। यह कहना बिलकुल यथार्थ होगा कि प्रत्येक पुराना 'चार-बैता' उस वन-वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ चिर-पुरातन भूमि में गहरी चली गई हो, और प्रति वर्ष नवीन शाखाएँ, नवीन पत्ते, नवीन फूल तथा नवीन फल जिसका शृङ्गार किया करते हों।

'चार-बैता' का जन्म सम्भवतः युद्ध-गान के रूप में ही हुआ होगा। पठान-गीत के इतिहास में इस युग के गीत-रचयिताओं का एक विशेष स्थान है। वीर-सुलभ भावनाओं के अछूते शब्द चित्र अंकित कर सकना 'चार-बैता' रचयिताओं के बाएँ हाथ का खेल है; जातीय वीरता से इन आज़ादी पसन्द रूहों का सीधा सम्बन्ध है; उनका प्रतिभा-स्रोत जंगी मनोवृत्ति के उस वीर-रस-पूर्ण प्रदेश से होकर बहता है, जहाँ विजय और मौत की देवियाँ सिपाही-जीवन के साथ हँस-हँसकर आँख-मिचौनी खेला करती हैं। जातीय युद्ध-गान को परिपूर्णता की अन्तिम रेखा तक पहुँचाना 'चार-बैता'-रचयिताओं की किस्मत में ही बदा था।

'चार-बैता'-युग के कई एक गान-रचयिता अपनी कृतियों को शृङ्गार रस-प्रधान बनाने का मोह-संवरण न कर सके। पर इस परिश्रम में उन्हें आशाप्रद सफलता न मिल सकी, क्योंकि 'चार-बैता' संगीत की मूल-नीति से प्रेम के कोमल भावों का कुछ भी सरोकार न था, और हो भी कैसे सकता था? 'चार-बैता' संगीत के पृष्ठ पटपर किसी वारांगना की नृत्य-कला की प्रदर्शिनी तो थी ही नहीं, वहाँ तो रण बांकुरे पठान योद्धाओं की उस निडर, बाँकी और जोशीली चाल का प्रतिबिम्ब था, जो पठान व्यक्तित्व में घुल-मिलकर एक रस हो गई है।

फिर एक ऐसा समय आया, जब इस युग के गान रचयिता लोक-कथाओं तथा दैनिक जीवन की अर्थ पूर्ण घटनाओं को भी अपनी कृतियों में विशेष स्थान

देने लगे। 'चार बैता-संगीत के जंगी सुर-तालों के साथ इस शैली की रचनाओं का भी स्वाभाविक मेल न हो सका; पर इनसे जनता के दिल में जीवन के प्रति दिलचस्पी ज़रूर जाग उठी। यह समझते हुए किसी को भी देर न लगी कि जीवन की आम घटनाएँ अर्थ-पूर्ण स्वाध्याय की वस्तु हैं। जब भी इस शैली के 'चार-बैते' जनता के सम्मुख उपस्थित किये जाते थे, सब-के-सब श्रोतागण चित्र लिखे-से रह जाते थे। कितना मर्मस्पर्शी था इनका प्रभाव—एक दम अछूता, एक दम मूर्त्तिमान।

निम्न-लिखित गीत इस शैली के 'चार बैतों' का एक लोकप्रिय नमूना है। हमारे हृदय-जगत् की समूची करुणा इस गीत की नायिका 'मामुनई' के लिए उमड़ आती है। करुणा के वेगमय प्रवाह में बहते-बहते हम 'नाबागई' नामक ग्राम में, जहाँ मामुनई की ससुराल थी, चले जाते हैं, और इस ग्राम की सारी-की-सारी बुलबुलों को मामुनई के लिए अश्रुपात करते पाते हैं। मामुनई के पति शेरआलम के प्रति हमारे हृदय में दारुण घृणा का संचार हो जाता है, क्योंकि हम उसके हाथ मासूम मामुनई के ख़ून से रंगे हुए देखते हैं। गीत की अन्तिम पंक्तियों में इसके रचयिता मुहम्मद हसन का नाम भी गुँथा हुआ है—

(टेक······)
त ए दा गुलो लख़ता राप्रवते द तख़्ता
ख्वाइस्ता दर पोरे ओर शो
ऊका लाड़े प ज़वानई
अरमान दे मामुनई
तए प हुस्न पूरा मड़वन्दे मिसरी तूरा
प ज़बिन के दे शोले
प हर तरफ़ बाँदे ख्वारे दी
प मख़ दे स्तारे दी
(१) स्पिन मख़ बदन दे बाज़ दा गुमाज़ बो पके जाग
पताए व लगावो दाग़ पताए वकड़ा मुकबिरी
संगा दर पेख़ा श्वला सख़्ता त ए दा गुलो लख़्ता
सख़्ती श्वला दर पेख़ा ख़बर न वे द बेख़ा
·································
ख़बर न वे सनमे गरज़े दे व लेवनई

अरमान दे मामुनई
(टेक)·········
(२) खबर न शुए प हाला, प ग़ेग़ दे लूर मलाला
तकदीर गोरा सवाला·········
दरता ओड़ा वा दा वख्ता, त ए दा गुलो लख्ता
खबर प ता अलम शो, चे गुलप तेग़ा कलम शो
ज़ालिम प शेर अलम शो
ज़ालिमा शेर अलमा ! बे गुनाह कड़े मरगुनई
अरमान दे मामुनई
(टेक)·········
(३) ता चे कड़ो यकीन द बल शुए ताबेईन
ख्पल जान दे कड़ो ग़मर्ग़ीन ख्पल जान दे कड़ो रुसवा
द चादे स पुक्ड़ो कमबख्ता त ए दा गुलो लख्ता
रुसवा श्वले प कोर दुश्मना दे शुया खोर
································
लमसुना दरता बुक्ड़ो, शुए माशूमा द नादानई
अरमान दे मानुनई !
(टेक)··················
(४) लाशुमो रान ले जाड़े, तु-कली लाड़े गुयारे
ओब द ब्रखा लाड़े, खलील खा तमाको—
कड़ै सवाल बो ये बदबख्ता त ए दा गुलो लख्ता
तकदिरे दे द जाना, कचा ग़रमा खज़ाना
································
सुरेशे शेर अलमा ! त प तोप जरमनई
अरमान दे मामुनई
(टेक)················
(५) सुरै द उड़ प सर शे त टोल जोर ओ जबर शे
ल दे दरदा ना खबर शे, वस कड़ मामद असना
द ग़मुनो द बालख्ता त ए दा गुलो लख्ता
प टोल नावागई के अन्दलीब ज़ाड़ी मरग़ान
बे नंगा शू यारान
बे नंगा जमान श्वला शहीदा मामुनइ

अरमान दे मामुनई
(टेक)..................

—तू फूलों से लदी टहनी थी।
आह, तू अपने सिंहासन से नीचे आ गिरी!
तेरा सौन्दर्य तेरे लिए (प्राणघातक) अग्निदाह बन गया।
इस भरी जवानी में ही तू मृत्यु का ग्रास बन गई।
शोक है, ऐ मामुनई, तेरे लिए शोक है!
(१) तेरा मुखमण्डल रुपहले (आभूषण का-सा) था, और तेरा शरीर बाज़का-सा (फुरतीला) था।
एक चुगलखोर तेरे और तेरे पति के बीच में काग सिद्ध हुआ।
तुझे दोषी ठहराते हुए चुगलखोर ने तेरे पति को तेरे विरुद्ध भड़का दिया।
हा, तुझे कैसी विपत्ति में फँसना पड़ा! तू फूलों से लदी टहनी थी।
तुझे कैसी सख्त विपत्ति में फँसना पड़ा।
असल मुआमले की तुझे कुछ खबर ही न थी!
तू बिलकुल ही अचेत थी, प्यारी, कितनी मस्तानी थी तेरी गति।
शोक है, ऐ मामुनई, तेरे लिए शोक है!
(२) तू (चुगलखोर की) शरारत को भाँप न सकी।
तेरी गोद में तेरी उदास बेटी लेट रही थी।
इससे अगले दिन ही तुझे तक़दीर का तमाशा देखना पड़ा।
तेरे विरुद्ध बहुत दिनों से षड्यन्त्र किया जा रहा था।
तू फूलों से लदी टहनी थी।
जब (तुझ-जैसी) खिली कली को तलवार के घाट उतार दिया गया।
दुनिया-भर में (इस अन्याय) की दुहाई फिर गई।
हा, शेर आलम ने मामुनई पर ज़ुल्म ढा दिया!
ऐ शेर आलम! तूने एक निरपराध स्त्री की हत्या कर डाली है।
शोक है, ऐ मामुनई, तेरे लिए शोक है!
(३) ऐ शेर आलम, तूने एक चुगलखोर को विश्वासपात्र समझा।
उसकी ओर झुकते हुए तूने मामुनई के सतीत्व पर सन्देह किया।
किसी का तूने क्या बिगाड़ा, ऐ कमबख्त?
अपने जीवन को ही तूने उदास किया!
(ऐ मामुनई!) तू फूलों से लदी टहनी थी।
(ऐ शेर आलम) तू अपने घर में ही बदनाम हो गया।

तेरी अपनी बहन ही तेरी शत्रु सिद्ध हुई ।
उसने तेरे पास चुगली खाई ।
और तूने एक अनजान बच्चेकी भाँति उसकी बात पर विश्वास कर लिया ।
शोक है. ऐ मामुनई, तेरे लिए शोक है !
(४) ऐ शेर आलम, अब तू बच्चे की भाँति बिलख-बिलखकर रोता है ।
जिसे अपने हाथों से मार डाला,
अब उसे फिर ज़िन्दा देखना चाहता है तू !
पर पानी बाँध तोड़कर बह चुका है (अब वापस कैसे लौट सकता है ?) ।
ऐ बदबख्त शेर आलम ! बात तो कुछ भी न थी ।
खलील ने तो मामुनई से केवल थोड़ा-सा तम्बाकू ही माँगा था !
(ऐ मामुनई !) तू फूलों से लदी टहनी थी ।
ऐसा कदाचित् मामुनई के भाग्य में ही बदा था !
दोपहर हुआ ही चाहता था ।
पतझड़ के दिन थे (जब मामुनई का बध किया गया)
ऐ शेर आलम ! खुदा करे, तेरा शरीर एक बड़ी तोप की गोलियों से छलनी छलनी हो जाय ।
शोक है, ऐ मामुनई, तेरे लिए शोक है !
(५) ऐ शेर आलम ! तेरे हृदय में (गोलियों के) सुराख हो जायँ ।
तेरा सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाय ।
ताकि उस वेदना से (जिसमें से कि मामुनई को गुज़रना पड़ा तू स्वयं भी खबरदार हो जाय ।
ऐ मुहम्मदहसन (गायक) ! तू अपने करुण-क्रन्दन को शेष कर ।
(ऐ मामुनई !) तू फूलों से लदी टहनी थी ।
'नावागई' ग्राम की सारी-की-सारी बुलबुलें रुदन कर रही हैं ।
(कहती हैं) प्रेमीजन विश्वासघाती हो गये ।
आह ! संसार खोटा हो गया और मामुनई शहीद हो गई ।
शोक है, ऐ मामुनई, तेरे लिए शोक है !"

कभी-कभी एक ही कथा या घटना को एक से अधिक गायक अपनी रचना का विषय बनाते हैं । यह बात निम्न-लिखित गीत से प्रत्यक्ष है, जो उपर्युक्त गीत की नायिका मामुनई की दुखान्त जीवन लीला का चित्रण करता है । इसका रचयिता, जैसाकि गीत की अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है, फ़ज़लरहमान नामक बढ़ई है । इस गीत के रचयिता का विश्वास है कि मामुनई के विरुद्ध उसकी

सौत ने चुग़ली खाई थी—

(टेक) द दुनियाँ गई दाग़ा अरमान दई
मड़श्वा मामुनई पसे हर चा कड़े अरमान दई
संगा नीमाखुया द दुनियाँ गई दाग़ा दौरानदई
(१) मड़श्वा मामुनई चे पर्गिश्तिया प मिसल हूरा वा
ख्वाइस्त खापरे प वतन के मशाहूरा वा
द अमल प्राचगे द बाजवड़ प कालोपूरा वा
खपल बन पे चोग़ानई बक्ड़ा चे मयन प दे यौ जवान दई
संगा नीमाखुया द दुनियाँ गई दाग़ा दौरानदई
(टेक)..................
(२) बन पे चोग़ानई बुक्ड़ा खपल प्रदी वरता राजमा शू
रागेराए मामुनई कड़ा उम द दे द मर्ग तमाँ शू
दा ख्वाइस्त ओ हुस्न दुयाड़ा मामुनई खुयारे द ग़माँ शू
ओ वे मामुनई जोड़ जमा द मर्ग गामानदई
संगा नीमाखुया द दुनियाँ गई दाग़ा दौरानदई
(टेक)..................
(३) ओ वे मामुनई तासो चाड़ राता सम्भाला कड़ै
ता सो दे साद वशी मा ग़रीबा पे हलाला कड़ै
दाग़ा माशूम जोए खो रानिज दे जमाँ खोआला कड़ै
चे ए ओर्वानम प स्तरगो द्रंग साअत लमे हिजरानदई
संगा नीमाखुया द दुनियाँगई दाग़ा दौरानदई
(टेक) ....
(४) चे ए वुलीरो पस्तरगो मामुनई नारे सुरे कड़े
लत्ते टकावी द ख्याल जामें ए विनो सरे कड़े
त नवै ये बेलतुना डेरो खुने दे स्पेरे कड़े
सोक चे कोरके द्र खजे साती सख्ते गुज़रानदई
संगा नीमाखुया द दुनियाँगई दाग़ा दौरानदई
(टेक)...... ....
(५) सोक चे कोरके द्र खजे साती ह्या बए तली वी
यौ द बल प सर चुग़ले कवी कचा लिदली वी
गोराए मामुनई ता बेगुनाहा दे वज़ली वी
कड़ै लग सिपत पके तरकान फ़ज़ले रहमानदई

संगा नीमाखुया द दुनियाँगई दागा दौरानदई
(टेक)..................

—"इस घृणास्पद संसारकी यही परम्परा है !
मामुनई मृत्युका ग्रास बन गई ।
हर कोई उसके लिए शोक कर रहा है !
कैसा विश्वासघाती है यह संसार !
इस घृणास्पद संसारकी यही परम्परा थी ।
(१) मामुनई क्या थी, एक हूर थी ।
आह, उसका वध कर दिया गया ।
सौन्दर्यमें वह एक परी थी,
और अपनी जन्म-भूमि भरमें विख्यात थी ।
असलमें वह 'बाजौड़'-प्रदेशकी 'प्राचगै'-जातिसे थी ।
आभूषणोंसे उसका एक-एक अंग सुशोभित हो रहा था ।
उसकी सौतने उसके विरुद्ध चुगली खाई ।
कि वह किसी छबीले युवकसे अनुचित सम्बन्ध रखती है ।
(२) सौतने चुगली खाई ।
अतः वे सब लोग जो मामुनईके अपने थे,
उसके लिए पराये बन गये ।
उन्होंने मामुनईको घेर लिया ।
हा, वे सब मामुनईके लहूके प्यासे हो गये ।
मामुनईका सौन्दर्य और बाला-जोबन उसके लिए प्राणघाती सिद्ध हुआ ।
वह चिल्ला उठी—हा, मेरी मौतका सामान तैयार हो गया !
(३) मामुनईने कहा—ऐ लोगो !
मेरा वध करनेके लिए छुरियाँ तेज़ कर लो
यदि ग़रीबको हलाल करनेसे तुम्हारी तसल्ली होती है,
तो ऐसा ही करलो
पर मेरी बेगुनाह बेटीको मेरी गोदमें दे दो ।
लाओ, मैं उसे जी भरकर देख लूँ,
क्योंकि अब शीघ्र ही मैं उसे छोड़कर (मृत्युके अनजाने संसारमें) चलती बनूँगी !
(४) ज्यों ही मामुनईने अपनी प्यारी बेटी को देखा, उसकी चीख निकल गई ।

उसकी टाँगें फड़फड़ाने लगीं,
(हृदयकी आँखोंसे उसने उस बुरी घड़ीको देख लिया) जब उसका वध हो चुका होगा।

और उसके वस्त्र लहूसे लथपथ हो गये होंगे !
ऐ वियोग ! तू न होता, तो कितना अच्छा होता !
तूने कितनोंका गृह-जीवन उजाड़ दिया है !
जो भी अपने घरमें दो पत्नियाँ रखता है,
इसी वेदनापूर्ण परिणामको प्राप्त होता है !
(५) जो कोई भी दो स्त्रियों से विवाह करता है, अपनी कीर्त्तिका संहार करता है !

सौत दूसरी सौतकी चुगली खाती है ।
किसीने ऐसी घटना न देखी हो, तो मामुनईको देखे,
जो बेगुनाह थी और सौतकी चुगली के कारण मृत्युका ग्रास बनी !
फ़ज़ल रहमान (गायक) ने, जो जातिसे बढ़ई है,
मामुनईका थोड़ा सा बखान ही किया है।"

चार-बैता-युगके बाद रुबाई और ग़ज़ल का दौर शुरू हुआ। इन छन्दोंका वतन दरअसल फ़ारस है; खुशहालखान खटक सरीखे पठान कवियोंने अपने कलाम में इन्हीं का साम्राज्य स्थापित किया। पठान प्रदेश के ग्रामीण गवैये, भी इन छन्दों में गीत-रचना का मोह-संवरण न कर सके; पर उन्होंने इन छंदों की मौलिक पद्धति का अक्षरशः पालन करना ज़रूरी न समझा। रुबाई, जो एक चौपदी रचना है, इन लोगोंके हाथों पड़कर लम्बी होती चली गई; प्रत्येक पंक्तिका वज़न बहुत-कुछ फ़ारसी रुबाईकी पंक्तिसे ही मिलता-जुलता होता है; पर इन पंक्तियोंकी संख्या तीस चालीस तक देखनेमें आती है। ग़ज़लकी बन्दिश में भी बहुत कुछ आज़ादी से काम लिया जाता है। पर जहाँ तक विषय-सामग्री तथा शैलीका सम्बन्ध है, पठान-प्रदेश के ग्रामीण गवैयों द्वारा रचित रुबाइयाँ तथा ग़ज़लें फ़ारसी रुबाइयों तथा ग़ज़लों की विषय-सामग्री और शैलीकी दुनियासे बहुत दूर नहीं गईं।

लंडई, लोबा, चार बैता, रुबाई और ग़ज़ल के अलावा पठान-गीतों की कई एक किस्में और भी हैं; पर उन्हें अकसर अधिक महत्व नहीं दिया जाता। पर जहाँ तक इन सामान्य कोटिके गीतों की उमर का सम्बन्ध है, बहुतसे मर्मी साहित्य-सेवी इन्हें पूर्व-लंडई-कालकी रचनाएँ मानने के लिए तैयार हैं।

इस्लामिया कालेज पेशावरके अरबी तथा पश्तोके प्रोफेसर मौलाना अब्दुर-रहीम भी इसी खयालके बन्दे हैं । उनका अनुमान है कि इनका जन्म पूर्व-'लडई काल में हुआ । इनकी रचनाओं का सिलसिला पठान-गीत के सभी युगों में बराबर जारी रहा । पर इन सामान्य प्रकार की पुरानी रचनाओं के जितने नमूने उपलब्ध हैं, विषय-सामग्री तथा भाव-चित्रण के लिहाज़ से एक-दूसरे से बहुत पृथक् हैं । बहुत से तो इतने गूढ़ तथा अधूरे हैं कि इनका यथार्थ स्वरूप समझने में हम बिलकुल ही कोरे रहते हैं । हां, कुछ नमूने ऐसे भी हैं, जो हृदय की स्वतः सृष्टि वाणी के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं । इस वाणी का अपना ही सरल संगीत है, जो पठान-जीवन के काव्योत्सव में अपनी ही छाप और मूर्च्छना लिये उपस्थित होता है ।

इस सामान्य प्रकार की कृतियों में खास खास ये हैं—

(१) पहेलियां । इनके प्रति जनसाधारण के हृदय में विशेष प्रेम देखने में आता है । छोटी मोटी अतुकान्त पहेलियों की भरमार तो है ही, छन्दबद्ध पहेलियों की भी कमी नहीं है । दैनिक जीवन में जहां स्त्री-पुरुष गीत गा-गाकर जी बहलाते हैं, वहां पहेलियां पूछ पूछकर सूझ तथा सुबुद्धि की कुश्ती भी लड़ा करते हैं । खासकर त्योहारों तथा उत्सवों पर जुटनेवाली महफ़िलों में अन्य आमोद-प्रमोद की बातों के साथ पहेलियों को भी प्रचुर स्थान मिलता है ।

चरखे के सम्बन्ध में एक लोक-प्रिय पहेली है—

वे वर्णां बे ब ज़रो, द मर्ग गुन्दे परीग़ी
खे जुना प्रे खब़ारेगी
सन्दरे ये लेज़तका, द नटो पशान ग़डेगी
जाहिल ब न पोहेगी

—'न उसके पंख हैं, न अस्थि
पर वह पंछी की भांति फड़फड़ाता है ।
सुमुखी कन्याएँ इस पर मुग्ध हो जाती हैं ।
मीठे गीत गा-गाकर वह नटकी भांति नाचता है ।
वह मूर्ख ही तो होगा, जो इसे बूझ न सकेगा ?'

(२) लोरियां । ये प्रायः 'लडई'-छन्द में हैं । वात्सल्य रसकी ये तरगें अन्य सामान्य छन्दों में भी मिलती हैं ।

कुछ नमूने लीजिए—

द्ध दे ग़टे स्तरगे लका स्तोरी दी असमान
यौ दे स्पिनके मख़ दे लका तख्त द सुलेमान

द दे नरै म्ला दालका तोग़ा दा सुलेमान
जार जार ज़ड़ा मक्ड़ा द अरमान

—'(ऐ मेरे नन्हें) आकाश के सितारों की सी तेरी दो गोटी-मोटी आँखें हैं।
शाहजहाँ के सिंहासन का सा है तेरा गोरा-गोरा मुखड़ा।
दो पतले पतले बाज़ू हैं; मानो ये ईरानी कटारें हैं।
तेरी पतली कमर क्या है, सुलेमान का कमरबन्द है।
मैं तुझ पर क़ुरबान जाऊँ, (मेरे नन्हें !) रो मत।'

अख़ दंगा दंग दंगदे, द पोज़े सर दे नरकचूर
मोरे दे पता नशी रंजूर, पलार पता पसे चूर चूर
प वनु के चन्दण ये, प मुरग़ानों के बातूर
प ग़ोटो के ख़ाइस्ता वे, प दारो के नरकचूर

—'(ऐ मेरे नन्हें !) वाह वाह कैसी ऊँची है तेरी नाक;
कैसा सीधा और खड़ा-खड़ा सा है तेरी नाक का सिरा;
एक दम नरकचूर[1] के सदृश ही तो है यह।
खुदा तेरी माँ को सदा तेरे सदमे से बचाये।
खुदा करे, कभी तेरे बाप को तेरे रंज में चकनाचूर न होना पड़े।
पेड़ों में तू चन्दन है और पंछियों में बाज़।
गिरीदार गुठलियों में तू अत्यन्त सुडौल गुठली के सदृश है,
और जड़ियों में तू नरकचूर से कम नहीं।'

(३) खेल-गीत। शैशव के इन सरल तरानों में आनन्द की उस चाँदनी के दर्शन होते हैं, जो पठान बालकों से हरदम किलोलें किया करती है। पठान-कविता के राज-पथ पर जहाँ 'लडई', 'लोबा' और 'चार-बैता' इत्यादि गीतों का साम्राज्य रहता है, वहाँ अल्हड़ बच्चों के खेल गीतों को भी स्थान मिलता है। बच्चों के इन स्वतः सृष्ट-उद्‌गारों में छन्द-कौशल तथा अत्युक्तिमय काव्य-कला ढूँढ़ना सरासर भूल होगी। हाँ, इनका अपना ही माधुर्य होता है, अपनी ही लय, अपनी ही थाप।

निम्न-लिखित गीत, जिसे पठान बच्चे फ़सल पकने के दिनों में एक स्वर से या अर्द्ध-मिश्रित स्वर से गाते हैं, बच्चों के खेल-गीतों का एक उत्कृष्ट नमूना है—

१ नरकचूर एक देशी जड़ी है, जो पठान माँ अपने शिशु को नीरोग रखने के लिए प्रयोग में लाती है।

शोले वाड़ा शोले
समशोरे द शगै शोले
स्ता वऐर बा शोले रावड़ी
स्ता वरोर बा शोले रावड़ी
'द रुमियाल रुपले मोरे
दासे न दी लका नोरे

—'इधर-उधर धान के खेत हैं। हमारा खेत रेतीली भूमि में है।
तेरा भाई रूमाल के सिरे में धान बाँध लायेगा—
तेरा भाई रूमाल के सिरे में धान बाँध लायेगा, और कहेगा—
ले, अम्माजान, यह धान;
यह वह साधारण धान थोड़े ही है,
जो दूसरों के खेतों में उगता है।'

(४) मर्सिये। 'लडई'-पद्धति के मर्सियों के अलावा बहुत से साधारण तुकान्त मर्सिये भी हैं। इनके कुछ नमूने लीजिए।

बेटी की ओर से मृत पिता के प्रति—

अरमान अरमान दे जमाँ प-लारा
ब्या बदे व नवीनम प-लारा
द दुनियाँ दर बाँदे वराना शुवा लवारा

—'शोक है, अब्बाजान, तुम्हारे लिए शोक है।
अब मेरी आँखें कभी तुम्हें राज-पथ पर न देखेंगी।
आह, अचानक यह संसार तेरे ग़म में उजड़ गया।'

बेटी की ओर से मृत माता के लिए—

जमाँ मोरे गुल-रंगीने
ताबा सातलम ज़ प मीने
ग्वरज़म दर पसे वीने
ख़लका मे टोला वीने

—'ऐ माँ, ऐ मेरी फूल-सदृश रंगीन माँ,
कितने प्यार से तूने मुझे पाला-पोसा था।
तेरे लिए मैं खून के आँसू उगलती हूँ।
सब लोग मुझे (इस अत्यन्त उदास और रोनी शक्ल में) देख रहे हैं।'

बहन की ओर से मृत बहन के लिए—

जमा खोरे गुल प सीरे
जूना नवी दासे नोरे
ज़का जड़ा कड़म प सर तोरे

—'ऐ मेरी फूल-सदृश बहन,
तेरे जैसी तरुणी फिर उत्पन्न न होगी।
तभी तो मैं यों नंगे सर तेरे लिए अश्रुपात कर रही हूँ।'

पत्नी की ओर से मृत पति के लिए—

जमा वाक द सर खो स्तावो
ज़का बादशाह राता गदावो
ज बादशाहत उमर खो दावो

—'मेरे सर पर केवल मात्र तेरा ही अधिकार था।
तेरे समीप रहती हुई मैं बादशाहों को भी फ़कीर ही समझती थी।
वह मेरी बादशाह की उमर थी।'

बहन की ओर से मृत भ्राता के लिए—

ऐ जमा रोरा दा जमान
त लमुंग श्वे रवाग
प तरफ़ द गोरस्तान
हाय अफ़सोस अरमान अरमान

—'ऐ मेरे भाई!
हमें यहाँ छोड़ कर अभी
तूने कब्रिस्तान की ओर प्रस्थान कर दिया है।
शोक है, तेरे लिए शोक है!'

पठान-गीत के साहित्यिक विकास का सिंहावलोकन करते हुए यहाँ यह कह देना आवश्यक ही प्रतीत होता है कि 'लंडई', 'लोबा', 'चार-बैता', 'रुबाई', 'ग़ज़ल' और अन्य सामान्य पद्धतियों के गीतों का रचना-काल अभी शेष नहीं हुआ। पठान-प्रतिभा आज भी एक ज़िन्दा चीज़ है।

१६

शहनाई के स्वर

विवाह के उत्सव मैंने बहुत देखे। बीसियों बार बारात में शामिल हुआ हूँ। विवाह के गान मैंने एक खास चाव के साथ सुने हैं और मुझे याद है कि स्वयं अपने विवाह में मैंने अपने घर पर गान करती स्त्रियों के सम्मिलित स्वरों में अपने स्वर जोड़ने से भी सकोच न किया था।

श्री काका कालेलकर ने अपने एक ग्रन्थ में उस गान की प्रशंसा की है, जिसमें कि एक गुजराती नववधू ने चूनरी रंगने वाले पड़ोसी रंगरेज से संवाद किया है। मैं इस गीत को फिर से सुनूंगा। रंगरेज तो विवाह-गान में प्रान्त-प्रान्त में अभिनन्दित हुआ है। पंजाब के एक गान में वर की बहन रंगरेज से वर की पगड़ी शीघ्रतापूर्वक रंग लाने के लिये कहती सुनायी पड़ती है; एक गीत में मां ने गाया है।

> ललारी बेटड़ा नी मेरे लाड़ले दा यार,
> ओहदा बहुत प्यार;
> रंग रंग लियावे जोड़े चुनरियां।

—"रंगरेज का पुत्र मेरे लाड़ले पुत्र का मित्र है,
उसके साथ उसका बहुत प्यार है,
रंगरेज का पुत्र जोड़े और चुनरियां
रंग-रंग कर लाता है।"

यह 'घोड़ी'। गीत वर के घर में विवाह से कई सप्ताह पहले ही आरम्भ

हो जाता है। रंगरेज सिए वर के लिये ही वस्त्र रंगकर नहीं लाता; वधू के लिए चुनरियाँ भी रंगकर लाता है, जिन्हें कि वर विवाह के समय भेंट करेगा।

मुझे अपने ग्राम के रंगरेज की भावपूर्ण मुस्कराती आँखों की याद है जब कि वह मेरे विवाह में वस्त्र रंगकर हमारे घर आया था। उस समय मेरी म का यह गीत कितना सजीव हो उठा था। एक पंजाबी विवाह-गान में माँ कहती है—

तेरे बावल की हरीरा बगीची
हरियाला तोता बोलता
तोतिया तेनूँ पलामां कच्चा दूध
सगन चंगा बोलियो
बीबी करम लिखिया सो होवे
हंसा वर टोलिया

—'तेरे पिता की हरी-भरी फुलवाड़ी है,
उसमें हरे रंग का तोता बोल रहा है।
हे तोते! मैं तुझे कच्चा दूध पिलाऊँगी!
तू हमारी कन्या को मंगलकारी आशीर्वाद दे।
हे पुत्री! होगा वही, जो तेरे भाग्य में है।
हमने तेरे लिए हंस जैसा वर चुना है।'

विवाह के आनन्द और मंगल-कामना में तोते को शामिल करने की भावना मानव और प्रकृति के प्रथम-मिलन की स्मृति लिये हुए है। एक पंजाबी गीत में दुलहिन कहती है—

तूँ चढ़वे पुन्नों दे चन्द
महाँ दे नन्द
मैं तेनूँ देखन आई
देख वन्ना मेरे हत्थ रँगीले
मैं हत्थ मैंहदी लाई

—'उदय हो, पूर्णमासी के चन्द्रमा।
ओ महान् आनन्द!
मैं तुझे देखने आई हूँ।
देख ओ वर, मेरे हाथ रँगीले हैं।
मैंने अपने हाथों में मेहदी लगाई है।'

एक पंजाबी गीत में दुलहिन के छुपने की चेष्टा की ओर संकेत किया गया है—

लुक जा लुक जा नीं राधा
कृष्ण ढँडौड़े आये
नीं मैं लुकी न रहसाँ
धर्मी बावलने सदावे
लुक जा लुक जा नीं राधा
कृष्ण घोड़ी चढ़ आये

'छिप जा, छिप जा, हे राधा
कृष्णजी तेरे साथ विवाह करने के लिए आ गये।'
'मैं छिपी न रहूँगी।
वे मेरे पिता के बुलाने से आये हैं।'
'छिप जा छिप जा, ओ राधा!
कृष्णजी घोड़ी पर चढ़कर आ गये हैं।'

पंजाब की पुत्री अपने पिता की शिकायत करने से संकोच नहीं करती—

सब धन दित्ता बावल सब धन दित्ता
इक न दित्ता अरबी घोड़ा
श्री रंग कानियाँ मारे।
सब धन दित्ता बावल सब धन दित्ता
इक न दित्ती बूरी मज्झ
सौहरा कानियाँ मारे

—'सारा धन दिया,
मेरे पिता ने मुझे अपना सारा धन दे दिया।
एक अरबी घोड़ा नहीं दिया।
श्रीरंग मुझे ताने दे रहे हैं।
सारा धन दिया,
मेरे पिता ने अपना सारा धन दे दिया,
एक भूरे रंग की भैंस नहीं दी
ससुरजी मुझे ताने दे रहे हैं।'

जिस दिन पंजाब की इस पुत्री का जन्म हुआ था उस दिन का चित्र इस प्रकार अंकित किया गया है—

जिस दिन बाली बेटी ने जन्म लिया

सोच पई सब परिवारजी
तुसीं क्यों रे बावल सीस नमाया
भाग लियाई कन्या नालजी
हत्थ फड़ सोटी बावल तन कर धोती
वर जो देखन जाईयो
उरे न देखीं बावल परे न देखीं
देखीं बिच्च लाहौरजी
सस्स भी देखी सौहरा भी देखी
बावल देखीं सब परिवारजी
मज्झां भी देखीं बावल घोड़े भी देखीं
देखीं चंगा कुल्ल कारजी

'जिस दिन कन्या ने जन्म लिया
सारा परिवार सोच में पड़ गया
तुमने सिर क्यों झुका लिया पिताजी ?
कन्या अपना भाग्य अपने साथ लाई है,
हाथ में लाठी ले लो, धोती पहन लो,
जाओ,
मेरे लिए वर ढूँढ लाओ।
न अधिक समीप देखना, न दूर देखना,
लाहौर के बीच देखना
सास भी देखना, ससुर भी देखना
पिताजी, सारा परिवार देखना
भैंसें भी देखना, घोड़े भी देखना।
सारा कारोबार देखना !'

वर ढूँढने के चित्र पंजाबी विवाह संगीत की विशेषता है--

बीबी बावल चतुर सुजान
सजादा वर टोलिया
माये केहो जा घर वार
केहो जा चलन चाल
सजादा वर टोलिया
बीबी हस्त भूलन ओहदे वार
घोड़े लक्ख चार

सजादा वर टोलिया
बीबी आप घोड़े असवार
नौकर बेशुमार
सजादा वर टोलिया
बीबी कागज़ाँ दा ओह लखईया
रुपईया ओहदा रोज़
सजादा वर टोलिया

—'हे पुत्री ! तेरा पिता बहुत चतुर और सज्जन है
उसने तेरे लिए शाहज़ादा वर तलाश किया है ।'
'हे माँ ! उसका खानदान कैसा है ?
उसका चरित्र कैसा है ?
शाहज़ादा वर तलाश किया है !'
—'हे पुत्री, उसके दरवाज़े पर हाथी झूमते हैं ।
उसके पास चार लाख घोड़े हैं ।
शाहज़ादा वर तलाश किया है ।
वह स्वयं घोड़ेपर सवार है ।
उसके सेवक बेशुमार हैं ।
शाहज़ादा वर तलाश किया है
हे पुत्री कागज़ों का वह लेखक है ।
हर रोज़ एक रुपया कमा लेता है ।
शाहज़ादा वर तलाश किया है ।'

होली का गीत पंजाबी विवाह-संगीत में विषाद के स्वर भर देता है—

रक्खला बावल रक्खला वे
तूँ अज्ज दे रैन कटा
बावल तेरा पुन्न होवे
किक्कुन रक्खलाँ बेटिये नीं
मैं सज्जन सदा ले आप
दिल धर न रो बेटिये
माता दी मैं लाडली
मैंनूँ बावल दित्ता दूर
गलियाँ ताँ होईयाँ भीड़ियाँ
अंगन होया, परदेसजी

वे सुन बावल मेरे
अज्ज दी रैन कटा
—'रख लो, पिताजी, रख लो,
आज की रात यहीं रख लो,
पिताजी, तुम्हारा पुन्न होगा'
'कैसे रख लूँ पुत्री ?
मैंने स्वयं साजन बुला लिये
धैर्य रख, रो मत, पुत्री !'
'मैं अपनी माँ की लाड़ली थी।
पिता ने मुझे बहुत दूर दे दिया।
यहाँकी गलियाँ अब मेरे लिए तंग हो गई हैं।
यह आँगन अब परदेश के समान है।
सुनो पिताजी,
मुझे आज की रात रख लो।'

बंगाल के गाँवों में वर-वधू के पाशा खेलने का दृश्य अंकित किया गया है। वर-वधू को राधाकृष्ण का रूप दे दिया गया है। यदि कृष्ण हार जायगा, तो राधा को अपनी बंसरी दे देगा—यह शर्त रखी गई है। राधा हार जायगी, तो अपना मुक्ताहार कृष्ण को दे देगी। गीत के मौलिक शब्द बंगाली विवाह-गान की चिर-नवीन सम्पत्ति है—

राधा कृष्ण खेले पाशा आनन्द अपार
पाशाय यदि हारे भगवान
मोहन बांशी करबे दान
राधा हरले दिवे मुक्ताहार
राधा कृष्ण खेले पाशा आनन्द अपार

गीत के अन्त में हम कृष्ण को हार के दुःख से अश्रुपात करते पाते हैं; राधा और उसकी सखियाँ जीत की खुशी में फूली नहीं समातीं। हँसी-दिल्लगी के ऐसे गान विवाह के समय एक अपना ही वातावरण रच लेते हैं।

मारवाड़ के एक गान में कन्या अपने बाबा से योग्य वर चुनने की प्रार्थना करती है। सम्पूर्ण गान एक छवि बनकर हमारे सम्मुख आया है—

काचा दाख हेठ बनडी
पान चाबे, फूल सूँघे
करे ये बाबाजी सूँ बीनती

बाबाजी देस देता परदेस दीजो
म्हारी जोड़ी को वर हेर जो
हँस खेल ये बाबाजीरी प्यारी बनड़ी
हेर्यो ये फूल गुलाब को
कालो मत हेरो, बाबाजी, कुलने लजावे
गोरो मत हेरो, बाबाजी, अंग पसीजे
लांबो मत हेरो, बाबाजी, सांगर चूंटे
ओछो मत हेरो, बाबाजी, वन्यू बतावे
ऐसो वर हेरो
कासी को वासी
बाई के मन भासी
हस्ती चढ़ आसी

—कच्चे अंगूर की लता के नीचे दुलहिन पान चबा रही है, फूल सूँघ रही है।

अपने बाबा से विनय कर रही है
'बाबा देश, के बजाय चाहे मुझे परदेश में कर देना।
पर मेरी जोड़ी का वर देखना।'

'हँस खेल, बाबा की प्यारी दुलहिन, मैंने तेरे लिए गुलाब का फूल देख लिया।

'बाबा, मेरे लिए काला वर न ढूँढना,
वह कुल को लज्जित करेगा।
बाबा, मेरे लिए गोरा वर न ढूँढना।
वह जरा-सा काम करने पर पसीना-पसीना हो जायगा।
बाबा, मेरे लिए लम्बा वर न ढूँढना।
वह केवल 'साँगर' की फलियाँ वृक्ष से उतारने भर का काम देगा।
बाबा, मेरे लिए ठिगना वर न ढूँढना।
सब उसे बौना बतायेंगे।
ऐसा वर ढूंढना।
जो काशी का वासी हो।
वह बाई के मन भायेगा
वह हाथी पर चढ़कर आयेगा।'

इन गीतों का सम्बन्ध उस युग से है जब कि कन्या से स्वयंवर की स्वतन्त्रता छिन गई थी ; परन्तु कन्या से उसका मत पूछने का ध्यान जरूर रखा जाता था। प्रान्त प्रान्त मे इस प्रकार के गीत प्रचलित हैं। गुजरात की कन्या ने भी अपने दादाजी से अपना मत कहा—

'मेरे लिए ऊँचा वर न ढूँढना, दादाजी,
वह ऊँट कहलायेगा।
मेरे लिए मोटा वर न ढूँढना, दादाजी,
वह भोंदू कहलायेगा।'

इन गीतों में कन्या के हास्य रस का भी कुछ आभास मिल जाता है। इनमें कविता की बारीकियाँ भले ही न हों, इन में युग-युग की अभिव्यक्ति अवश्य मिलती है।

अभी उस दिन मेरे पड़ौस में कलकत्ते की एक लड़की का विवाह होने जा रहा था। शहनाई के स्वरों पर मानो एक पुरातन बंगला गान तैरने लगा, जिसमें कि वधू के ससुराल जाते समय का करुण चित्र पेश किया गया था—

'उधर माँ के अश्रु गिरते हैं,
इधर मेरी डोली काँपती है।'

डोली के समय का यह करुण-चित्र शहनाई के विषाद में समा गया।

धन्य हैं शहनाई के स्वर, जो अनेक कन्याओं को सुसराल के पथ तक ले आते हैं !
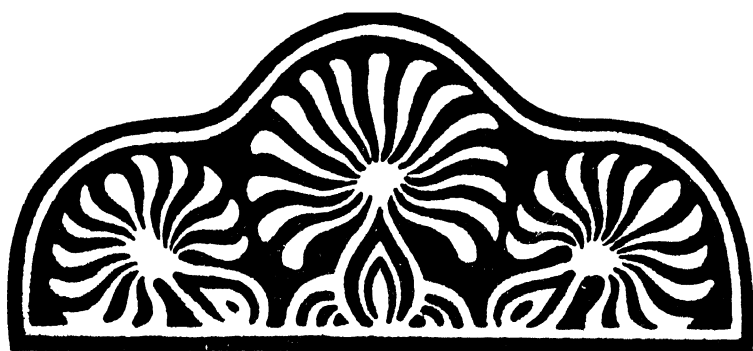
१७

मयूर और मानव

हिन्दुस्तान मयूर का अपना देश है। लंका और एशिया के कुछ अन्य प्रदेशों में भी प्रकृति ने मयूर के लिए स्थान बनाया है। और यहीं से मयूर यूरोप के चिड़ियाघरों में भी जा पहुंचा है।

मयूर का घोंसला अधिक सुन्दर नहीं होता। प्रायः भूमि पर ही मयूर अपना घोंसला बनाना पसन्द करता है। घोंसला बनाने में अधिक सहायता मयूरी किया करती है। पुराने खण्डहरों में भी मयूर का घोंसला देखने में आया है। मुझे याद है, बचपन में मैंने एक बार अपने घर के पास के एक भग्नावशेष में मयूर का घोंसला ढूँढ निकाला था।

मयूर अकेला विचरना पसन्द नहीं करता ; झुंड में उसे विशेष आनन्द आता है। मयूर की कुहू-ध्वनि उसके आन्तरिक आनन्द का संकेत करतीहै। आकाश पर बादल देखकर मयूर का चित्त आह्लादित हो जाता है। यह भी विख्यात है कि जब मयूरों का झुंड सम्मिलित स्वर से कुहकता है, तब इन्द्र का हृदय धरती को सावन की झड़ियों से आप्लावित कर देने के लिए उत्सुक हो उठता है। एक झुंड में कई मयूरनियाँ रहती हैं। जब मयूर नाचते हैं, तो मयूर-नियाँ उसकी भाव-भंगी की ओर निहारती जाती हैं। लोक-साहित्य यह भी बताता है कि नृत्य की इतिश्री के समय मयूर के आँसू झरने लगते हैं, और मयूरनियाँ उन्हें पी जाने में अत्यन्त होशियारी से काम लेती हैं। जो मयूरी आँसुओं को भूमि पर गिरने से पहले ही पी लेती है, वह अपने अण्डे से नर-

शिशु की उत्पत्ति करती है, और जो भूमि पर गिरा हुआ आँसू उठाती है, वह आगे चलकर अपने अण्डे से मादा-शिशु निकालती है। सम्भवतः लोक-साहित्य ने संकोचवश वीर्य के स्थान पर आँसू शब्द का प्रयोग किया है।

एक समय में मयूरी आठ-नौ अण्डे देती है; और पालतू मयूरी के अण्डों की संख्या इससे कहीं अधिक होने लगती है। प्रति वर्ष मयूरी एक ही अण्डे से शिशु निकालती है। बाकी अण्डे यों ही खराब हो जायँ, उसे ज़रा परवाह नहीं रहती। और अण्डे से शिशु निकालने के लिए मयूरी को लगातार मास-भर सेना पड़ता है। एक बात और ध्यान में रखने योग्य यह है कि शुरू के दो वर्षों में नर और मादा मयूर का रूप एक समान रहता है; इसके बाद नर के पंख बढ़ने लगते हैं।

मयूर की आयु काफी होती है। उसकी तीस-पैंतीस वर्ष की आयु अत्युक्ति-पूर्ण नहीं है, यह बात मैंने एक बार अपने ग्राम के एक वयोवृद्ध अनुभवी किसान से सुनी थी।

शिव-पुत्र स्कन्द ने (जो कृत्तकाओं द्वारा पोसे जाने के कारण कार्तिकेय कहलाए और जो तारकासुर का अन्त करने के पश्चात् युद्ध-देव के रूप में परिणत हो गए) एक दिन मयूर को अपनी सवारी बनाया था। कार्तिकेय को लेकर मयूर किस मस्तानी चाल से चला होगा, पौराणिक आख्यानों की किसी छुपी तन्त्री से यह सुन सकने के लिए मैं उत्सुक हूँ।

यह ठीक है कि सिकन्दर की राजनैतिक विजयों से पहले यूनान ने मयूर बहुत कम देखे थे[1]; पर पुरातन यूनानी आख्यान बताते हैं कि ऋतुओं की देवी हेरा, जिसका विवाह आकाश के देवता जेउस से हुआ था, मयूर से बहुत स्नेह रखती थी। उसका यह प्रिय पक्षी उसके भक्तों की दृष्टि में विशेष श्रद्धा का पात्र हो उठा था। एक बार जेउस इयो नामक कन्या पर, जो हेरा की आराधना किया करती थी, मुग्ध हो गया। हेरा को इसका पता चल जाने पर ज़ेउस ने इयो को कलोर गाय के रूप में परिणत कर दिया। हेरा का सन्देह बराबर बना रहा; और उसने 'आरगुस' को इस गाय की देख-रेख पर नियुक्त कर दिया। आरगुस ने पूरी एक सौ आँखें पाई थीं और एक समय में केवल उसकी दो आँखों को ही निद्रा आती थी। हेरा को पूर्ण आशा थी कि आरगुस के पहरे में इयो सुरक्षित रहेगी; पर ज़ेउस ने एक चाल चली। उसके आदेशानुसार 'हरमस' ने अपने स्वर्गीय संगीत-द्वारा आरगुस की सब आँखों को सुला दिया

1 Encyclopedia Britanica (11th. edition)

और फिर धोखे से उसका वध कर दिया। हेरा को आरगुस की मृत्यु से बहुत व्यथा हुई, और उसने उसकी सेवा के अभिनन्दन-स्वरूप उसकी आँखें अपने प्रिय पक्षी मयूर के पखों पर चित्रित कर दीं। यूरोप में मयूर के पंख घर में रखना प्रायः अशुभ समझा जाता है। बहुत सम्भव है कि यह लोक-विश्वास इस यूनानी कथा के आधार पर बना हो; कभी न सोनेवाली—चिर-जाग्रत्—आँखों का सम्बन्ध शायद अशुभ दृष्टि (evil eye) से स्थापित कर लिया गया हो।

'भगवान्, मयूर और पातक' शीर्षक एक लोक-कथा, जिसने यूरोप के लोक-जीवन को छू लिया है, बतलाती है कि जब भगवान् ने पहले-पहल मयूर की रचना की, तो उसके सुन्दर पंख देखकर सातों पातक जल उठे। उन्होंने भगवान् की बेइन्साफ़ी की शिकायत की। भगवान ने उनकी शिकायत सुनी और व्यंगपूर्वक कहा—'हाँ, तुम ठीक ही तो कहते हो। मुझ से बेइन्साफ़ी हो गई है, क्योंकि मैंने तुम्हें तुम्हारे अधिकार से ज्यादा दे दिया। तुम्हें रात का काला अंचल आसरा देता है; तुम रात के अंचल से भी अधिक काले हो जाओ।' इसके पश्चात् भगवान् ने 'ईर्ष्या' की पीली आँख, 'ध्वंस' की लाल आँख, 'डाह' की हरी आँख और अन्य पापों की आँखें मयूर के पंखों पर चित्रित कर दीं और अपनी सुन्दर सृष्टि के इस दूल्हे को खुला विचरने के लिए छोड़ दिया। प्रत्येक पातक तब से मयूर के पीछे भागने लगा; पर अपनी आँख फिर से प्राप्त कर सकने की इच्छा कोई भी पाप पूर्ण नहीं कर सका।[1] जहाँ-जहाँ यह कथा प्रचलित हुई है, जनता का यह विश्वास अवश्य पक्का होता गया है कि जिस घर में मयूर के पंख मौजूद हों, वहाँ पातकों के प्रवेश का भय बराबर बना रहता है।

पर हिन्दुस्तान में मयूर के पंख सदा शुभ समझे जाते हैं। बाहर खेत में मयूर के पंख गिरे पाकर मुझे कितना चावभरा आनन्द आता था। बचपन के वे बीते दिन, जब मैं इन पंखों को अपनी पुस्तकों के पास सजाकर रख देता था, मुझे भूले नहीं हैं। एक बार तो मैंने साठ-सत्तर पंख जमा कर लिये थे, और उन्हें अजब शान से अपनी पीठ पर बांधकर मुझे छत पर नाचते देखकर मेरा छोटा भाई दौड़ा-दौड़ा माँ से जाकर बोल उठा था—'माँ, भइया मयूर बना नाच रहा है।'

एक पुरातन प्रथा के अनुसार दक्षिण-अफ्रीका की काफ़िर जाति में यह विश्वास ज़ोरों पर रहा है कि यदि मयूर का पंख जलाकर इसका धुआँ नवजात

1. Cox, Introduction to folklore (1897), P. 17.

शिशु की नाक में छोड़ा जाय, तो वह शिशु बड़ा होने पर मयूर की भाँति कभी बादल की गरज से या वज्र की कर्णभेदी कड़कड़ाहट से घबरायगा नहीं ।[1]

पंजाब में साँप का विष उतारने के लिए कहीं कहीं मयूर का पंख औषधि के रूप में प्रयुक्त किया जाता है[2] ; पूँछ के पास का पंख कूटकर तम्बाकू की तरह पीने से विष का असर कम होता-होता एकदम दूर हो जाता है, यह बात विख्यात है ।

उड़ीसा प्रान्त की रियासत मयूरभञ्ज में एक पुरातन आख्यान प्रचलित है, जिसके अनुसार वहाँ के प्रथम राजा की सृष्टि मयूरी के अण्डे से हुई मानी जाती है, इसी से वहाँ के राजा के हस्ताक्षर का सांकेतिक चिह्न मयूर की छवि में परिणत हो उठा था । मयूर मारना वहाँ कानून के अनुसार मना चला आता है ।[3]

भीलों की एक उपजाति, जो 'मयूरी' कहलाती है, मयूर के प्रति अपनी पुरातन आस्था को बराबर कायम रखती चली आ रही है । विवाह आदि शुभ अवसरों-पर वे मयूर की मूर्त्ति की पूजा करने से कभी नहीं चूकते । मयूर की रक्षा करना वे अपना प्रथम कर्म मानते हैं, और उनकी स्त्रियाँ वन में मयूर को देखकर घूँघट निकालकर गुजरती हैं । और उनका एक पुरातन विश्वास यह भी है कि मयूर के पद-चिह्नों पर पैर रखकर चलना मयूर के प्रति अपनी श्रद्धा को क्षीण करने के बराबर है । ऐसा करने से वे निश्चय ही किसी बीमारी या विपत्ति के शिकार होंगे, ऐसी उनकी धारणा है ।

मद्रास प्रेसिडेन्सी में उदयगिरि एजेन्सी के अन्तर्गत कोंढ नामक आदिम जाति का एक देवता, जो ऋतु और फसल का संचालन करता है, एक दिन मयूर की मूर्त्ति पा उठा था ।[4] कोंढों का यह देवता—'थेढ़ा पेन्नू'--अपने सम्मुख मनुष्य की बलि माँगा करता था । एक लम्बा बाँस (जिसके ऊपरी सिरे पर मयूर के पंख बँधे रहते थे) और बलि दिये जाने वाले व्यक्ति को साथ लिये कबीले के लोग बाजे-गाजे के साथ पहले ग्राम का और इसकी चारों सीमाओं का चक्कर काटते थे । बाजा बजाने वाले आगे रहते थे । जहाँ से लोग चलते थे, वहाँ वापस पहुँचकर मयूर के पंखों-

1. Dudley Kidd, Savage childhood (London 1906) P. 20.
2. Crooks, Popular Religion and Folklore of Northern India, P. 212.
3. The Native Cheifs of India and their princes (1894), P. 45.
4. Sarat Chandra Mittra, The Peacock in Asiatic Cult and Superstition, (Anthropological Society of Bombay 1912)

वाला बाँस ग्राम-देवता 'ज़करी पेन्नू' के पास रख दिया जाता था। तीन बड़े पत्थर, जो पास-पास रखे रहते थे, ग्राम-देवता का चिह्न समझे जाते थे। इसके समीप ही मोर-देवता 'थेढा पेन्नू' की मूर्त्ति, जो पीतल से बनती थी, दफ़नाई रहती थी। यहाँ पहले एक वाराह की बलि दी जाती थी। वाराह का रक्त बहकर पास के ताज़ा खुदे गड्ढे में चला जाता था; फिर शीघ्र ही वह व्यक्ति, जिसकी बलि देनी होती थी और जिसे सम्भवतः कोई नशा पिलाकर बेहोश कर दिया जाता था, बलपूर्वक धड़ाम से उस गड्ढे में गिरा दिया जाता था। वहाँ गड्ढे में उसका मुँह दबाकर कीचड़ में घुसा दिया जाता, और जब तक उसकी जान न निकल जाती, वह व्यक्ति छटपटाता रह जाता था। इस बीच में खूब बाजा बजता था। इसके बाद देवता का पुजारी, जो 'ज्ञानी' कहलाता था, उस पुरुष के शरीर से एक मांस का टुकड़ा काटकर विशेष संस्कार के साथ ग्राम-देवता और मयूर-देवता के बीच में धरती माता की खुशी के निमित्त दफ़ना देता था। फिर प्रत्येक ग्राम के व्यक्ति उसके शरीर का जरा-जरा भाग अपने-अपने ग्राम में ले जाते थे और इसी संस्कार के साथ उसे वहाँ के ग्राम देवता और मयूर-देवता के बीच की भूमि में दफ़ना देना होता था।

लोक-विश्वास ने हिन्दुस्तान में मयूर मारने तथा इसका मांस खाने का निषेध कर रखा है; पर इस देश में कहीं भी मयूर मारा या खाया न जाता हो, यह बात नहीं है। यूरोप में भी पहले शाही सहभोजों में मयूर का मांस खाने का रिवाज ज़ोरों-पर रहा है—खासकर मयूर के बच्चों का मांस अत्यन्त स्वादिष्ट समझा जाता था। पर इधर यह रिवाज़ नहीं रहा, क्योंकि मांस के ज़ायके के सम्बन्ध में राय बदल गई है। रोम में पहले-पहल 'होरटेंसियस' ने मयूर का मांस खाने की प्रथा चलाई थी; फिर दो रोमन सम्राटों ने मयूर की जीभ तथा इसके मग्ज़ को अपने आमिष भोजन में चुन लिया था।[1]

२

बचपन में मैंने 'बोपोलूची' की कथा सुनी थी; मयूर इस कथा में मनुष्य की भाषा में बोला था। सखियों के साथ बोपोलूची कूएँ पर पानी भर रही थी। वह अनाथ थी; पर सौन्दर्य में उसकी सब सखियाँ उसके सम्मुख फीकी पड़ गई थीं। बारी-बारी से हरएक ने अपने चचा के आने का कल्पना-चित्र खींच डाला। पहले बोपोलूची चुप रही; फिर वह भी कहने लगी कि शीघ्र ही उसका चचा भी उप-हार-लेकर उसके घर आयेगा। अगले रोज ही एक बनजारा, जिसने छुपकर कूएँ के

1. The Encyclopedia Americana (1909)

समीप बोपोलूची की बात सुन ली थी और उसके सुन्दर मुखपर मुग्ध हो गया था, उसके घर आ पहुँचा। उसे उपहार देते हुए वह बोला—'मैं तुम्हारा चचा हूँ और तुम्हें अपने घर लिवा ले जाने के लिए आया हूँ।' बोपोलूची उसके साथ चल पड़ी। रास्ते में एक मयूर मिला, वह बोला—'ओरी बोपोलूची, जिस पुरुष के साथ तुम जा रही हो, वह तुम्हारा चचा नहीं है, वह तो एक ठग है।' इस पर बनजारे ने कहा—'ओ बोपोलूची, तुम मयूर की बात मत सुनो; इस देश के मोर तो योंही शोर मचाया करते हैं।' कथा आगे बढ़ती गई थी; उस ठग बनजारे के घर पहुँचकर और उसे धता बताकर बोपोलूची बाल-बाल बच आई थी। पर मेरा ध्यान तो मयूर के शब्दों पर ही टिक गया था। मयूर मनुष्य की भाषा में कैसे बोल सका था? यह प्रश्न तब मेरे हृदय में न उठा था; मैं तो यही सोचने लगा था कि बोपोलूची ने उपकारी मयूर की बातका महत्त्व समय पर क्यों न समझा? लोक-कथा में स्थान स्थान पर मोर ने प्रवेश किया है। प्रत्येक रानी की यह दृढ़ आस्था थी कि जब तक उसका पाला हुआ मयूर सुरक्षित है, उसका महल सांसारिक संकटों से एकदम अछूता रहेगा। रानी कोकलाँ ने एक नहीं, पाँच मोर पाल रखे थे। कहीं कहीं लोक-कथा पाले हुए मयूर के मारे जाने पर रानियों के आँसुओं से भीग गई थी।

'मयूरी और गीदड़'की दुःखान्तक कथा, जिसकी करुणा मैं बचपन में अधिक न अनुभव कर सका था, पंजाबी लोक-साहित्यमें एक विशेष स्थान रखती है।

एक मयूरी और एक गीदड़ में मित्रता होगई। दोनों एक साथ भोजन करते। मयूरी बेर खाती; गीदड़ शिकार मारकर लाता। मित्रताके पहले दिन ही गीदड़ ने देखा कि मयूरी बेरों की गुठलियाँ बो रही है। 'यह क्यों?'—उसने पूछा।

मयूरी ने उत्तर दिया—'मैं सयानी माँकी बेटी हूँ, मैं सदा ऐसा किया करती हूँ। गुठलियाँ उग आती हैं और बेर वृक्षोंकी वृद्धि करके मैं अपने अहसान से बहुत हद तक बरी हो जाती हूँ।'

गीदड़ ने उस दिन एक मेमना खाया था। उसने भी मेमने की अँतड़ियाँ बो दीं, और इसे अपनी कुलरीति बताकर उसने गर्व से सिर ऊँचा कर लिया। गुठलियाँ उग आईं। अँतड़ियों से एक भी कोंपल न निकली। मयूरी ने मज़ाक किया।

'अँतड़ियाँ उगने में कई मास चाहिएँ, यह मेरा अनुभव है।'—गीदड़ बोला।

'मास नहीं, वर्ष कहो।'—मयूरी ने कहा।

एक दिन गीदड़ को कोई शिकार न मिला। मोरनी बेर खाती हुई बोली—

'अँतड़ियाँ उगीं नहीं, और बेर तुम खाओगे नहीं !'

गीदड़की आँखें लाल हो गईं । 'बेर न खाऊँगा, न सही; मैं बेर खानेवाली को तो खा सकता हूं !'

गीदड़ यह कहकर मोरनी पर झपट पड़ा और उसे खा गया। मयूरी की यह करुण कथा लोक-गीत की वस्तु क्यों नहीं बन पाई, यह बात अभी तक मेरी समझ में नहीं आई ।

पंजाब की एक लोक-कथा में मयूर और मैना में मामा-भांजी का सम्बन्ध बताया गया है। मैना को कहीं से विवाह में शामिल होने का निमन्त्रण मिला । उसने अपनी कुरूपता का विचार किया । फिर वह मोर के पास गई और बोली-- 'मामा, मेरे साथ ज़रा अपनी टाँगें बदल लो, तो मैं विवाह देख आऊँ ।' मयूर ने मैना की प्रार्थना स्वीकार करली। और फिर जब मयूर ने सोचा कि वे काली और छोटी टाँगें उसके सुन्दर शरीर को एकदम कुरूप बनाये डालती हैं, तब वह मैना के वापस आने के दिन गिनने लगा। मैना ने विवाह से लौटने पर मयूर को टाँगें लौटाने से इनकार कर दिया। तब से मयूर बराबर छटपटाया करता है, 'मैना !' मैना !' एक हूक-सी उसके हृदय में उठती है ; उसका करुण स्वर इसका साक्षी है। और जब मयूर नाचता है, तब अपने पैरों का ध्यान करके वह कहता है— 'भगवान् ने मुझे इतना सुन्दर बनाया ; पर मेरे पैर कितने कुरूप हैं !'[1]

मध्य-प्रान्त की एक लोक-कथा में[2] एक मयूरी ने अपनी गोद ली हुई चींटी की मृत्यु पर अपनी करुणा के प्रसार में बटवृक्ष, काग, हाथी, हिरन, नदी, खेत, राजा इत्यादि को भी अपने साथ शामिल करने का यत्न किया है। चींटी ने एक दिन मयूरी के लिए 'अरसैलू'[3] तलने का विचार किया। मयूरी ने बहुत मना किया ; पर उसने एक न मानी । मयूरी बाहर गई हुई थी ; अरसैलू तलते-तलते चींटी खौलते तेल में गिरकर जल मरी । जब मयूरी को पता चला, वह बरगद-तले बैठकर शोकाश्रु बहाने लगी। बरगद ने कहा— 'रोज़ तो तुम खुश रहती थीं, आज ये आँसू क्यों ?' मयूरी ने उत्तर दिया— 'चींटी मर गई। मयूरी व्यथित है। बरगद रोता है !' बरगद रो पड़ा। रोते

1. **रब्ब ने मैंनूँ ऐन्नां सुन्दर रचिया पर मेरे पैर किन्ने कोझेनें !**

2. The Indian Antiquary (Janu. 1901), M. N Venktaswami, Folklore in the Central Provinces of India.

3. **एक विशेष पकवान ।**

बरगद से काग ने आकर दुःख पूछा और उसे भी शामिल कर लिया गया। इसी तरह कहानी आगे बढ़ती गई है। जिस किसी ने इस कहानी के विषय में जिज्ञासा की, उसके साथ कोई-न-कोई घटना हो गई, और अन्त में इस कहानी को रानी से पैडरल्लु पैड्म्माने पूछा, तब रानी ने ब्योरेवार सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वह कथा इससे आगे न बढ़ी।

मयूर शायद यह नहीं जानता कि उसने एक दिन हिन्दुस्तान के काव्य में चौबीस अक्षरों की 'मयूरगति' नामक वृत्त और 'मयूरसारिणी' नामक तेरह अक्षरों के एक छन्द का निर्माण करने के लिए यहाँ के कवियों को प्रेरणा दी थी।

हिन्दुस्तान के लोक-गीत में मयूर ने प्रांत प्रांत में, गाँव-गाँव में, स्थान पाया है। मयूर की कुहुक से लोक गीत में एक नया ही रंग आ गया है, एक नया ही अन्दाज़। मयूर तो अब भी पंख फैलाकर नाचता है, उसकी शाही कलगी अब भी लोक-जीवन को छू-छू जाती है। गाँव की स्त्री अब भी, पुरातन-काल की भाँति ही, मयूर का नाच देखने के लिए उत्सुक रहती है, और पुरुष भी।

गाँव वाले कहते हैं, मयूर ने ही पहले-पहल मनुष्य के हृदय में नृत्य कला का बीज बोया था। उसी ने पहले-पहल लोक-गीत को नृत्य गान का ताल प्रदान किया था। और यह तो ठीक ही है कि मयूर के साथ मनुष्य का हज़ारों वर्षों का इतिहास गुँथा हुआ है।

३

मयूर नाच रहा था। नीलम की आभा उसके पंखों पर निसार हो रही थी। मयूरी फूली न समाती थी। मयूर का यह रूप आज उसने पहली बार देखा था। पंखों के चमकदार चित्र कितने सजीव हो उठे थे! जैसे उन्हें अपनी कहानी सुनाने का शौक हो आया हो।

"प्रेम का यह उन्मेष किस लिए है?" मयूरी ने पूछा।

एकाएक श्यामल मेघ गरज उठे। मयूरी ने अपना प्रश्न दोहराया नहीं। वह अपने सखा से गले लगने के लिए आगे बढ़ी। लोक कवि ने यह दृश्य देखा। वह बोला—"अब मैंने समझा कि सृष्टि में नृत्य के लिए इतना स्थान क्यों है।"

और लोक-गीत मयूर का अभिनन्दन करने लगा।

मयूर-सम्बन्धी प्रथम लोक गीत, जिसने पंजाब में मेरा ध्यान खींचा था, मुझे आज भी याद है। एक ग्राम्य-महिला मयूर के पंखों से कत्तनी[1] बनाने के लिए उत्सुक हो उठी थी; पर इतने पंख कहाँ से आते? वह चाहती थी कि कोई मयूर मार दिया जाय। और उसे जो उत्तर मिला, वह लोक-गीत बन गया—

१. पूनियाँ और कुकड़ियाँ रखने की एक विशेष पिटारी।

असाँ मोर दा पाप नीं लैणां
कानेयाँ दी बनालै कत्तनी

'हम मयूर मारने का पाप न लेंगे,
तुम मूँज की सींकों से 'कत्तनी' बना लो।'

अभी-अभी मैंने बर्मा के नवीन झंडे पर मयूर का चित्र देखा है। बर्मा-द्वारा मयूर का यह अभिनन्दन एक विशेष महत्त्व रखता है। क्या बर्मी लोकगीत ने मयूर का बखान न किया होगा?

राजस्थानी लोकगीत ने बार-बार मयूर के लिए द्वार खोला है। हरियाली तीज के अवसर पर नैहर जाने का स्वप्न देखती हुई बहनों के गीत जिन्होंने राजस्थान में सुने हैं और 'म्हारा मोरला सावन लहर्‍यो रे!' की भावपूर्ण तान जिनके कानों में पड़ी है, वे ही कह सकते हैं कि मयूर से राजस्थानी लोकगीत ने कितना पाया है। अलस श्रुतिमधुर स्वरों में राजस्थान की कन्याएँ गाती हैं—

सावण तो लहर्‍यो भादवो रे
बरसे च्यारूँ कूँट
म्हारा मोरला सावन लहर्‍यो रे
सावण बाई गवराँ सास रे
कन्हैया वीरो लेणिहार
म्हारा मोरला सावन लहर्‍यो रे
सावणियो सुरंगलो रे लाल
आसी वीरो कन्हैया लाल पावणो
लासी बाई गवराँ ने बैलड़ली जुपाय
म्हारा मोरला सावण लहर्‍यो रे

'—सावन तो लहराने लगा और भादों भी
ओ मेरे मयूर! सावन लहराने लगा
सावन (आ पहुँचा) गोरी बहन ससुराल में है
मुझे लिवा जानेवाला है कन्हैया भइया
ओ मेरे मयूर! सावन लहराने लगा
कितना सुरंगा है यह सावन ओ लाल
कन्हैया भइया पाहुना (बनकर) आयगा
बैलगाड़ी जुतवाकर वह गोरी बहन को ले जायगा
ओ मेरे मयूर सावन लहराने लगा'

क्या वन के मयूर ने कन्या की भाषा समझ ली होगी? और फिर यह भी

बहुत युक्ति-संगत नहीं दीखता कि कन्या ने सावन लहराने का दृश्य मयूर से पहले देख लिया हो। मयूर आनन्द में आकर नाचा होगा, तब कहीं जाकर सावन का मेघ-भरा अंचल लहराकर बरसने लगा होगा। राजस्थानी कन्या न-जाने कब से मयूर को सम्बोधन करती आई है, जैसे वह यह आशा लिये गाती चली जा रही हो कि एक दिन मयूर मनुष्य की भाषा समझने लगेगा।

युक्त-प्रान्त के एक गीत में तीज पर नैहर जाने की चाह रखनेवाली एक कन्या ने माँ को यह सन्देश भेजा है कि उसके घर के पास के तालाब पर मयूर कुहकने लगा है; फिर उसने माँ को जेठा भाई भेजने से मना किया है, क्योंकि उसे यह भय है कि कहीं साले बहनोई मिलकर एक न हो जायँ और कहीं ऐसा न हो कि बहन को साथ लिये बिना ही भाई वापस लौट जाय; तालाब पर मयूर कुहकने की बात फिर से कहकर वह माँ से कहलवाती है कि छोटे भइया को भेजो, जो रो-गाकर बहन को लिवा ले जाने की आज्ञा पा सके।

मयूर के हाथ सन्देश भेजनेवाली एक कन्या का गीत भी कुछ कम भावपूर्ण नहीं। पंजाब में एक ऐसा गीत प्रचलित है—

उड्डा वे मोरा प्यारेया मोरा तेरी सोने चुंझ मढ़ायां
पहला सुनेहां मेरे पिया की देमें दूजा भैण भरामां
तीजा सुनेहां मेरियाँ सईयाँ की देमं जिन्हां ताल मैं खेडन जामां
चौथा सुनेहां मेरे जाव की देमें जिथ्थे मैं न्हामण जामां
पंजा सुनेहां मेरे पिप्पल की देमें जिथ्थे मैं पींगां पामां

—'ओ मोर ओ प्यारे मोर उड़कर जाना
सोने से मढ़वा दूँगी तुम्हारी चोंच
पहला सन्देश मेरे पिता को देना
दूसरा बहनों को और भाइयों को
तीसरा सन्देश मेरी सखियों को देना
जिनके साथ मैं खेलने जाती थी
चौथा सन्देश उस नाले को देना
जिस पर मैं नहाने जाती थी
पाँचवाँ सन्देश उस पीपल देना
जिस पर मैं झूला डालती थी'

सन्देश के शब्द मयूर को नहीं बतलाये गये, मानो मयूर स्वयं दुलहिन के हृदय से परिचित हो और बहन के नैहर का रास्ता खूब पहचानता हो। सन्देश पहुँचाने का पारिश्रमिक भी सुन्दर होगा; मयूर के पंख पर सोना मढ़वा दिया

जायगा। पर क्या मयूर पहले से ही कम सुन्दर है? न-जाने मयूर की टाँगों पर सोना मढ़वाने की बात क्यों नहीं सोची गई। क्या दुलहिन नहीं जानती थी कि मयूर को नाचते-नाचते अपनी कुरूप टाँगों का ध्यान आ जाता है, तो वह व्यथित हो उठता है?

एक दूसरे पंजाबी लोक-गीत में दुलहिन ने फिर मयूर को सम्बोधन करके गान किया है—

मोरां दी खातिर वे मैं बाग लुआया
अम्ब दी टीसी ते बैह जा
नक्क दी बेसर ते बैह जा
पैलां पा लै वे मोरा
तेरियाँ गुज्झियाँ वे रमजां
वे मैं दिल विच्च समझाँ
मोती चुग लै वे मोरा
मोरां दी खातिर वे मैं धौलर पुआया
धौलर दी टीसी ते बैह जा
नक्क दी बेसर ते बैह जा
पैलां पा लै वे मोरा

—'मयूरों के लिए मैंने बाग लगाया है
आम की चोटी पर बैठ जा
मेरी नाक की नथ पर बैठ जा
अरे ओ मयूर ले अब नाच रे
तेरे हृदय की छिपी बातें
मैं मन-ही-मन समझती हूँ
अरे ओ मयूर मोती चुग ले
मयूरों के लिए मैंने महल बनवाया है
महल की चोटी पर बैठ जा
मेरी नाक की नथ पर बैठ जा
अरे ओ मयूर ले अब नाच'

मयूर को अपनी नथ पर बैठने का निमन्त्रण देते समय शायद दुलहिन मयूर के आकार और गुरुत्व का ध्यान नहीं रख सकी।

एक गुजराती विवाह-गान में भी मयूर की सुनहली चोंच की और उसके

रुपहले पंखों की कल्पना की गई है। सुनहली चोंच से गुजरात का मयूर मोती चुगता नज़र आता है—

> मोर तारी सोना नी चाँच
> मोर तारी रूपा नी पाँख
> सोना नो चाँचे रे मोरलो मोती चरवा जाय
> मोर जाजे उगमणो देश
> मोर जाजे अथमणो देश
> बड़तो जाजे रे वेवायु ने मांडवड़े हो राज
> वेवाई मारा सूतो छो के जाग
> वेवाई मारा सूतो छो के जाग
> राम भाई वर राजे सीमड़ी घेरी माणाराज

ओ मयूर सोने की है तेरी चोंच
ओ मयूर चाँदी के हैं तेरे पंख
सोने की चोंच से मोर मोती चुगने जा रहा है।
ओ मोर, उधर जाना, जिधर सूर्य उदय होता है।
ओ मोर, उधर जाना, जिधर सूर्य अस्त होता है।
ओ राज, लौटते समय दुलहिन के पिता के मंडप में जाना।
हमारी दुलहिन का पिता सोता है या जागता है ?
राम दूल्हा ने वन घेरकर अपने राज्य में मिला लिया है।

मोर और राम दूल्हा को मिलाकर शायद एक कर दिया गया है। विवाह-गान के श्रुति-मधुर स्वर जब ग्राम्य जीवन की आत्मा तक पहुँच जाते हैं, तब मोर का स्वरूप एकदम सजीव हो उठता है।

एक राजस्थानी गीत में कौटुम्बिक जीवन की कहानी के एक छोर को मोर ने छू दिया है। पति को पंखा झलती हुई स्त्री एक दिन लाल चूड़े की माँग कर उठी। पति ने कहा कि वह उसके लिए हार लाना पसन्द करेगा, क्योंकि लाल चूड़ा तो वह अपनी बहन के लिए लाने जा रहा है। इतनी सी बातपर पत्नी रूठकर नैहर चली गई। फिर एक दिन पति ने अपनी भूल स्वीकार कर ली। लाल चूड़ा लाकर उसने पत्नी के सामने रख दिया। पत्नी ने उसे लेने से इनकार कर दिया और कहा कि वह अकेली इसे न पहनेगी, ननद के साथ चूड़ा पहनने में उसे अधिक आनन्द आयगा। ननद आकर बोली—'भावज मोर बनकर मेरे सम्मुख नाचे, तब मैं चूड़ा पहनना स्वीकार करूँगी।' भावज ने भी व्यंग्य का उत्तर दिया—'मोर तो आध घड़ी ही नाचता है, पर मेरा ननदोई तो रात-भर नाचता रहता है!'

एक राजस्थानी दोहे में मोर को खजूर पर चढ़कर कुहकने से रोका गया है—

मोरा मैं तने बरजियो
मत चढ़ बोल खजूर
थारा जलहर टहूकड़ै
म्हारा साजन दूर

—'ओ मोर, मैंने तुझे मना किया था कि
खजूर पर चढ़कर मत कुहक मचा;
तेरा मेघ तो शब्द कर रहा है
और मेरा साजन मुझ से दूर है।'

मोर का उत्तर पाकर विरहिणी चुप हो गई—

म्हे मगरेरा मोरिया
चक चढ़ चूण कराँह
रुत आयाँ नव बोलस्यां
तो हिय फूट मराँह

—'मैं तो मरुभूमि का मोर हूँ,
चढ़कर दाना खा लेता हूँ;
वर्षा ऋतु आनेपर यदि मैं न बोलूँगा,
तो मैं हृदय फट पड़ने से मर जाऊँगा।'

इसी भाव के दो दोहे कच्छ के 'होथल पद्मिनी' और 'ओढ़ो' के गीत में मिलते हैं। कहते हैं कि होथल पद्मिनी ने, जो कि एक अप्सरा थी, कच्छ के राजा 'होथी' के छोटे भाई ओढ़ो से, जो देश-निकाले के कारण सिन्ध में जीवन गुजार रहा था, विवाह कर लिया था। सावन में एक बार मोर की कुहू-ध्वनि सुनकर ओढ़ो का चित्त अपनी जन्मभूमि में जाने के लिए बेचैन हो उठा, तो होथल ने कहा—

मत लव मत लव मोरला
तूँ लवतो आघो जा
एक मारो ओढो अणोहरो
ऊपर तौंजी धा

—'बकवास न कर, ओ मोर, बकवास न कर,
बकवास करनी है तो दूर चला जा।
एक तो मेरा ओढ़ो उदास है,
उस पर तेरी वेदना-भरी आवाज़ है।'

मोर बोला—

असीं गिरिवर जा मोरला
अमें कंकर पेट भराँ
रुत आवे नव बोलियें
तो अम हड्ड़ां फाट पड़ाँ

—'हम तो पहाड़ के मोर हैं,
कंकर खाकर पेट भरते हैं हम;
ऋतु आ जाय और हम न बोलें
तो हमारे हृदय फट जायँ !'

पंजाब के 'हंस ते मोरनी' नामक गीत में एक प्रणय कथा की सृष्टि हुई है। 'हंस'का विवाह हो चुका था ; पर वह 'मोरनी'पर, जो उसकी बहन की ननद थी, मुग्ध हो चुका था। गीत की रचना स्त्री-पुरुष के प्रणय में परिणत हो गई है ; पर बूढ़ी स्त्रियों से पता चलता है कि असल में इस गीत के पात्र पत्ति-जगत् की वस्तु हैं। चरखा कातते समय स्त्रियाँ जब एक साथ यह गीत गाती हैं, तो जैसे हंस और मोरनी के प्रणय का कुछ रंग ताजे सूत के तारों पर भी चढ़ जाता है। कथानक में मोरनी का जन्मस्थान जम्बू रियासत में तवी नदी के समीप बताया गया है—

पंज रुइपये मैं देमाँ, वे शामी पण्डता
तूँ ताँ जाणां, मिस्सर, जम्मू देस वे कहिये जी
अज्ज दी रात मैंनूं बखस दे, राजा हंसजी
भलके जामां जम्मू देस वे, कहिये जी
कल्ल बियाही हंसनी, राजा हंसजी
मेरे मनों न लथ्थड़ा चायो, कहिये जी
पंजाँ दे पंजाह लै ला, वे शामी पण्डता
हुणोईं जाणा जम्मूँ देस वे, कहिये जी !
दो बियाहमाँ दिल्लियों, राजा हंसजी
दो बियाहमाँ तवियों पार तों, कहिये जी
नहीं बियाहमणीं मोरनी, नी माये मेरिए
नहीं देणी जांण गुया, कहिये जी
ओथों ब्राह्मण तुर पिया, नी भेणो मेरियो,
आया मोरनी दे देस, कहिये जी !
सट्ठाँ सहेलियाँ दा झुरमुटड़ा, नी भैणो मेरियो
थुयाड़े चों केहड़ी आ सरदार, कहिये जी
सट्ठाँ सहेलियाँ दा झुरमटड़ा, वे शामी पण्डता

साडे चों मोरनी आ सरदार, कहिये जी
कि तेरे आये प्राहुणे, नी भैणे मोरिए
कि आये लेणोहार, कहिये जी
ओथों ब्राह्मण तुर पिया, नी भैणो मेरियो
आया हंसजो दे देस, कहिये जी
की कुज्भ ओथे वेखिया, वे शामो पण्डता
की लिआयाएँ ओथों जबाब, कहिये जी
मोरनी हर सुरग दे बाग दी, राजा हंसजी
की कराँ मैं उस दी सिफत, कहिये जी
गलहाँ ओहदियाँ पट्टदियाँ पेचकाँ, राजा हंसजी
मत्था ओहदा बाला चन्न, कहिये जी
अक्खाँ ओहदियाँ अम्बदियाँ फाड़ियाँ, वे राजा हंसजी
नक्क ओहदा खण्डे दी धार, कहिये जी

—'ओ शामी पण्डित, मैं तुम्हें पाँच रुपये दूँगा,
ओ ब्राह्मण, तुम्हें जम्मू देश में जाना होगा।'
'आज रात मुझे क्षमा कर दो,
राजा हंसजी, कल मैं जम्मू जाऊँगा।
कल तो तुमने हंसनी ब्याही थी,
राजा हंसजी (तुम्हारे कल के विवाह का)
मेरा चाव तो अभी उतरा ही नहीं।'
'ओ शामी पण्डित, पाँच की जगह पचास ले लो,
तुम्हें अभी जम्मू देश जाना होगा।'
'राजा हंसजी, तुम्हारे दो विवाह दिल्ली में करा दूँगा,
और दो ब्याह 'तवी' पार के देस में करा दूँगी।'
'ओ माँ, या तो मैं मोरनी ब्याहूँगा,
या मैं अपनी जान गँवा दूँगा।'
ओ मेरी बहनो, ब्राह्मण वहाँ से चल पड़ा
और वह मोरनी के देश में पहुँच गया।
ओ मेरी बहनो, साठ सहेलियों का झुरमुट है,
'तुम में से कौन सरदारनी है ?'—(ब्राह्मण ने पूछा)
'ओ शामी पण्डित, साठ सहेलियों का हमारा झुरमुट है,
मोरनी हमारी सरदारनी है।'

'ओ मेरी बहन, क्या तुम्हारे यहाँ पाहुना आया है ?
क्या तुम्हें कोई लिवा ले जाने के लिए आया है ?'
ओ मेरी बहनो, वहाँ से ब्राह्मण चल पड़ा,
वह हंस के देश में पहुँच गया।
'ओ शामी पण्डित, वहाँ क्या कुछ देखा ?
वहाँ से क्या समाचार लाये हो ?'
'राजा हंसजी, मोरनी स्वर्ग के बाग की परी है,
मैं उसकी क्या प्रशंसा करूँ ?
उसके गाल रेशम के लच्छे हैं,
दूज के चाँद सा है उसका ललाट,
आम की फाँकों-सी हैं उसकी आँखें,
खाँड़े की धार-सी है उसकी नाक।'

ओथों राजा तुर पिया नी भैणों मेरियो
आया भैण दे देस कहिये जी
पलंग डहामाँ पिछली कोठड़ी वे वीरा मेरिया
अन्दर बड़के वीरा बैठ कहिये जी
की तेरे आया हंस पराहुणा नी भाबो मेरिये
की लथ्थेया बाला चन्न कहिये जी
न मेरे आया हंस पराहुणा नी नणदे मेरिये
न लथ्थेया बाला चन्न कहिये जी
पलंग डहामें पिछली कोठड़ी नी भाबो मेरिये
साथों रखदीएँ बड़े लको कहिये जी
दराणियाँ जठाणियाँ पुच्छदियाँ नी भैणे मेरिये
की कुज्झलियाएँ हंस कहिये जी
की कुज्झलियाएँ साडो सस्स नूँ राजा हंसजी
मोरनी नूँ की ए सुगात कहिये,जी
सुच्चा तियोर तुहाडा सस्स नूँ नी भैणो मेरियो
मोरनी नूँ मोहर सुगात कहिये जी
अग्ग लग्गे सुच्चे तियोर नूँ वे हंसा राजिया
भट्ठी 'च डाहिए मोहर कहिये जी
मैं लै जाणी मोरनी नी भैणों मेरियो
मेरे चित्त विच्च वस्सी ओह कहिये जी

असीं न देइए मोरनी वे सौहेर-जाई ए
न देइए कुल दी लाज कहिये जी
साला भनोइया चौपड़ खेड दे नी भेणो मेरियो
मोरनी दी बाजी लाई कहिये जी
पहली बाजी हंस जित्त गया नी भैणो मेरियो
उड्डिया मोरनी दे नाल कहिये जी

—'ओ मेरी बहनो, वहां से राजा चल पड़ा,
वह बहन के देश में पहुँच गया।
'भइया, पिछली कोठरी में मैं तुम्हारे लिए पलंग डलवा देती हूं,
भीतर जाकर बैठ जाओ, भइया!'
'ओ भाभी, तुम्हारे यहाँ हंस पाहुना आया है,
या तुम्हारे घर में दूज का चांद उतर आया है?'
'ओ मोरनी ननद, न मेरे यहां हंस पाहुना आया है,
न मेरे घर में दूज का चांद उतरा है।'
'ओ भाभी, तुमने पिछली कोठरी में पलंग डलवाया है,
कितनी चोरी रखती हो तुम मुझ से!'
ओ मेरी बहनो, मेरी देवरानियां और जेठरानियां पूछती हैं—
'हंस पाहुना क्या-क्या लाया है?'
'राजा हंसजी, हमारी सास के लिए क्या लाये हो?
और मोरनी ननद के लिए क्या उपहार है?'
'ओ मेरी बहनो, रेशमी लहँगा, कमीज़ और दुपट्टा तुम्हारी सास के लिए है,
और मोरनी ननद के लिए सोने की मोहर है।'
'ओ हंस, रेशमी लहँगे, कमीज़ और दुपट्टे को आग लगा दो,
और भाड़ में झोंक दो, ओ हंस, यह सोने की मोहर।'
'ओ मेरी बहनो, मैं मोरनी को ले जाऊँगा,
वह मेरे हृदय में बस रही है।'
'मोरनी हम तुम्हें न देंगे, वह तो ससुर की बेटी है।
मोरनी हम तुम्हें न देंगे, वह तो कुल की लाज है।'
ओ मेरी बहनो, साला-बहनोई चौसर खेल रहे हैं,
मोरनी की बाज़ी लगादी गई है।

हंस ने पहली बाज़ी जीत ली है;
मोरनी को लेकर वह उड़ चला है।'

मोरनी ने अपनी भावज से यह पूछकर कि उसके यहाँ हंस पाहुना आया है या दूज का चाँद उतर आया है, अपने छिपे प्रेम की एक झाँकी भर दिखाकर ही बस कर दिया। इससे अधिक वह कुछ नहीं बोली। शायद चुप रहकर उसने हंस के साथ उड़ चलने की बात मन ही-मन ते कर रखी थी। जब देवरानियों और जेठानियों ने हंस से पूछा था कि वह उनकी सास के लिए क्या लाया है और मोरनी के लिए क्या लाया है, तब वह शायद घर के किसी कोने में छिपी हुई इस का उत्तर सुन रही थी। जब हंस अपने बहनोई के साथ चौसर खेलने बैठा और मोरनी पर ही बाज़ी ठहरी, तो मोरनी ने हंस की जीत की कल्पना कर कैसा चित्र अंकित किया होगा? और फिर हंस की जीत के पश्चात् वह हंस के साथ उड़ते समय क्या ज़रा भी न लजाई होगी?

एक दूसरे पंजाबी गीत में एक पुरुष मोर मारने जाता है। स्त्री विरोध करती है; पर उसकी एक भी युक्ति नहीं चली। पुरुष उसे मोर का मांस पकाने के लिए बाध्य करते हुए ज़रा भी संकोच नहीं करता—

चढ़ियाँजी चढ़ियाँ राणी फौजां शिकार
मार ल्यौणा जी राणी कालड़ा मोर
चढ़ियाँजी चढ़ियाँ राजा फौजां शिकार
इक न मारियो जी राजा कालड़ा मोर
उट्ठीं नी उट्ठीं राणी कुण्डड़ा खोल
मार ल्याँदा जी राणी कालड़ा मोर
उट्ठीं नी उट्ठीं राणी चुल्हे अग्ग बालनी
तड़का ताँ ला दे जी राणी कालड़ा मोर
सिर ताँ दुखदा राजा मथ्थे वल्ल पीड़
तड़का न लगदा जी राजा कालड़ा मोर
सच्च ताँ दस्स दे राणी झूठ न बोल
की कुज्झ लगदा जी राणी कालड़ा मोर
सच्च ताँ दस्सदी राजा झूठा नहीं बोल
वीर ताँ लगदा जी राजा कालड़ा मोर

—'ओ रानी मेरी फौजें शिकार खेलने चढ़ी हैं,
श्यामल मोर मार लाना होगा।'
'ओ राजा, तुम्हारी फौजें शिकार खेलने चढ़ी हैं,

(दूसरा शिकार खेलना) एक श्यामल मोर को न मारना।'
'ओ रानी, उठकर साँकल खोल,
मैं श्यामल मोर मार लाया हूँ।
ओ रानी, उठकर चूल्हे में आग जला,
उठकर मोर का मांस छौंक ले।'
'ओ राजा, मेरे सिर में दर्द हो रहा है, माथा फट रहा है,
मैं श्यामल मोर का मांस न छौंक सकूँगी।'
'ओ रानी, सचसच बता दे, झूठ न बोल,
श्यामल मोर से तेरा क्या सम्बन्ध था ?
'ओ राजा, मैं सच बोलती हूँ, झूठ नहीं,
श्यामल मोर मेरा भाई लगता था।'

कई फौजें शिकार खेलने चढ़ीं और मारकर लाया गया केवल एक श्यामल मोर ! आख़िर मोर से यह बैर क्यों ?

राजस्थान के एक लोक-गीत में मोर के बध की करुण कथा विस्तृत रूप से आई है। ईर्ष्यालु ननद, भावज के प्रिय मोर को मरवाकर दम लेती है—

चाँदी थारी चकमक रात जी
कोई नणदल जी भोजाई पाणी नीसरी
आगे आगे नणदल बाई रो साथ जी
कोई लैराँ जी छिनगारी भावज नीसरो
गई गई समद तलाव जी
कोई घड़ले जी क मेल्यो सरवर पाल पर
कोई ईण्डा जी क टाँगी चम्पा डाल में
रुल ढुल निरखियो छ बाग जी
कोई दातन जी क तोड़्यो काची केल को
रगड़-मसल धोया छ पायँ जी
कोई कुरला जी क छट्या पूरा डेढ़ सौ
मुरलो बैठ्यो सरवरिया रौ पाल जी
कोई पाँख जो पसारर जल ने ढक लियो
देखो बाईजी एँ मुरलारा रूप जी
कोई थारा ए वीरासें दो तिल आगलो
जायो ए भावज ऐ मुरला री लेर जी

कोई म्हारा ए वीरा ने परणा दूसरी
परणीगा बाई जी दो ए चार जी
कोई म्हारा ए सरीसी कुल माँ कोए ना
थे छो बाईजी ऊँचाला री लाय जी
कोई मत ना जी सिखाज्यो बाई थारा वीरने
म्हे छाँ भावज ऊँचाला री लाय जी
कोई जाए सिखावा भावी म्हारा वीरने
देखो ए वीरा भावजरा काम जी
कोई म्हारी भावज सरायो बन रो मोरलो
लायो म्हारा पाँचो हथ्यार जी
कोई मुरलो जी क मार म्हें तो जायोश्याँ
लीना बीरा जी पाँचो हथ्यार जो
कोई मुरलो जो मारन वीरा नीसरया
मुरलो मारर बाँधी छ पोट जी
कोई ल्याएर रख्यो चानण चौक माँ
देखो ए भावज ए मुरला रा रूप जी
कोई म्हारा ए वीरा से दो तिल आगलो
सोनी बेटा चतुर सुजान जी
कोई म्हारी मैंन्मदपर घड़ दे बन रो मोरलो
चेजा रा बेटा चतुर सुजान जी
कोई म्हारा महलाँपर फड़ दे बन रो मोरलो
मोडी बेटा चतुर सुजान जी
कोई म्हारी चुँदड़ीपर रंग दे बन रो मोरलो
देखो ए भावज ए मुरला रा रूप जी
कोई म्हारी प्यारी जी घण नचइए बन रो मोरलो

—'ओ चाँद, कितनी प्रकाशमय है तेरी यह रात !
ननद भौजाई पानी भरने निकली हैं।
आगे-आगे ननद बाई जा रही है,
साथ में बिगड़े मिजाज़वाली भावज है।
चलते चलते वे 'समद' तालाब पर जा पहुँची हैं,
(भावज ने) अपना घड़ा पाल पर रख दिया,
घूम-फिरकर उसने बाग का दृश्य देखा,

केलकी कच्ची दातुन तोड़ी,
रगड़-रगड़ कर पाँव धोये,
डेढ़ सौ बार कुल्ला किया।
तालाब की पाल पर मोर बैठा है,
पंख पसारकर उसने (पास का) जल ढँक दिया है।
'देखो, ननद बाई, इस मोर का रूप,
यह तो तुम्हारे भाई से भी दो तिल आगे है।'
'जाओ भावज, इस मोर का साथ करलो,
अपने भाई का मैं दूसरा ब्याह करवा दूंगी।'
'एक नहीं, ननद बाई, दो-चार ब्याह करवा देना,
मुझ सरीखी कुल में और न मिलेगी।
ओ ननद, तुम ग्रीष्मऋतु की लू ही तो हो,
देखना अपने भाई को मेरे विरुद्ध न सिखा देना।'
'हाँ, भावज, मैं ग्रीष्म की लू हूँ,
अपने भाई को मैं सिखाऊंगी ही।
'देखो भाई, मेरी भावज की करतूत,
उसने वन के मोर की सराहना करदी है।'
'मेरे पाँचों हथियार लाओ,
मैं मोर मारने जाऊँगा।'
भाई ने पाँचों हथियार ले लिये हैं,
वह मोर मारने निकल पड़ा है।
मोर मारकर उसने उसे गठरी में बाँध लिया है,
'चानण' चौक में उसे ला रखा है।
'देखो, भावज, मोर का रूप,
यह तो तेरे भाई से भी दो तिल आगे है।'
'अजी ओ चतुर सुजान सुनार पुत्र,
मेरे सिर की मैमन्द पर मोर गढ़ दो।
अजी ओ चतुर सुजान शिल्पी-पुत्र,
मेरे महल पर मोर का चित्र बना दो।
अजी ओ चतुर सुजान रंगरेज-पुत्र,
मेरी चुनरी पर मोर का रंगीन चित्र बना दो।'
'देखो भावज, इस मोर का रूप,
जाओ मेरी प्यारी, अब भली प्रकार मोर नचाना।'

प्रेमी मयूर और कूँज पक्षियों का प्रश्नोत्तर पंजाबी लोक-गीत के प्रांगण में एक विशेष स्थान रखता है। मयूर कूँजों से कहते हैं—

मोर कूँजाँ नूँ आँखदे
सोडी रैंहदी नित्त तियारी
जाँ कोई सांडा देस कूचज्जड़ा
जाँ सोडी किसे नाल यारी

—'तुम सदा (यात्रा) के लिए तैयार रहा करती हो,
या तो तुम्हारा देश असुन्दर है,
या फिर तुम यहाँ किसी के प्रेम में बँध गई हो!'
कूँजें बोलीं—

न मोरो साडा देस कुचज्जड़ा
न साडी किसे नाल यारी
बच्छड़े छोड़ मुसाफिर होइयाँ
डाढ़े रब्बने चोग खिलारी

'ओ मयूरो, न हमारा देश असुन्दर है,
न यहाँ हम किसी के प्रेम में बँध गई हैं,
बच्चों को पीछे छोड़ कर मुसाफिर बनी हैं।
विचित्र है वह भगवान, जिसने (इतनी दूर)
हमारा खाना-दाना बखेर रखा है!'

जाड़ा शुरू होते ही प्रायः कूँजें पहाड़ छोड़कर मैदानी प्रदेशों में आ जाती हैं और बसन्त के बाद फिर अपने देश को उड़ जाती हैं। मयूर तो सदा मैदानी प्रदेश में ही रहता है। मयूर का प्रेमी हृदय शायद किसी कूँज पर मुग्ध हो गया; उसकी लम्बी गरदन, जिसे लोक-गीत में अमर स्थान मिला है, मयूर के मन में बस गई; पर कूँज को अपना देश याद आ गया—पीछे छोड़े बच्चों का चित्र उसकी आँखों में खिंच गया—और वह उड़ चली। व्रज के इस 'मयूर' नामक गीत में मयूर का हृदय एक स्त्री के रूप पर उछल पड़ा। इसी प्रेम में मयूर की जान गई। पुरुष ने अपनी पुरानी आदत पूरी की; अपने और अपनी पत्नी के बीच में अनधिकार चेष्टा में लिप्त मयूर को उसने अपना शिकार बना डाला। पर अपनी पत्नी के मन से बसी हुई मयूर की कुहू-ध्वनि का अन्त करना क्या पुरुष के बस की बात थी!

यूनान के उपाख्यानों में 'लीडा' और एक राजहंस की प्रणय-कथा को एक सजीव रूप मिला है। गर्भवती 'लीडा' रानी नदी में स्नान कर रही

थी। देवता जूपिटर उसके स्वर्गीय रूप पर मुग्ध हो गया। देवता ने लीडा पर अपना दाँव चलाने के लिए एक चाल निकाल ली। वह तुरन्त राजहंस में परिणत हो गया, और प्रेम की देवी 'वीनस' को उसने बाज़ पक्षी का रूप धारण करने पर रज़ामन्द कर लिया। दोनों आकाश में उड़ने लगे। बाज़ जैसे राजहंस को मार गिराने पर उतारू हो गया हो। फिर एकाएक राजहंस नदी के तीर पर बैठी वस्त्रविहीना लीडा की गोद में आ गिरा। अपने शत्रु पक्षी से बचकर आये हुए भयभीत राजहंस को पाकर लीडा को दया आ गई। अत्यन्त प्रेम से उसने हंसका अलिंगन किया; तभी आन-की-आन में हंस ने अपनी इच्छा पूर्ण कर ली। कहा जाता है कि पूरे नौ मास के पश्चात् लीडा के गर्भ से दो अण्डे निकले। एक अण्डे से 'पोलकूस' और उसकी बहन 'हेलेन' का जन्म हुआ। वे दोनों सदा 'जूपिटर' की सन्तान कहलाये। दूसरे अण्डे से 'कास्टर' और 'क्लिटेमूनेस्टरा' का जन्म हुआ, जो लीडा के पति की सन्तान माने गए। यूनान के राजहंस का अपराध क्या ब्रज के मयूर से कुछ कम था? वहाँ राजहंस साफ़ बचकर निकल गया और यहाँ मयूर पुरुष के क्रोध का बुरी तरह शिकार हुए।

ब्रज के एक दूसरे गीत में एक मयूरनी ने एक ओर निठुर पुरुष को मयूर पर रोड़ा चलाने से मना किया है और दूसरी ओर सोये हुए मयूर को जगाने और मृत्यु के चंगुल से बच निकलने के लिए ख़बरदार किया है—

मोरा रे, सामलिया रे जाग जा
रोड़ा के मारे मोरा मर जाय रे
मो पापिन का जोड़ा रे
सामलिया रे जाग जा

—'ओ मोर, ओ श्यामल पक्षी, उठ जाग!
अरे रोड़ा मारने से मोर मर जायगा।
अरे यह मोर तो मुझ पापिन का जोड़ा है।
ओ श्यामल मोर, उठ जाग।'

ऐसी मोरनी पाकर भी न-जाने क्यों मानव की प्रेयसी पर आँख उठाता है!

मयूर की लोकप्रियता का मुख्य कारण है उसका अद्वितीय सौन्दर्य, और सौन्दर्य के साथ ही उसकी कुहक ने भी लोक-मानस में अभिनन्दनीय स्थान पाया है। हिन्दुस्तान के लोक-गीत क्या कभी मयूर को भूल सकते हैं? जिन में मयूर और मानव के मिलन के अनेक महत्त्वपूर्ण चित्र प्रस्तुत किये गये हैं।

१८

पंचनद का संगीत

हिन्दुस्तान के नकशे की ओर देखिये। उत्तर की ओर उसके हृद्-प्रदेश में मोटी-मोटी रगों की तरह पाँच नीली रेखाएँ दौड़ी हुई दीखती हैं। यह नीली रेखाएँ हैं—सतलज, व्यास, रावी, चनाब और झेलम। यही वे पाँच नदियाँ हैं, जिन्होंने अपने सिंचित प्रदेश को पंचनद का नाम या पंजाब का लक़ब दिया है। हिन्दुस्तान का उत्तरी मैदान जिन अक्षांशों के बीच स्थित है, उन अक्षांशों में संसार के बड़े-से-बड़े रेगिस्तान पाये जाते हैं। अगर कहीं हिन्दुस्तान के सिर पर हिमालय का चमचमाता हुआ ताज और उससे निकली हुई, सेहरे की लड़ियां-जैसी नदियाँ न होतीं तो आज उत्तरी भारत का विशाल मैदान भी सहारा रेगिस्तान का भाईबन्द ही होता।

उत्तरी भारत के पूर्वीय भाग को गंगा और उसकी सहेलियों ने और पश्चिमी भाग को पंजाब की उपर्युक्त पाँचों नदियों ने अपना अमृत ढाल-ढाल कर रेगिस्तान की जगह हरा-भरा ज़रखेज़ बाग़ीचा बना दिया है। मिस्र को यदि 'नील नदी का उपहार' कहा जाता है, तो पंजाब को भी इन पाँचों नदियों का वरदान कह सकते हैं। पंजाब-निवासी अपनी इस जीवन विभूति पर गर्व कर सकते हैं, और करते हैं। इन पंच सलिलाओं ने एक ओर यदि पंजाब के खलिहानों में गेहूं के सुनहरे अम्बार लगाये हैं, तो दूसरी ओर उन्होंने पंजाब के जनसाधारण किसानों के हृदयों में सरसता, सौन्दर्य-प्रेम और कवि सुलभ भावनाओं की धाराएँ बहा दी हैं। पंजाबी जनसाधारण के जीवन-संगीत में इन

नदियों का राग अलग ही दिखाई देता है। कहीं ये नदियाँ पंजाबी किसान के हृदय में प्रेम का संचार करती हैं, कहीं अध्यात्मिकता की बेल फैलाती हैं और कहीं उसके खून में आज़ादी और राष्ट्रीयता की गर्मी लाती हैं।

पंजाबियों के हृदय में अपनी इन पाँच धाराओं के लिए विशेष श्रद्धा है। चनाब की पवित्रता का बखान तो उनके गीतों में विशेष महत्त्व की वस्तु है। चनाब शब्द का पंजाबी रूप 'झनाँ' है। इसका उच्चारण करते ही यहाँ के जन-साधारण के हृदय नाच उठते हैं। चनाब के साथ उनके दो प्रेम-काव्यों का सम्बन्ध है। 'हीर-राँझा'[1] नामक काव्य की नायिका हीर का जन्म स्थान 'झंग-स्यालाँ' इसी चनाब के तीर पर है। ग्रामीण स्त्रियाँ गाती हैं—'कंढे झनामाँ दे, नीं राँझा मुरली बजावे; हीर जटेटी दा, नीं ऐमें मन भरमावे।' (अर्थात् राँझा* चनाब के तीर पर बाँसुरी बजा रहा है और हीर को अपने प्रेम पाश में बाँध रहा है)। इस तुक को बार-बार दोहराते समय उनके हृदय-पट पर अनायास ही चनाब की मंजुल छवि खिंच जाती है। पंजाब के एक दूसरे प्रेम-काव्य 'सोहणी महीवाल' का पृष्ठ-पट भी इसी चनाब से सम्बद्ध है। सोहणी एक कुम्हार की कन्या है, और चनाब के तीर एक ग्राम में बसती है। महीवाल एक राजकुमार है, और सोहणी के रंग-रूप पर मुग्ध होकर उसके ग्राम के ठीक सामने दूसरे किनारे धूनी रमाकर बैठ जाता है। जनसाधारण का विश्वास है कि सोहणी-महीवाल का प्रेम एकदम सात्विक था, और सोहणी नित्यप्रति घड़े पर तैर कर अपने प्रियतम महीवाल के पास जाया करती थी। यह एक दुःखान्त काव्य है। एक दिन सोहणी की ननद ने एक ऐसी शरारत की, जिस ने भोली सोहणी को मृत्यु की गोद में सुला दिया। सोहणी ने अपना पक्का घड़ा चनाब के किनारे झाड़ियों में छिपा रखा था। उसकी ननद ने एक चाल चली। उसने पक्के घड़े के बजाय कच्चा घड़ा रख दिया। रात को निश्चित समय पर सोहणी दरिया के किनारे आई और उसी कच्चे घड़े के सहारे पार होने के लिए चल पड़ी। आखिर कच्चा घड़ा राह में ही टूट गया, और सोहणी अपने प्रियतम का नाम जपते-जपते डूब गई। यद्यपि सोहणी चनाब के विस्मृत गर्भ

[1] हीर और राँझा की प्रेम-गाथा पंजाब की एक ऐतिहासिक वस्तु है। वे बाबर के समय में हुए माने जाते हैं।

* राँझा का जन्म-स्थान 'तख्त हज़ारा' 'झंग-स्यालाँ' से अस्सी मील की दूरी पर है।

में विलीन हो गई ; परन्तु उसकी पुण्य-स्मृति जनसाधारण के गीत में एक अभिनन्दनीय वस्तु बन गई। आज भी स्त्रियाँ गाया करती हैं—

सोहणी महीवाल महीवाल करदी
बिच्च झनामाँ दे
सोहणी आप डुब्बी जिंद तरदी
बिच्च झनामाँ दे

—'सोहणी महीवाल के नाम की रट लगा रही है,
चनाब के बीचोंबीच डूब गई,
पर उसकी आत्मा तैर रही है,
चनाब के बीचोंबीच !'

स्त्रियों का विश्वास है कि सोहणी एक आदर्श प्रेमिका थी। आज भी चनाब की शुभ्र चंचल लहरें सोहणी की निर्दोष आत्मा को लिये फिरती हैं। कितनी ही ग्रामीण वधुएँ अपने पतियों में महीवाल की और अपने में सोहणी की भावना करती हुई चनाब के पुनीत तट पर बसने के स्वप्न देखा करती हैं, और गाती हैं—

चित्त मेरा एहो चाँहमदा
जा बसाँ झनाँ दे कंढे

—'मेरी अभिलाषा हरदम यही रहती है
कि मैं चनाब के तीर जा बसूँ।'

अन्य नदियों में रावी का नाम विशेष उल्लेख का विषय बन गया है। एक गीत में किसी विवाहिता बहन ने सुसराल में अपने सहोदर भाई की प्रतीक्षा करते-करते कहा है—

असीं रावी ते घर पाइये, सस्से नीं
जे कोई आवे साडे देस दा
सौ आवे सट्ठ जावे, सस्से नीं
इक न आवे अम्मा-जायाड़ा

—'हे सास ! हम रावी पर घर बना लें
यदि कोई मेरे जन्म-ग्राम का व्यक्ति यहाँ आ जाय !
सौ आते हैं, साठ जाते हैं, ओ सास !
मेरा माँ-जाया भाई नहीं आता।'

पंजाब सचमुच कृषि-प्रधान देश है। पाँचों नदियों के बीच-बीच बड़े-बड़े सुविस्तृत दोआब हैं, जहाँ किसान हल चला कर धरती के गर्भ से अन्न के

जवाहर निकालते हैं। अपनी मेहरबान और हमदर्द नदियों के साथ-ही साथ वे अपने उपजाऊ मैदानों का गुण-गान करते भी नहीं थकते। जब इन मैदानों की गोद हरी होती है, तो किसानों का संगीत और भी जीवन-प्रद और स्निग्ध हो उठता है। जब धरती माता शत-शत लहलहाते पौदों में मुसकराती है और खेतों में अन्न से लदी डालियाँ झोंके लेती हैं, तब किसानों को नये-नये गीत सूझते हैं। इन गीतों में उनकी चिर-संचित अनुभूतियाँ एक दम चिर-नवीन हो उठती हैं। अपने सौभाग्य का अभिनन्दन करते हुए अपने देश की नदियों और मैदानों का गुण-गान करना किसानों के लिए उतना ही स्वाभाविक है, जितना इन नदियों का मस्तानी अदा से नाचते-गाते बहना, अथवा दरियादिल मैदानों का फलना तथा फूलना।

पाँचों नदियों के अचलों और दोआबों में अनेक ग्राम बसे हुए हैं। पाँच नदियों का देश सचमुच ग्रामों का देश है—नगरों की संख्या यहाँ अत्यन्त परिमित है। प्रत्येक ग्राम गानेवाले पक्षियों का घोंसला है। इन पक्षियों ने अपने देश के जल-वायु से निर्मल तथा स्वच्छ रहने का पाठ पढ़ा है। उनके दिल खुले हैं—उतने खुले, जितने खुले उनके मैदान हैं। वे अपने दरियाओं से सदा दरियादिली का गान सुनते आये हैं। वे अपने देश की प्राकृतिक रूप-रेखा के साथ घुल-मिलकर एकरस हो गये हैं।

×

पाँच दरियाओं के देश का एक-एक ग्राम गीतों का एक-एक तीर्थ है, जिसका द्वार सदा हिन्दू, सिख, मुस्लिम तथा ईसाई—सभी के लिए खुला रहता है। सभी ने अपनी-अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के नैवेद्य से इन गीतों की दुनिया मे मिश्रित आनन्द की सृष्टि की है। हिन्दू, सिख तथा मुस्लिम स्त्री-पुरुष इन्हें गाते हुए एकस्वर तथा एकरस हुए बिना नहीं रहते। यद्यपि इन गीतों में हिन्दू, सिख तथा मुस्लिम संस्कृति के कुछ अंश, बाह्य रंग-रूप में, एक दूसरे से पृथक् दिखाई देते हैं; परन्तु मानव-हृदय की मौलिक एकता के कारण सब प्रकार के भेद-भाव अपने ही आप विलीन हो जाते हैं। विवाहोत्सव पर गाये जाने वाले गीतों में दुलहिन को राजे-धीवड़ी (राजपुत्री) और नवाबज़ादी कह-कर सम्बोधन करने में हिन्दू, सिख तथा मुस्लिम स्त्रियाँ एक ही प्रकार का आनन्द अनुभव करती हैं; दूल्हे का अभिनन्दन करते हुए 'दशरथ का बेटड़ा' (दशरथ-पुत्र राम), 'गुरुघरदा चन्द' (सिख समाज का चाँद) या मुग़ल-सम्राट् शाहजहाँ की ओर इशारा करते हुए 'शाह-जहान' कहने में एक ही प्रकार की खुशी होती है। किसी सन्त या महात्मा को 'मुरशिद'

कह देने में किसी हिन्दू या सिख गवैये को केवल इसीलिए कि यह मुस्लिम रंग में रँगा हुआ शब्द है, कभी भी संकोच नहीं होता, और न कभी किसी मुस्लिम गवैये को 'गुरु' शब्द का प्रयोग केवल इसीलिए अखरता है कि वह सिख रंग लिये हुए है। कितने ही गीतों में तो 'मुरशिद', 'गुरु' और 'महात्मा' इन तीनों ही शब्दों का एक साथ प्रयोग देखने में आता है। लोक-गीत के राम और रहीम में भी अनुकरणीय सम्मिलन हुआ है। सत्य तो यह है कि इनमें निरे शब्दों पर ही थोथे मत-भेदों की सृष्टि नहीं की गई। हिन्दू, सिख और मुस्लिम हृदयों ने अत्यन्त उदारता से काम लिया है, और शब्दों के स्थान पर भावों को अधिक महत्ता दी है। सभी ने अपनी-अपनी सभ्यता तथा संस्कृति का सहारा लिया है; पर उसके लिए उन्होंने मानव-हृदय की अनुभूतियों को, जो इन गीतों की आधार शिलाएँ हैं, कुरबान नहीं किया।[1]

× × ×

तो आइये, अब ज़रा पंजाबी लोक गीतों की दुनिया में घूम-फिर देखें—

क्षत्री शब्द का पंजाबी रूप है 'खत्री'। अपने अच्छे दिनों में ये लोग निस्सन्देह तलवार के धनी रहे होंगे; पर आजकल वे तलवार का काम क़लम से लेते हैं, और धनुष बाण के स्थान में तराजू का प्रयोग करते हैं। कहने का भाव यह कि आजकल उन्होंने क्षात्र धर्म के स्थान पर वणिक्-वृत्ति ग्रहण कर ली है। ग्रामों में रहते हुए खत्री लोग कितनी ही सादगी से क्यों न रहें, उनके जीवन में कुछ न-कुछ शहरी छाया अवश्य रहती है, और वे साधारण किसानों की भाँति ग्राम्य वातावरण के साथ एकदम एकरस नहीं होते, इसलिए वे साधारण किसानों के मुक़ाबले में दुर्बल और साहसहीन होते हैं। इसका कुछ आभास निम्न लिखित गीत से मिलेगा, जिसमें एक किसान-पत्नी और खत्राणी को हम वार्तालाप करते पाते हैं—

जट्टी ते खत्रानी नी
कोई आ भैणे आपां लड़िये
अनी मोराँ वाँगूँ पैला पाइये
अनी कूँजा वाँगूँ लड़िये
कूँजा वाँगूँ लड़िये नी
कोई कूँजा वाँगूँ लड़िये
अनी मोतियाँ जेही आब असाड़ी
बाहर गल्ल न करिये

1 यह लेख देश के विभाजन से पूर्व सन् १९३९ में लिखा गया था। (लेखक)

मेरे घर बल्टोही रिज्झे
तेरे घर कोई कुन्नीं
मैं खत्राणी साहबज़ादी
तूँ जट्टी सिरमुन्नी
सबर पवे तेनूँ जट्टिये नीं
तूँ साडी हट्टी आवें
मिरच बसार ते नूण
नाले जीरा मंग लजावें
मेरी कुन्नीं बरकत गुन्नी
झट पामाँ बलटोही
कड़छी-कड़छी वंडन लग्गी
हो गई झाटा खोही
सबर पवे खत्राणियें नीं
तेनूँ अजे बी होश न आया
ढग्गा बच्छा सब कुज्झ तेरे
खत्री दी हट्टी लाया
मेरा खत्री नाज़ुक जेहा
दोंह फुलकियाँ नाल रजदा
तेरा जट्ट बड़ा पेटू कुड़े
जेहड़ा छुज्ज छोलियाँ दा चबदा
छुज्ज छोलियाँ दा चब्बदा भला
जेहड़ा बिच्च मदान दे बुक्के
खत्री तेरा नाज़ुक कुड़े
जेहड़ा डरके हट्टी'च लुक्के
लम्मी पामाँ छोटी नी
कोई बाजूबन्द हडामाँ
तेरे जेहियाँ जट्टियाँ तों
नी मैं आगे कम्म करामाँ
बाजूबन्द हंडोणें नीं मैं
बूरी मैंह तो वाराँ
चिड़ियाँ चहकन तारे लशाकन
मैं घम्म मधानी पामाँ

बेही रोटी सज्जरा मक्खन
मैं मुड़छी घिड़दी खामाँ
तेरे जेही खत्राणी नूँ
मैं धक्के मार बहामाँ
खत्री-खत्री न कर नी
सुण खत्रो गुणाँ दे पूरे
निक्कियाँ-निक्कियाँ धीयाँ ब्याहुन
दाज देन बिच्च पूरे
जट्ट जट्ट क्यों करदी नीं
जट्ट अणख मूल न रखदे
महियाँ बरोबर धीयाँ ब्याहुँदे
रब्ब तो मूल न डरदे

—'मैं जाटनी हूँ, तू खत्राणी,
आ बहन, ज़रा हम लड़ देखें।
आ, हम मोरों की तरह नाचें
कूज़ों की भाँति लड़ें
हाँ, कूँजों की तरह लड़ें
हमारी आब मोतियों की-सी है।
हम बाहर जाकर बात नहीं करेंगी!'
'मेरे घर बटलोही में (पकवान) पक रहा है,
तेरे घर में मिट्टी की हाँड़ी है, मैं खत्राणी एक साहूकार की पुत्री हूँ,
तुम हो एक केश-विहीना जाटनी।
ईश्वर करे, तुम्हारा भाग्य तुम्हारा साथ न दे,
तुम सदा हमारी दूकान पर आती हो,
मिर्च, हल्दी, नमक और ज़ीरा माँग कर ले जाती हो।'
'मेरी हाँडी अनेक बरकतों से भरपूर है
तुम्हारी बटलोही आग में जल जाय।
परिवार के सदस्यों को एक-एक कलछी अन्न बाँटने लगती हो
तुम एक दम केश-विहीना प्रतीत होती हो।
हे खत्राणी! तुझ पर मेरा सबर पड़े,
तुझे अभी तक समझ नहीं आई

बैल बछड़े सब
तेरे खत्री की दुकान पर गिरवी रख दिया'
'मेरा खत्री बड़ा नाजुक है
बस, दो फुलके ही उसे तृप्त करने के लिए काफ़ी हैं
तेरा किसान इतना पेटू है
भुने हुए चनों से भरा छाज खा जाता है।'
'भुने हुए चनों से भरा छाज खा जाता है,
तो रणक्षेत्र में भी तो वही शेर की भाँति गरजता है
तेरा खत्री इतना नाजुक है
कि मारे डर के अपनी दूकान में छिप जाता है।'
'मैं छोटे-बड़े अनेक आभूषणों से सजी रहती हूँ,
बाजूबन्द भी पहनती हूँ,
तेरे जैसी जाटनियों से तो
मैं अपने नीचे काम कराती हूँ।'
'बाजूबन्द का पहनना
मैं अपनी भूरी भैंस पर वार सकती हूँ।
जब चिड़ियाँ चहचहाती हैं, और आकाश पर अभी तारे चमकते हैं,
मैं घम्म-से दही बिलोने के लिए 'मथानी' डाल देती हूँ।'[1]
बासी रोटी के साथ ताज़ा-मक्खन मैं हर चक्कर में खाता हूँ,
तुझ-जैसी खत्राणी को मैं एक ही धक्का मार कर गिरा सकती हूँ!'
'तुम खत्री-खत्री क्या कर रही हो?
खत्री तो सर्वगुण सम्पन्न होते हैं।
वे छोटी-छोटी कन्याओं का विवाह रचाते हैं
दहेज़ देने में कमी नहीं करते।'
'तुम जाट-जाट की रट क्यों लगा रही हो,
जाट तो कोई भी मर्यादा पालन नहीं करते
जब बेटियाँ भैंसों-जैसी[2] हो जाती हैं
तब कहीं जाकर उनका विवाह करते हैं,
वे अपने भगवान् से भी नहीं डरते।'

१ दही बिलोते समय जो संगीत-ध्वनि निकलती है, उसके सम्मुख मैं तुम्हारे सुनहले आभूषणों की झंकार को तुच्छ समझती हूँ। २ अर्थात् बड़ी-बड़ी।

उपर्युक्त गीत में किसका पक्ष अधिक शानदार है, यह देखना रसज्ञों का काम है ; पर किसान-पत्नी ने अपने पक्ष को महत्ता सिद्ध कर दिखाने में जो युक्तियाँ पेश की हैं, वे प्रत्येक भले आदमी के लिए आदर की वस्तु हो सकती हैं। गीत की अन्तिम पंक्तियों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि पंजाबी इतिहास के उस युग में भी, जब बाल-विवाह का चलन ज़ोरों पर था, कम-से-कम यहाँ के किसान इस बीमारी के शिकार नहीं हुए थे।

× × ×

पंजाबी लोक-गीतों के सम्बन्ध में लगातार दो-तीन घण्टे तक वार्तालाप करने के पश्चात् इन पंक्तियों के लेखक के एक स्नेही मित्र कह उठे थे--"अब तक आपने मुझे पंजाब के जो गीत सुनाये हैं, उनमें वीर-रस का एक भी गीत नहीं मिला। क्या पंजाब की वीर-प्रसवनी भूमि से वीर-रसपूर्ण गीतों का एकदम लोप हो गया है ?"

इस प्रश्न के उत्तर में निम्न-लिखित गीत ने हमारे थके-माँदे वार्तालाप में एक नवजीवन का संचार कर दिया—

सिर देके शहीदी मिलदी
लै लो जीहने लैनी आ

—'सिर देकर ही कोई शहीद कहलाता है,
जिसने यह पद लेना हो ले ले।

हमारे मित्र कहने लगे—"ख़ूब ! क्या कोई ऐसा गीत भी है, जिसमें किसी वीर सिपाही ने अपनी रणबाँकुरी तलवार का गान किया हो ?"

निम्न-लिखित गीत उनके इस प्रश्न का परिणाम है—

मेरी जान तों प्यारी चन्दराणिए
तेरे नालों प्यारी बरछी

—'हे मेरी चाँद-राणी ! तू मुझे अपने जीवन से भी प्यारी है।
पर तुझ से भी कहीं अधिक प्यारी लगती है मुझे अपनी बरछी।'

यह गीत भी हमारे मित्र को कम पसन्द नहीं आया। कहने लगे—"सचमुच यह किसी तलवार के धनी की ही आवाज़ है। अच्छा, तो ज़रा तीन-चार गीत और सुनाइये और फिर बस।"

निम्न-लिखित वीर-रसपूर्ण गीतों के बाद हमने उस दिन का वार्तालाप, जिसकी याद आज भी चुटकियाँ ले रही है, बन्द कर दिया था—

भज्ज जाणाँ मरदाँ ने म्हेणाँ
डुब्ब जाणाँ मच्छियाँ नूँ

—'(मैदाने-जंग में पीठ दिखा कर) भाग जाना जवाँमर्दों के लिए उसी तरह ताने की बात है,

जिस तरह मछलियों के लिए डूब मरने की बात।'

सिर फिरन मतीरियाँ वाँगूँ रुढ़दे
लहुयाँ दे खाल चल्लगे

—'(मैदाने-जङ्ग में) सिर मतीरों (तरबूजों) की भाँति लुढ़क रहे हैं,
और खून के छोटे छोटे नाले बह निकले हैं।'

लहू-भिज्जे लीड़े वेखके
सानूँ होरियाँ याद आ गइयाँ

—'रक्त रंजित वस्त्र देखकर
आज हमें होली के दिन याद आ गये।'

घियो दुद्ध ते मलाइयाँ खानवाले
मरनो कद डरदे

—'घी, दूध और मलाई खाने वाले
मृत्यु का भय कब खाते हैं?'

× × ×

जिन प्रेम-काव्यों ने पंजाबी हृदय में अभिनन्दनीय स्थान प्राप्त किया है, वे ये हैं:—(१) मिर्ज़ा-साहिबाँ, (२) सस्सी-पुन्नूँ, (३) सोहणी-महीवाल और (४) हीर-राँझा।

इन में 'हीर-राँझा' नामक काव्य का स्थान विशेष महत्व का समझा गया है। पंजाबी भाषा के कितने ही प्राचीन कवि इस विषय पर लिख चुके हैं; इनमें कविवर वारिसशाह को सब से अधिक सफलता प्राप्त हुई है, और इसीलिए उसकी अमर रचना के कितने ही अंश जनसाधारण की ज़बान पर चढ़ गये हैं। हीर-राँझा की प्रेम-कथा से सम्बन्ध रखने वाले अनेक लोक-गीत हैं, जो ग्रामीण पंजाब के दैनिक जीवन के ताना-बाना बन चुके हैं। एक बार एक समालोचक ने कहा था—"यदि पंजाब में हीर और राँझा न हुए होते, तो कदाचित् पंजाब का ग्राम-साहित्य उतना अमीर न होता, जितना आज दिखाई देता है।"

निम्न-लिखित गीतों में जनसाधारण ने हीर तथा राँझा के शब्द-चित्र अंकित करने का यत्न किया है—

हीर सज्जरी मखणी वरगी
राँझा घियो कुड़ियो

—'हीर ताज़ी-ताज़ी मखनी[1] के समान है
राँझा मानो घी है।'

हीर गोरी गन्ने दी पोरी
राँझा गुड़ कुड़ियो

—'सुन्दरी हीर गन्ने की पोरी है,
और राँझा गुड़ है।'

राँझा यार मिसरी दा कूजा
हीर कुड़ी खण्ड दी डली

—'राँझा मिश्री का कूज़ा है,
और हीर खाँड की डली है।'

राँझा हंस बहिशताँ वाला
हीर लड़ी मोतियाँ दी

—'राँझा स्वर्ग का हंस है,
हीर मोतियों की लड़ी है।'

हीर स्योणे दी मुरग़ाई
राँझा हंस कुड़ियो

—'हीर सोने की मुरग़ाबी है,
राँझा हंस है।'

राँझा मेरा मिरग कुड़ियो
मैं सोहनी हिरनी हीर

—'री सहेलियो, मेरा राँझा मानो एक मृग है,
मैं हीर एक सुन्दरी हिरनी हूँ।'

× × ×

पंजाब के ग्रामीण जीवन में चरखा कातने के धन्धे को विशेष स्थान प्राप्त है। क्या हुआ यदि जनसाधारण में वेद के जीवनप्रद सन्देश 'तंतुना रायस्पोशेन रायस्पोशं जिन्व' (यजु० १५-७) [धनकी वृद्धि करने वाले सूत से धन की वृद्धि करो] की भाषा समझने की शक्ति नहीं, उनके दैनिक जीवन में चरखा एक विभूति बन चुका है। कुछ वर्ष पूर्व महात्मा गांधी ने लिखा था—"पंजाब की सुन्दर स्त्रियों ने अभी तक उँगलियों की कला का सर्वनाश नहीं होने दिया, इस के लिए हमें भगवान् को धन्यवाद देना चाहिए। अधिक हो चाहे कम, उनके

१ 'मखनी' मक्खन का एक पंजाबी रूप है। यह स्त्रीलिंग वाचक है, और इसीलिए हीर के लिए इस का प्रयोग हुआ है।

यहाँ चरखे की कला स्थापित है।''[1]

पंजाब के ग्रामों में औसत में प्रति पांच आदमियों पीछे एक चरखा चलता है। चरखा कातते हुए स्त्रियों के हृदय में यह भावना रहती है कि जो कोई भी उसके सूत से बुना हुआ वस्त्र धारण करे, वह चिरजीवी हो और यह वस्त्र उसका भरसक शृङ्गार कर सके। प्रायः स्त्रियाँ किसी एक स्थान पर इकट्ठी होकर चरखा कातती हैं। इस चरखा संघ का पंजाबी नाम 'त्रिजन' या 'तिजन' है। अनेक गीत × हैं, जिन्हें स्त्रियाँ चरखा कातते हुए गाया करती हैं। अपनी माँ को सम्बोधन करती हुई कोई नव-वधू गाती है—

हे मेरी माँ नीं ! चरखे ने घूँ-घूँ लाई
सियोणे दा मेरा चरखड़ा चाँदी दी गुज्झ पुयाई
हे मेरी माँ नीं ! चरखे ने घूँ-घूँ लाई
पट्ट रेशम मेरी माल है सोहणे रंग रँगाई
हे मेरी माँ नीं ! चरखे ने घूँ-घूँ लाई
तंद कढ्ढे मेरा जीवड़ा झड़ी नैना ने लाई
हे मेरी माँ नीं ! चरखे ने घूँ-घूँ लाई

—'हे माँ ! मेरा चरखा घूँ-घूँ कर रहा है।
स्वर्ण का मेरा चरखा है, चाँदी की 'गुज्झ' डलवाई है।
रेशमी है मेरे चरखे की माल, और मैंने उसे सुन्दर रंग में रँगा है।
हे माँ ! मेरा हृदय तार निकाल रहा है, और मेरी आँखों ने लगा रखी है आँसुओं की झड़ी।

[1] 'यंग इंडिया', १० दिसम्बर, १९१९

× चरखे के सम्बन्ध में पंजाब की एक लोकप्रिय पहेली है:—

'सदा तीमियाँ दा संग करदा, जती फेर वी पूरा;
पवन समान चाल है उसदी, पैर न पुट्टदा सूरा।
सारे जग नूँ लीडे देवे, आपों रैंहदा नंगा;
पंज सिर उसदे वेखो भाई, हथ्था इक्को चंगा।'

'वह सदा स्त्रियों की संगति में रहता है, फिर भी पूर्ण ब्रह्मचारी है। वायु के समान चलता है ; पर इतना बहादुर है कि पैर तक नहीं उठाता। सम्पूर्ण जगत् को वह वस्त्र भेंट करता है ; पर स्वयं वस्त्र-विहीन ही रहता है ; हे भाई, आप उसके पाँच सर देख सकते हैं ; पर उसका 'हथ्था' (दस्ता) केवल एक ही है।'

हे माँ मेरा चरखा घूँघूँ कर रहा है।'

सब चरखा कातनेवालियाँ उपर्युक्त गीत की नायिका की भाँति इतनी खुशकिस्मत नहीं होतीं कि स्वर्ण-निर्मित चरखे के गीत गा सकें। ग़रीब स्त्रियों के चरखे प्रायः बबूल की मामूली लकड़ी के बने होते हैं, और इस पर वे साधारणतया रूई या ऊन काता करती हैं; पर कोई-कोई ग़रीब स्त्री चन्दन के खुशबूदार चरखे पर रेशम कातने के स्वप्न देखती हुई गा उठती है—

किक्कर दा मेरा चरखा, माहिया !
चन्नण दा बनवा दे वे !
रूँ न कत्ताँ उन्न न कत्ताँ
रेशम हुण मँगवा दे वे !

—'बबूल के काठ का बना हुआ है मेरा चरखा, हे प्राणाधार !
मुझे ज़रा चन्दन का चरखा बनवा दो।
अब मैं रूई कातूँगी न ऊन।
मुझे रेशम मँगवा दो।'

परदेश जाते हुए पतियों को सम्बोधन करके स्त्रियाँ गाया करती हैं—

जे उठ्ठ चल्लियों नौकरी वे माहिया
नौकरी वे माहिया
सानूँ वी लै चल्लीं नाल वे
अखियाँ नूँ नींद क्यों न आई वे
तूँ करेंगा नौकरी नौकरी वे माहिया
नौकरी वे माहिया
मैं कत्ताँगी सोहणा सूत वे
अखियाँ नूँ नींद क्यों न आई वे
इक टका तेरी नौकरी नौकरी वे माहिया
नौकरी वे माहिया
लक्ख टकेदा मेरा सूत वे
अखियाँ नूँ नींद क्यों न आई वे

—'यदि तुम परदेश में नौकरी करने चले हो, ओ प्रियतम !
नौकरी करने ओ प्रियतम !
तो मुझे भी अपने साथ ही ले चलो न।
मेरी आँखों को नींद क्यों नहीं आई ?
तुम नौकरी किया करोगे ओ प्रियतम, नौकरी, ओ प्रियतम !

मैं सुन्दर सूत काता करूँगी।
मेरी आँखों को नींद क्यों नहीं आई ?
एक टके की होगी तुम्हारी नौकरी।
नौकरी, ओ प्रियतम !
लाख टके का होगा मेरा सूत।
मेरी आँखों को नींद नहीं आई !'

विवाहोत्सव पर गीत गाने की प्रथा प्रायः संसार के सभी देशों में पाई जाती है। जितनी पुरानी विवाह की प्रथा है, इस अवसर पर गीत गाने की प्रथा इससे कुछ कम पुरानी न होगी। पंजाब के विवाह-गीत विशेषतया दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—'घोड़ियाँ' और 'सुहाग'। इन गीतों की बहार विवाह की तिथि से कई-कई सप्ताह पूर्व ही आरम्भ हो जाती है। रात के समय भोजन इत्यादि से निपटकर विवाहवाले घर में स्त्रियाँ एकत्रित होती हैं और घंटों स्वर-में स्वर मिलाकर 'घोड़ियाँ' और 'सुहाग' गाया करती हैं। वर के घर में 'घोड़ियों' का साम्राज्य रहता है, और कन्या के घर में 'सुहाग'-गीतों का। इन दोनों प्रकार के गीतों की रूप-रेखा तथा विषय-सामग्री बिलकुल जुदा होती है। इनके अलावा विवाह-संस्कार में विभिन्न कृत्यों के साथ-साथ भी भिन्न-भिन्न प्रकार के गीत गाये जाते हैं।

निम्न-लिखित गीत में दूल्हे के सेहरे का गान किया गया है—

सिर पा चमेली राम बेली
परस आया देहरा
सिर मुकट मत्थे तिलक सोहे
गुन्द मालन सेहरा
ए गुन्द मालन मोती सेहरा
नी सो लाड़े मन भावे
ए तेरी भैंनड़ी सुखीलध्धेया
एह कुछ मंगेगी दानु
जाँ भैण गौरी दान मंगे
बड़ा चित्त ला दीजिये
सोना ताँ रूपा तिलिया तेवर
भैंनड़ी नूँ दीजिये

—'दूल्हे के सिर में चमेली का तेल लगा दिया गया है, राम उसके रक्षक रहें।

देवालय में पूजा-पाठ करके वह लौट आया है।
उसके सिर पर मुकुट है, और मस्तक पर शोभायमान है तिलक।
हे मालिन! दूल्हे के लिए सेहरा गूँथ लो न।
मोतियों की लड़ियाँ पिरोकर सेहरा गूँथना, ओ मालन!
जो दूल्हे को बिलकुल पसन्द आ जाय!
तुम्हारी बहन ओ भाग्यशाली दूल्हे,
तुम से कुछ दान मांगेगी; बहिन दान माँगे,
तो उसे दिल खोलकर दान देना।
उसे सोना-चाँदी और तिलाई 'तेवर'[1] देना।'
मोती के सेहरे के साथ साथ फूलों के सेहरे को भी प्रचुर स्थान मिला है—

मैं तेनूँ मालन आखियानीं
तू बड़ेयो सवेरे आ
आयो नी बड़ेयो सवेरे आ
बड़ेयो सवेरे आय के नीं
तूँ बागाँ 'च फेरा पा
पायो नी बड़ेयो सवेरे आ
बागाँ 'च फेरा पाय के
नीं तूँ बूटे-बूटे पानी पा
पायो नी बड़ेयो सवेरे आ
बूटे-बूटे पानी पाय के
नीं तू कलियो कली चुगल्या
ल्यायो नी बड़ेयो सवेरे आ
कलियो कली चुग ल्याय के
नीं तूँ सेहरा गुंद ल्या
ल्यायो नी बड़ेयो सवेरे आ

—'मैंने तुझ से कहा था, ओ मालिन! प्रभात समय आना।
आनारी, प्रभात के समय आना।
प्रभात-समय आकर,
प्रत्येक बूटे को सींचना।

१ तीन वस्त्र—घग्गरा, कमीज़ और दुपट्टा।

सींचना री मालिन, देख प्रभात होते ही आ जाना ।
प्रत्येक बूटे को सींचकर एक-एक कली चुन लाना ।
री मालिन, देख प्रभात होते ही आ जाना ।
एक-एक कली चुनकर दूल्हे के लिए सेहरा गूँथ लाना ।
री मालिन, देख प्रभात होते ही आ जाना'
इस सेहरे की क़ीमत एक लाख से तीन लाख रुपये तक हो सकती है—

एधर मरुआ ओधर चम्बा
बिच्च-बिच्च मालन आई, वे आँ
तुरत मालन मुलतान बुलाई वे
सेहरड़ा गुंद ल्याई, वे आँ
आ मेरी मालन बैठ गलीचे
करदे सेहरे दा मुल्ल, वे आँ
इक्क लख्ख सेहरा दो लख्ख सेहरा
त्रै लख्ख सेहरे दा मुल्ल, वे आँ

—'इस ओर मरुआ है, उस ओर है चम्बा ।
बीच के पथ से होकर मालिन आई है ।
सन्देश द्वारा मालिन मुल्तान से बुलवाई गई है ।
वह दूल्हे के लिए सेहरा गूँथ लाई है ।
आरी मेरी मालिन, मेरे गलीचे पर बैठ ।
सेहरे का मूल्य बतला ।
एक लाख है, दो लाख है ।
तीन लाख रुपया है सेहरे का मूल्य !'

सेहरे को सभी जातियों ने आदर की दृष्टि से देखा है। सेहरे का गान करती-करती सिख स्त्रियाँ सेहरा पहननेवाले दूल्हे को 'गुरुयाँ दा लाडला' (गुरुओं का लाड़ला) कहकर खुश हुआ करती हैं—

गुरुयाँ दा लाडला बन्ना नीली घोड़ी चढ़े
सबनाँ तों हरियावला बन्न नीली घोड़ी चढ़े
सिर बन्ने दे सेहरा सोहे कलग़ी दी अजब बहार कुड़े
नौबताँ बज्जन जलन मसालाँ गुरुयाँ दा लाडला ब्याहुन चढ़े

—'गुरुओं का लाड़ला दूल्हा नीली घोड़ी पर सवार हो रहा है ।
'सब से अधिक हरा-भरा दूल्हा नीली घोड़ी पर सवार हो रहा है ।

दूल्हे के सिर पर सेहरा सज रहा है और कलगी की बहार उससे भी अजीब है।

नौबत बज रही है, और सब ओर मशालों का प्रकाश है।

गुरुओं का लाड़ला दूल्हा दुलहिन से विवाह करने चला है।'

मुस्लिम स्त्रियों ने किसी-किसी गीत में सेहरे का गान करते-करते हज़रत मुहम्मद साहब के दिव्य विवाह की ओर भी संकेत किया है। कुछ वर्षों से निम्न-लिखित गीत का काफी प्रचार देखने में आता है—

अज्ज रात बरात मुहम्मद की अरशाँ नूँ जाऊँगी
मैं सदके अरबी लाड़े दे जञ्ञ खूब सुहाऊँगी
सोहना सेहरा खूब सुहाया हत्थीं जबराईल पहनाया
रंग चढ़िया दूण-सवाया शान अज्ज रहमत लाऊँगी

—'आज रात हज़रत मुहम्मद साहब की बरात अर्श को ओर प्रस्थान करेगी।

कुरबान जाऊँ मैं अपने इस अरबी दूल्हे के, उसकी बरात खूब शोभायमान होगी।

उनका सेहरा खूब सज रहा है, स्वयं जबराईल फ़रिश्ते ने अपने हाथों से इसे पहनाया है।

इस पर दून सवाया रंग-रूप आ गया है, और इसकी शान आज रहमत लायेगी।'

विवाह-गीतों की कन्याएँ अक्सर अपने पिता के सम्मुख वर-चुनाव की समस्या रखती नज़र आती हैं। इन गीतों की रचना सम्भवतः उस युग में हुई होगी, जब कन्याओं से स्वयंवर की स्वतन्त्रता छीन ली गई होगी; पर उन्हें इस विषय में अपनी इच्छाएँ कह सुनाने की स्वच्छन्दता होती होगी, और वर न मिलने पर वे अपनी करुणा का प्रकाश कर सकती होंगी। इसकी कुछ झलक निम्न-लिखित गीत में भी मिलेगी—

बाबल ! इक मेरा कहना कीजिये
मैनूँ राम रत्न वर दीजिये
जाइये ! लै अन्दा वर मैं टोलके
ज्यों रंग कुसुम्बा घोलके
बाबल ! इक मैनूँ पच्छोताड़ा बड़ाई
मैं आप गोरी वर सौंला ई
वारी राम रत्न सिर सेहरा
ज्यों बागाँ विच्च खिड़िया केवड़ा

—'मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिये, पिताजी !
मुझे रामरत्न वर दीजिये।'
'तेरे लिए मैं वर ढूँढ़ लाया हूँ, बेटी !
मानो घुला हुआ कुसुम का रंग हो।'
'एक बात का मुझे बड़ा पश्चात्ताप है, पिताजी !
मैं गौरांगी हूँ और आप मेरे लिए साँवला वर लाये हैं।
मैं कुरबान जाऊँ उस सेहरे पर जो रामरत्न के सिर पर बहार दिखा रहा है।
रामरत्न क्या है, मानो पुष्प-उद्यान में खिला हुआ केवड़ा है।'

गीत की अन्तिम पंक्तियों में ग्रामीण कन्या की उस संस्कृति का भी कुछ परिचय मिलता है, जो उसे साँवले वर को भी 'रामरत्न' और 'केवड़े का ताज़ा फूल' मानने की प्रेरणा करती है। इस कुरबानी के साथ मानो वह किसी विद्वान् के शब्दों में कह उठती है—'प्रेम का काव्य दुलहिन के लिए एक ही दूल्हे से और दूल्हे के लिए एक ही दुलहिन से प्रेम करने में है।'

विवाह किस ऋतु में होना चाहिए, इसकी सम्मति भी कन्याओं ने पूरी आज़ादी से दी है—

मैं तेनूँ बाबल आख रही सुन धरमियाँ
सावन साहा मत करो हरे राम-राम
सावन बरसे मेघला सुन धरमियाँ
गलियें चिक्कड़ होय हरे राम-राम
शाम जी दा बाणा भिजदा केसरी सुन धरमियाँ
तेरी बेटी दा भिज्ज जाँदा चोप हरे राम-राम
भुल्ल भुल्ल दख्खनी वाए नी सुन धरमियें
सुक्क जावे शाम जी दा बाणा हरे राम-राम

—'मैं तुम से प्रार्थना करती हूँ सुन ओ धर्मी पिता !
मेरा विवाह सावन में न करना, हरे राम-राम !
सावन में मेघ बरसता है, सुन ओ धर्मी पिता !
गलियों में कीचड़ हो जाता है, हरे राम-राम !
श्याम का केसरी बाना भीग रहा है, सुन ओ धर्मी पिता !
तुम्हारी बेटी का पल्ला ही भीग गया है।
हे दक्खिणी हवा ! तू बहुत धर्मी है, तू ज़रा वेग से चलने की कृपा कर।
मेरे श्याम का बाना सूख जाय, हरे राम-राम !'

कितनी ही कन्याओं को विवाह के लिए मार्गशीर्ष मास पसन्द है। निम्न-

लिखित गीत में इसका प्रमाण मिलता है—

मैं तेनूँ बाबल धर्मी आख रही सी
आहो रे बावल मग्घर करियो विवाह
भत्त न बुस्से तेरा गोत न रुस्से
आहो रे बावल दैहियों न आमला होय, आहो रे

—'हे धर्मी पिता ! मैंने आप से कहा था।
हाँ, पिताजी, मेरा विवाह मार्गशीर्ष में करना।
आपका भात ख़राब नहीं होगा, न भाई-बन्द ही रूठेंगे।
हाँ, पिताजी, दही भी अधिक खट्टा नहीं होगा।'

पंचनद का संगीत लोक-प्रतिभा के एक-एक रंग को प्रस्तुत करता है—ये रंग धरती और आकाश के अनेक दृश्यों के रंग हैं, जीवन के उल्लास के रंग, सुख-दुःख और आशा-निराशा के रंग। पंजाबी भाषा धन्य हो उठी है। साधारण शब्दों को जाने कितनी बार स्वर-ताल के साँचे में ढलने का अवसर मिला है, जाने कितनी बार उनका मूल्य संगीत की कसौटी पर परखा गया है।

पंजाब का मर्मस्पर्शी चित्र अङ्कित करते हुए स्वर्गीय कवि पूर्णसिंह ने लिखा था—

दरिआवां दे मेले एथे
दरिआवां वाले बछोड़े
डूंघे ते लम्मे सारे
बड्डे बड्डे दर्द ओ
इथ्थे प्यार दे हड़ां दा आवेश है
इथ्थे पहाड़ प्यार बिच्च पिघल दे

—'यहाँ नदियाँ परस्पर मिलती हैं।
नदियों की भाँति ही यहाँ के नर-नारी बिछुड़ते हैं।
गहरे और लम्बे हैं,
यहाँ के नरनारियों के दर्द बहुत बड़े-बड़े हैं।
यहाँ प्रेम के तूफानों का जोर है।
यहाँ पर्वत प्रेम से पिघले पड़ते हैं।'

पंजाब के मैदानों की भाँति ही यहाँ के निवासियों के हृदय विशाल और सुविस्तृत हैं। चिर आनन्दमयी प्रकृति से मिलकर यहाँ के नर-नारी एक-रूप तथा एक-रस हो गये हैं। यहाँ की गरमी, सरदी, बरसात; यहाँ की सन्ध्या तथा प्रभात;

यहाँ की नेत्र-रञ्जक हरियाली तथा सुनहरी धूप यहाँ के निवासियों के साथ खूब घुल-मिल गई हैं।

पाँच अलबेली नदियों के प्रदेश के लोक-मानस में प्रेम, सौन्दर्य, यौवन, वैभव तथा बलिदान की नदियां बहती हैं। अवसर पाकर इन नदियों की लहरें बाहर निकल आती हैं और लोक-गीतों के रूप में अमर हो जाती हैं।

स्वर्गीय प्रो० पूर्णसिंह ने ठीक ही लिखा है

पञ्जाब की एक भी बेटी परपुरुष का स्वप्न तक नहीं देख सकती। उसके लिए संसार-भर में एक ही पुरुष होता है। वह मिल गया और फिर बस। वह अपना सर्वस्व अपने उस पुरुष (पति) की नजर कर देती है। न थोथा विवाह-संस्कार, न कानून, न मिथ्या सम्मान, न शर्म — कोई भी उसके मन को विचलित करके उसकी आत्मा को उसके प्रेम-पात्र से विमुख नहीं कर सकते। वह अपने देवताओं के सम्मुख अपने वचन और प्रेम-व्रत पर दृढ़ रहती है। अपनी जन्म-भूमि की इज्जत को वह आँच नहीं आने देती। वह अपने पुरुष और परमात्मा के प्रति वफादार रहती है। संसार क्या कहता है, इस बात की वह जरा परवाह नहीं करती।

हीर भी पञ्जाब की एक ऐसी ही बेटी थी। रांझा को एक बार अपना प्रेम-पात्र बनाकर उसने कभी भूलकर भी किसी परपुरुष की ओर आँख नहीं उठाई थी। उसके माता-पिता ने अपनी बेटी के रास्ते में 'मुदाखलत बेजा' करने में बड़ा भारी दोष किया था।

'हीर-राँझा' की गाथा को पञ्जाब के कितने ही कवियों ने काव्य का विषय बनाया है। इनमें कविवर 'वारिसशाह' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। पर लोक-गीतों में और ही बहार है। कुछ नमूने लीजिये—

हीर कह रही है—

हथ्थीं सूलां मेरे पैरीं सूलां
मेरे गल सूलां दे तग्गे
सूल सरहांदी सूल परांदी
मेरे सूला सज्जे खब्बे
सूलां दी मैं सेज बछाई
मेरे सूल सीने विच्च खुभ्भे
ऐनियां सूलां मैनूं फुल्ल हो जावन
जे मियां रांझन लभ्भे

—'मेरे हाथों में काँटे हैं, पैरों में काँटे हैं।

गले में काँटों की मालाएँ हैं।
सिरहाना काँटों का है और पैरों के नीचे भी काँटे हैं।
दायें-बायें काँटे ही काँटे हैं
मैंने काँटों की सेज बिछाई है।
मेरे हृदय में काँटे चुभ रहे हैं।
ये सब काँटे मेरे लिए फूल बन जायँ।
यदि मुझे मेरा राँझा मिल जाय।'

प्रेम-पथ की कठिनाइयों का क्या कहना! 'दाग़' ने कहा है—

राहरुये राहे मुहब्बत का ख़ुदा हाफ़िज़ है
इसमें दो-चार ज़रा सख्त मुकाम आते हैं

यदि केवल दो-चार सख्त मुकाम ही आते तो क्या बात थी। यहाँ तो सख्त मुकामात का कोई हिसाब ही नहीं। हीर का एक-एक काँटा प्रेम-पथ का एक-एक सख्त मुकाम है। प्रीतम के दर्शन होते ही ये काँटे, काँटे नहीं रहते—फूल बन जाते हैं।

हीर सौन्दर्य की देवी है। प्रेम ने उसके सौन्दर्य को और भी चमका दिया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—

हे सौन्दर्य की देवी! अपना स्वरूप प्रेम में देख। दर्पण की चापलूसी पर लट्टू न हो। हीर ने प्रेम-दर्पण में ही अपना स्वरूप देखने का यत्न किया है।

हीर अपने प्रियतम का स्वागत कर रही है—

चन्नण कुट्ट मैं चुल्हा बनाया
प्रेम परोला फेरिया सहेलियो
बार्हीं बर्हीं रांझा घर आया
आटा गुन्हदीयां मैं गोये-गोये
हंजुया दा पानी लाया सहेलियो
बराहीं बर्हीं रांझा घर आया
मोती कुट्ट-कुट्ट मैं दाल धरां
हुस्न दा तड़का लामां सहेलियो
बार्हीं बर्हीं रांझा घर आया
पका-पुकूके नो मैं खुआया पिआया
खा-पीके वी रांझा रुस्सिया सहेलियो
बार्हीं बर्हीं रांझा घर आया

—'चन्दन कूटकर मैंने चूल्हा बनाया है।

उस पर प्रेम-रूपी 'परोला' फेरा है। प्यारी सखियो।
बारह वर्षों के पश्चात् आज मेरा राँझा घर आया है।
मैं सँवार-सँवारकर आटा गूँध रही हूं।
इसमें पानी के स्थान पर अपने अश्रुओं का प्रयोग कर रही हूं।
मोती कूट-कूटकर मैं दाल चढ़ा रही हूं।
(घी के स्थान पर) उसमें सौन्दर्य का 'तड़का' लगा रही हूं।
(ऐसा सुन्दर) भोजन पकाकर मैंने अपने राँझा को खिलाया।
हा! खा-पीकर भी राँझा रूठा ही रहा!'

इस गीत की अन्तिम पंक्ति में करुण-रस की पुट है। न जाने बारह वर्ष पश्चात् हीर से मिलकर भी राँझा क्यों रूठा रहा! बायरन के कथनानुसार प्रेम के मैदान में स्त्री पुरुष से बाजी ले जाती है—पुरुष का प्रेम उसके जीवन से पृथक् होता है; पर स्त्री का जीवन ही प्रेममय होता है।

हीर और राँझा का स्वरूप देखिये—

रांझा यार मिशरीदा कूजा
हीर कुड़ी खण्डदी डली

—'राँझा मिशरी का कूजा है।
हीर खाँड की डली है।'

रांझा हंस बहिश्तांवाला
हीर लड़ी मोतियां दी

—'राँझा स्वर्ग का हंस है।
हीर मानो मोतियों की लड़ी है।'

हीर स्योणे दी मुरगाई
रांझा हंस कुड़ियो

—'री सहेलियो हीर स्वर्ण की मुरगाबी है।
रांझा मानो हंस है।'

हीर सज्जरी मखणी वरगी
रांझा घियो कुड़ियो

—'री सहेलियो,हीर ताजा-ताजा मक्खन के समान है।
और राँझा मानो घी है।'

हीर गोरी गन्ने दी पोरी
रांझा गुड़ कुड़ियो

—'री सहेलियो! सुन्दरी हीर गन्ने की पोरी के समान है।

राँझा मानो गुड़ है।'

रांझा कील के पटारी बिच पाया
हीर बङ्गालन ने

—'राँझे को काबू करके अपनी पिटारी में बन्द कर लिया है!
बंगाल देश की जोगिन हीर ने!'

हीर कह रही है—

चेहरा वांग वे गुलाब
गया सुक रांझनां

—'तुम्हारा गुलाब के फूल के समान मुख
सूख गया है, ओ राँझन!'

रांझा मज्झियां नूं हूंगर मारे
मेरे भादा मोर कूकदा

—'मेरा प्रीतम राँझा भैंसों को आवाज देता है।
मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मोर कूक रहा है।'

रांझा मेरा मिरग कुड़ियो
मैं सोहनी हिरनी हीर

—'री सखियो! मेरा राँझा मृग के समान है।
मैं मानो एक सुन्दरी हिरनी हूँ।'

अब कुछ बारहमासी गीत लीजिए, जो पंजाब में 'बारांमांहां' कहलाते हैं। इनकी रचना वियोगिन स्त्रियों की है। प्रत्येक मास के आरम्भ में वे अपने प्राण-प्यारों की विशेष प्रतीक्षा करती हैं। बेचारियों को कभी-कभी वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। प्रत्येक गीत में वर्ष के बारहों मासों का वर्णन रहता है। विरह-वेदना इन गीतों का मुख्य विषय है। कविवर शैली के विचार में—

Our sweetest songs are those
That tell of saddest thought.

—'हमारे मधुरतम गीत वे हैं, जो करुणतम भावों को स्पन्दित करते हैं।' इस कसौटी पर 'बारांमाहां गीत' खरे उतरते हैं। इन गीतों के केवल भाव ही करुण नहीं होते, स्वर भी अत्यन्त करुण होते हैं।

सुनिये, कोई वियोगिन गा रही है—

परे बे बसाख चल पिया प्यारे
नैणांनूं नींद न आये
नैणांनूं नींद न आमदी चीरे वाले आ

मैनूं लैचल्ल अपने नाल
तूं घोड़े मैं पालकी
मैं चल्लां थुआडड़े, तेरे नैणांदी सौंह नालजेठ लोई मैंनूं
ऐसी उगमी जैसी अगन बजा
पानी कोरे मट्टदा चीरेवालिया मैंनूं हट्टो हट्ट बजार

—'बैसाख का आगमन है प्रियतम !
मेरे नयनों को नींद नहीं आती
नयनों को नींद नहीं आती चीरेवाले प्रीतम
मुझे अपने साथ ही ले चलो
तुम घोड़े पर सवार हो जाना, मैं पालकी में बैठूंगी,
तुम्हारे नयनों की सौगन्द, मैं तुम्हारे साथ चलूँगी
ज्येष्ठ मास की लू मुझे आग की तरह जला रही है।
ओ चीरेवाले प्रीतम, एक भी दुकान से मुझे कोरे मटके का जल नहीं मिला।'

इसके बाद फिर कहती है—

—'तुम्हारा प्रेम भाड़ में जाय
मुझे तुम्हारी आँखों की सौगन्द
मेरा लाल प्यास से आकुल हो रहा है
आषाढ़ मास आ गया है
मैं काग उड़ा रही हूँ।
हे काग ! चल, मुझे उड़ाकर ले चल।
मेरा हाड़-मांस सब खा लेना।
पर मेरी इन दोनों आँखों को न खाना।
मुझे तुम्हारी आँखों की सौगन्द।
मुझे अपने प्रीतम से एक बार फिर मिलने की आशा है।
लो सावन आ गया।
मेघ बरस रहा है।
मुझ पर जरा-जरा फुहार पड़ रही है।
मैं कीचड़ में पाँव नहीं डालती।
डरती हूँ कि कहीं मेरा नूपुर न भीग जाय।

हे मेरे चीरेवाले प्रीतम ! तुम्हें यहाँ से गये आज चार वर्ष होने को आते हैं
अब मैं तुम्हारे दर्शन बिना जीवित नहीं रह सकती।
भादों मास आ गया है।
तितलियाँ उड़ रही हैं।
ओ मेरे चीरेवाले प्रीतम ! कोयल की कू कू सुनाई पड़ रही है।
मेरी थाली किनारे से टूट गई है।
मेरे प्रीतम की मूँछें फूट रही हैं।
ओ मेरे चीरेवाले प्रीतम ! मुझे तुम्हारी आँखों की सौगन्द।
तुम्हारे होते हुए घर में मेरी सास मुझे गालियाँ दे रही है।'
पति ने लिख भेजा —
—'हे मेरी कोमलाङ्गी पत्नी !
हे मेरी 'भाग सलोनी' नारी !
सास गालियाँ देती है तो देने दे।
अपने नैहर में तूने खूब सुख देखा है।
अब जरा (ससुराल में) अपनी सास के पास दुःख भी देख ले।'
'लो क्वार आ गया।
मैं 'औंसियाँ' डाल-डाल कर[1] देख रही हूँ
कि मेरे प्रीतम कब घर आते हैं।
हे साजन ! मुझे तुम्हारी आंखों की सौगन्द।
तुम्हारे बिना मैं बेसुध हुई जा रही हूँ।
ओ मेरे चीरेवाले प्रीतम !
सुवर्ण की मेरी आरसी है।
इसमें जो दर्पण लगा हुआ है, वह मानो इसका मन्त्री है।
मुझे तेरी आंखों की सौगन्द, ननद प्यारी।
तू भी जरा 'औंसियाँ' डालकर पता लगा।
कि तेरा भाई कब घर आयेगा।
कार्त्तिक का आगमन हो रहा है।
मैं कोमलाङ्गी नारी बारीक-बारीक सूत कात रही हूँ।
मेरे सिर पर लाल-लाल चुनरी है।
गले में मोतियों की माला चमक रही है।

[1] भूमि पर रेखाएं डालकर हिसाब लगाया जाता है कि जिसकी प्रतीक्षा है वह कब आयगा।

लो अगहन आ गया ।
मैं लिहाफ रंगा रही हूँ ।
प्यारे मुझे पौष मास में ले जाना ।
ओ मेरे चीरेवाले प्रीतम !
आना है तो आओ ।
नहीं तो फिर क्या करोगे ।
घुटनों को गले से लगाकर, सो-सोकर मैंने कड़ा जाड़ा काट लिया है ।
अब तो माघ मास भी आ गया ।
मेरे घर में 'लोहड़ी' का त्योहार आया है ।
ओ मेरे चीरे वाले प्रीतम !
मैं 'घड़ी पुड़ी' बँधाकर तेरी प्रतीक्षा करती-करती थक गई हूँ ।
आखिर तुम पराये पुत्र ही ठहरे न !
कितना बेहाल किया है तुमने मुझे ।
फागुन मास आ गया है ।
मैं इत्र, अबीर और गुलाल के साथ फाग खेल रही हूँ ।
लो चैत्र आ गया ।
मैं 'मरुया' पूज रही हूँ ।
'राह-रुवेल' की पूजा भी करूँगी ।'
विरह-वेदना रत जेबुन्निसा ने कहा था—

बिनशीनम व सबर रा कुनम यार
ता यार मरा शवद् खरीदार
सद शुक्र कि दर्दमन्दे इश्क़म
गर अज़ दिल मन क़रार बरश्तम्

—'मैं बैठी हूँ और धैर्य को अपना प्रीतम बना रही हूँ,
ताकि मेरा प्रीतम मेरा खरीदार हो जाय ।
सौ शुक्र है कि मैं इश्क की दर्दमन्द हूँ ।
अगरचे मेरे दिल में अब कोई खुशी नहीं रही ।'

पूर्वोल्लिखित गीत की नायिका भी जेबुन्निसा की भाँति ही अपने प्रीतम की प्रतीक्षा कर रही है । प्रत्येक मास के आरम्भ में अपने प्राण-प्यारे का दर्शन करने के लिए वह व्याकुल हो उठती है, पर वह आने का नाम तक नहीं लेता । वह अपने प्रीतम की छाया में रहना चाहती है । वह केवल यही नहीं चाहती कि उसका प्रीतम अपना काम छोड़कर घर आ जाय । यदि वह उसे

अपने पास ही ले जाय तो वह सहर्ष जाने को तैयार है—'लो अगहन आ गया। मैं लिहाफ रंगा रही हूं। मुझे पौष मास में ले जाना। हे मेरे चीरेवाले प्रीतम! आना है तो अब आओ। फिर कब आओगे?'—इस उक्ति से यह भाव साफ झलक रहा है।

राम को वन की ओर प्रस्थान करते देखकर आदि-कवि की सीता ने कहा था—

अग्रस्ते गमिष्यामि मर्दयन्ती कुशकण्टकम्

—'मैं कुश कण्टकों को कुचलती हुई तुम्हारे आगे-आगे चलूँगी।'

फिर कहा था—

तव पदच्छाया विशिष्यते

—'तुम्हारे चरणों की छाया सर्वोत्तम है।'

उपरोक्त लोक-गीत की नायिका का आदर्श भी आदि कवि की सीता का सा ही प्रतीत होता है।

अब यहाँ कुछ फुटकर गीत लीजिए। इन में अनेक रसों का सम्मिश्रण है। ये बहुत छोटे-छोटे हैं; पर इनमें ग्रामीण नर-नारियों की कितनी ही चिर-सञ्चित अनुभूतियाँ छिपी पड़ी हैं। ये वे रस-स्रोत हैं जो जनसाधारण के हृदय-जगत् में न समा सके और गीतों के रूप में बाहर निकल पड़े।

ग्रामीण पत्नी अपने प्रीतम का स्वरूप बतला रही है—

मेरा यार मिसरी दा कूजा
मिट्ठा-मिट्ठी गल्ल करदा

—'मेरा प्रीतम मिसरी का कूजा है,
कितनी मीठी-मीठी बातें करता है!'

मेरा यार चन्नणदा बूटा
मुशक नाल मैं रज्जगी

—'मेरा प्रीतम चन्दन-वृक्ष है,
मैं उसकी सुगन्ध से ही सन्तुष्ट हो गई हूँ।'

मेरा यार सरुदा बूटा
बेहड़ विच्च ला रक्खिया

—'मेरा प्रीतम 'सरु' वृक्ष है।
मैं उसे अपने आँगन में लगाये हुए हूँ।

वसन्त आ गया है। कोयलें अपने मनोमोहक कूजन से अजब समाँ बाँध रही हैं। दुलहिन का पिया परदेश में है। प्रतीक्षा करते-करते कई दिन बीत गये;

पर वह अभी तक नहीं आया। काग का काँव-काँव शब्द किसी के आगमन का सूचक होता है। कई दिन से काग ने भी काँव-काँव नहीं किया। माना कि कोयल की 'कूक' 'काँव काँव' से कहीं सङ्गीतमय होती है; पर इससे वह काम नहीं लिया जा सकता, जो काँव-काँव से। दुलहिन गा रही है—

कदे बोल वे नमाणियां कामां
कोलां कूक दियां

—'अरे सम्मानरहित काग! कभी तो बोल,
कोयलों ने कू-कू की रट लगाई है।'

प्रेमिका पानी लिये आ रही है। उसके सर पर बहुत बड़ा घड़ा है। प्रेमी गा रहा है—

छोटा घड़ा चक्क लच्छिये
तेरे लक्क नू जरब न आवे

—'छोटा घड़ा उठाया कर, लच्छी,
देखना कहीं तेरी कमर में मोच न आ जाय।'

चाँदनी रात है। पति-पत्नी प्रेमालाप कर रहे हैं—

चन्द चढ़िया लोई वाला
तूं मेरी बुलबुल नीं
मैं फुल्ल खुशबूईवाला

—'चन्द्रमा उदय हो गया है,
तू मेरी बुलबुल है प्रिये!
मैं सुगन्धित फूल हूं।'

युवती का विवाह होने वाला है। वह ईश्वर से प्रार्थना कर रही है—

तार नाल तार मिले
मैं मस्तानी रब्बा
मस्ताना यार मिले

—'तार के साथ तार मिल जाय
हे ईश्वर, मैं मस्तानी हूं
मुझे मस्ताना प्रीतम मिले!'

सखी ने सुरमे की सलाई प्रेमिका के हाथ में दी है। वह गा रही है—

सुरमां केहड़ियां अक्खां बिच्च पामां
अक्खां बिच्च यार बसदा

—'सुरमा किन आँखों में डालूँ?

मेरी आँखों में तो मेरे प्रीतम बसते हैं।'

यौवन के सुनहले स्वप्न देखती हुई कोई बुढ़िया गा रही है—

तन पुरानां मन नमां
अखवां ओही सुभा
मैं तेनूं आखां जे बना
वे इक्क बेरी तां फेरा पा
तन पुरानां मन नमां
अखवां ओही सुभा
लख्ख करोड़ीं मैं लवां
वे इक्क बेर फिर आ

—'मेरा शरीर पुराना है, मन नवीन है
आँखों का स्वभाव पहले का सा ही है।
अरे यौवन, मैं तुमसे विनय करती हूँ,
जरा एक बार फिर से आ जाओ।
मेरा शरीर पुराना है, मन नया है,
आँखों का स्वभाव पहले का-सा ही है।
मैं लाखों-करोड़ों रुपये खर्च कर तुझे ले लूँगी,
तुम एक बार फिर आ जाओ!'

कोई रमणी अपनी बचपन की सहेलियों को देखने के लिए तरस रही है। कई बार वह मायके गई है; पर दैवयोग से उन दिनों वे अपने-अपने ससुराल होती हैं और वह बेचारी तरसती ही रह जाती है। एक गीत में उसका व्यथा-पूर्ण हृदय बाहर निकल आया है—

कोठे दे मगर हवेली
भैणां नूं भाई नित्त मिलदे
डारों बिछड़ी न मिले सहेली

—'कोठे के पीछे हवेली है,
बहिनों को भाई तो नित्य-प्रति ही मिल सकते हैं।
पर डार से बिछड़ी सहेली नहीं मिलती।'

प्रेमी रूठकर परे जा बैठा है। प्रेमिका गा रही है—

यारी तोड़के खुंडां ते बह गया
वे हुण की तूं रब्ब बन गया

—'प्रेम से मुख मोड़कर तू परे लकड़ी के ठूँठों पर जा बैठा,

अब क्या तू परमात्मा बन गया है।'
प्रेम-पथ में सुख भी है और दुख भी—

लग्ग न किसे नूं जावे
गुड़ नालों इश्क़ मिट्ठा

—'ईश्वर करे कोई प्रेम में न फँसे,
प्रेम गुड़ से कहीं मीठा है।'

इस प्रकार के अनेक नन्हे-नन्हे बोल हैं जो यौवन, प्रेम और सौन्दर्य के प्रतीक हैं—

पिंडा मेरा मखमल दा
मेरे यार दी सुनहरी छाती

—'मेरा शरीर मख़मल का-सा है।
मेरे प्रीतम की छाती सुनहरी है।'

टुट्टी यारी दा कि लाज बनाइये
रस्सी होवे संढ लाइये

—'टूटे हुए प्रेम का क्या इलाज करे?
रस्सी टूट जाय तो उसे जोड़ लगाय लिया जाय।'

सुफने ओनगे तेरे
भलके उठ जेंगी

—'कल को तू चली जायगी,
फिर केवल तेरे स्वप्न ही आया करेंगे।'

मेरा लै चल्ल चरखा ओथे
वे जित्थे तेरे हल बगदे

—'मेरा चरखा उसी स्थान पर ले चल,
जहाँ तेरे हल चलते हैं।'

जिन्द वहूटी जम लाड़ा
ब्याह के लैजूँगा

—'जिन्दगी वधू है और जीवन वर,
वह उसे ब्याह कर ले जायेगा।'

रब्ब मिलदा गरीब दावे
दुनियाँ मान कर दी

—'परमात्मा तो ग़रीब बनने से मिलता है,
दुनिया है कि मान कर रही है।'

जेहड़े कैंहँदे सी मराँगे नाल तेरे
छड्ड के मदान भज्जगे

—'जो कहा करते थे—हम तुम्हारे लिए जान दे देंगे,
आज हमारा साथ छोड़ कर भाग गये।'

इश्क़ दरिया वगदा
किते डुब्ब न मरी अनजाणाँ

—'इश्क़ का दरिया बह रहा है,
ओ अनजान, कहीं इसमें डूब न मरना।'

चक्कना होवे ताँ हथ लाइये
इश्क़ जनाज्जे नूँ

—'इसे उठाना हो तभी हाथ लगाना चाहिये।
इश्क़ भी एक जनाज़ा है।'

कल्ली होवे न बनाँ बिच्च लकड़ी
कल्ला न होवे पुत्त जट्ट दा

—'ईश्वर करे बनों में लकड़ी अकेली न हो,
न किसान का पुत्र अकेला हो।'

तेरे सज्जरी पैड़ दा रेता
चक्क-चक्क लावाँ हिक्क नूँ

—'जहाँ से तू अभी अभी गया है,
वहाँ की धूलि उठा-उठाकर मैं अपनी छाती पर लगा रही हूँ।'

जे तैं मेरी चाल वेखनी
मेरी जुत्ती नूँ लुआ दे घुंगरू

—'यदि तुमको मेरी चाल देखनी है।
तो मेरी जूती को घुंगरू लगवा दो।'

जुत्ती लैदूं घुंगरुयां वाली
भमां मेरी जिंद बिकजे

—'मैं तुम्हें घुँगरुओं वाली जूती ले दूँगा,
चाहे मेरा जीवन भी क्यों न बिक जाय।'

टुट्टजें रेल गड्डिये
मेरे यार नूँ पिच्छे छड्ड आई

—'हे रेल-गाड़ी! ईश्वर करे तू टूट जाय,
तू मेरे प्रीतम को छोड़ आई है।'

काले रंग दी बिके पनसेरी[1]
गोरा रंग बिके रत्तियें ।

—'काला रंग पनसेरियों के हिसाब से बिक रहा है
और गोरा रंग रत्तियों के हिसाब से ।'

गोरा रंग गड्डियाँ विच आया
कालिया नूँ खबर करो

—'गोरा रंग गाड़ियों में आया है,
काले नर-नारियों को पता दे दो ।'

लोगड़ी दा फुल्ल बन के
तेरी गुत्त दे पिच्छे लग्ग जामाँ

—'लोगड़ी का फूल बन कर ।
मैं तुम्हारी वेणी से लिपट जाऊँ ।

लक्क शेर दा मिरग दे आने
गरदन कूँज दी बनी

कोई पति अपनी पत्नी के सौंदर्य का बखान कर रहा है—
—'उसकी कमर शेर की-सी है, आँखों की पुतलियाँ हिरन की-सी ।
और गरदन कूंज की सी है ।'

दिन चढ़दे दी लाली
रूप कुमारी दा ।

—'सूर्योदय की लालिमा-सा है कुमारी का रूप !'

सानूँ मित्रां बाक हनेरा
चन्द भावें लख्ख चढ़दे

—'चाँद चाहे लाख चढ़ जाय ।
प्रीतम के बिना अन्धकार ही अन्धकार है ।'

यारां नाल बहारी
दुनियाँ लख्ख वसदी

—'प्रीतम के साथ ही बहार है,
लाख दुनिया बसती है ।'

मेरा चरखा बोलियां पावे
कत्तनी कवित्त लावे

१ काला रंग गोरे रंग से कहीं सस्ता है !
पनसेरी=पाँचसेर ।

—'मेरा चरखा गीत गा रहा है,
मेरी कत्तनी कवित्त सुना रही है।'

जोड़ी मिलगी फ़रक न कोई
जुग-जुग जीवीं बावला

कोई कन्या अपने पिता से कह रही है—'जोड़ी मिल गई, ज़रा अन्तर है पिता! तुम युग-युग तक नहीं रहा। जीओ।'

की नाँगा न सौणाँ
बज्जियाँ बीनाँ तां

—'कभी साँप सो सकते हैं?
बीनें बजने पर?'

मूहरे लग्गजा सधूरी पग्ग वालिया
सप्प वंगूँ आमां मेहल दी

पत्नी कह रही है—
—'तुम आगे आगे चलो!
हे सिन्दूरी पगड़ी वाले प्रीतम! पीछे-पीछे मैं लचकती हुई आऊँगी।'

रोही दे कबूतर गोले
ताड़ी मारे उड्ड जानगे

—'ये जगली कबूतर हैं।
जो ताड़ी मारने से झट उड़ जायेंगे।'

सप्प दी तोर न तुरिये
जोगी कील लैनगे

—'साँप को गति से मत चल,
सँपेरे पकड़ लेंगे।'

अख्खीं देख के सबर न आवे
पानी होमें घुट्ट भरलां

—'तुम्हें इन आँखों से देख कर जी नहीं भरता,
यदि तुम पानी होते तो मैं घूंट भर लेती।'

गोरे रंग तों बदल गया काला
कि गम खा गया मित्रा

—'तुम्हारा गोरा-गोरा रग काला पड़ गया है,
प्रीतम कौन-सा ग़म खा रहा है तुम्हें?'

तंग तेरियां गमां दे पामां

चरखी मैं जिन्द दी कत्तां

—'मैं तुम्हारे ग़म के तार निकाल रही हूं,
मैं अपना चरखा कात रही हूं।'

मैं खंड दा पलेथन लामां
मित्रां दे फुलके नूं

—'मैं खाँड का पलोथन लगा रही हूं,
अपने प्रीतम की चपातियों को।'

यार ने गले नाल लाई
रब्ब दा दीदार हो गया

—'प्रीतम ने मुझे गले लगाया,
भगवान् का दर्शन हो गया।'

ल्यादे मित्रां दियां खबरां
उडुजा जानवरा

—'प्रीतम के समाचार ला दो।
उड़जा ओ पक्षी!'

जट्ट रोही दी किक्कर दा जातू
ब्याह के लै गया तूत दी छटी

—'जंगली बबूल के लट्ठ का-सा किसान युवक,
शहतूत की छड़ी की-सी (नाज़ुक) कन्या को ब्याह कर ले गया।

पैर कूचके झांजरां पाइयां
देखीं रब्बा! चक्कन लवीं

—'पैरों को माँज सँवार कर मैंने पाज़ेब पहनी हैं,
देखना भगवान्, कहीं मुझे उठा न लेना!'[1]

१ मृत्यु का ग्रास न बना देना।

कुल्लू का
मुदित सौंदर्य

नीचे:
घर की ओर

पवन हिलोर
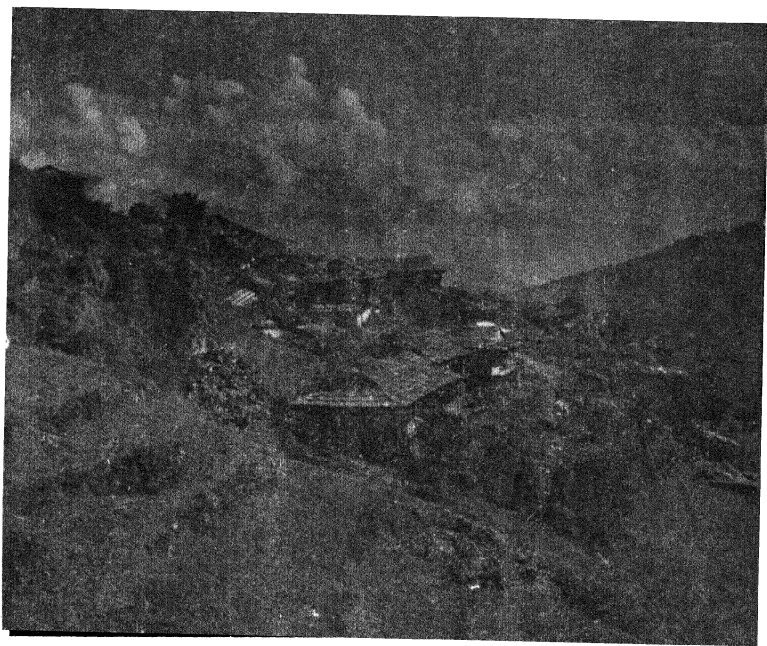
हिमालय का एक ग्राम (कुमारसेन और नारकण्डा के बीच)

धरती का
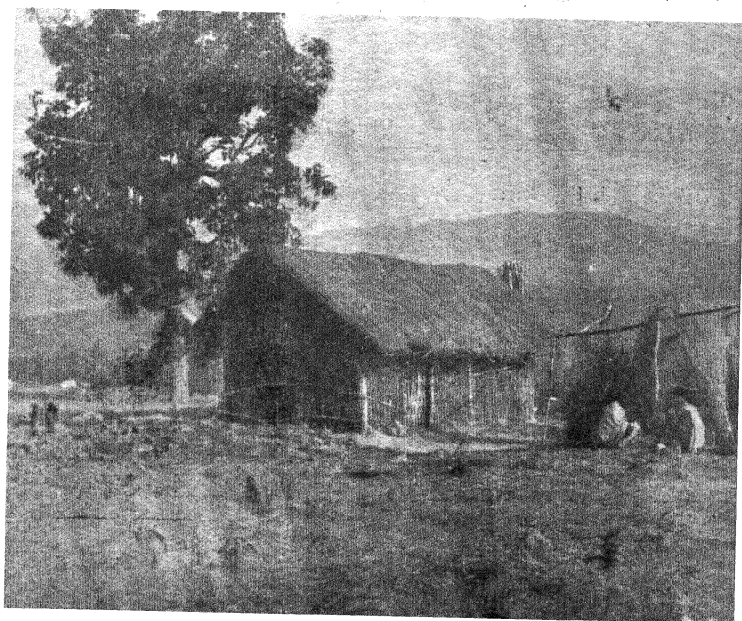
कुम्हार की बिटिया (आन्ध्रदेश)

उड़ीसा की सावरा
जाति के बालक

अबोध बालिका

कांगड़ा 'गद्दी'
चरवाहे

नीचे:
राजस्थानी बारात

सन्थाल युवती
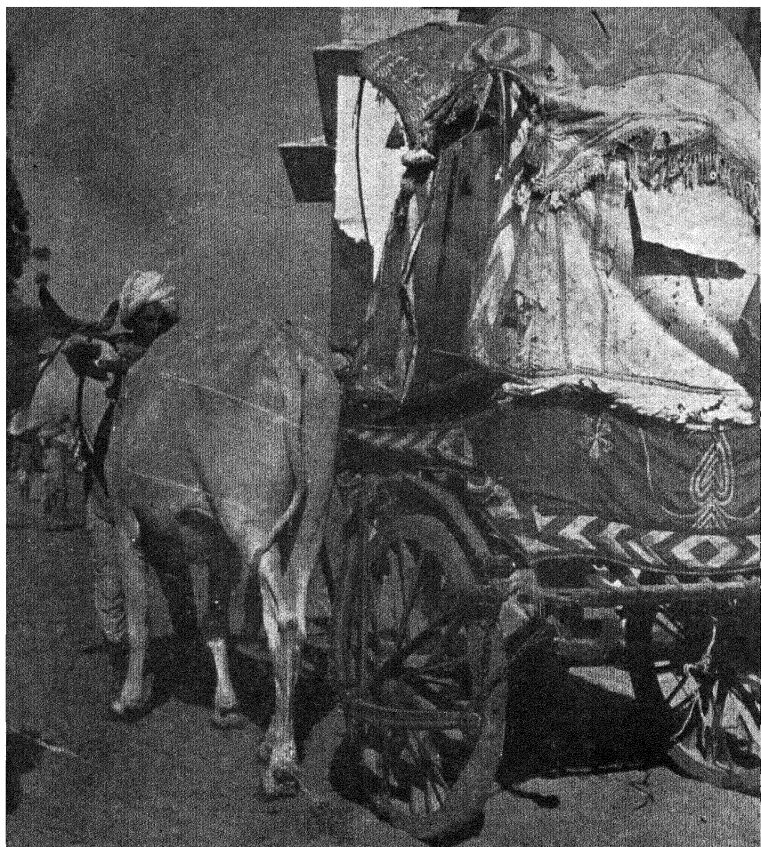
ब्रजमण्डल का रथ

शिमला का लोकनृत

एक मुण्डा
ढोलिया (छोटा नागपुर)

नीचे:
पृथ्वी पुत्र

१९
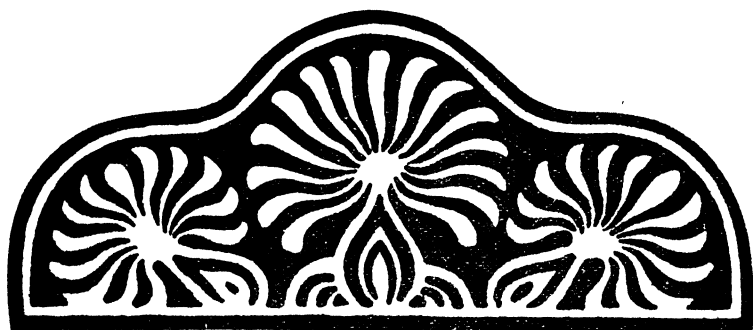
किसान-साहित्य

कुछ दिनों से हिन्दी-साहित्य-जगत् में किसानों के लिए साहित्य-निर्माण करने की चर्चा चल रही है। इसे हमें अपनी जागृति का लक्षण ही समझना चाहिए कि धीरे-धीरे हमें ग्रामों में बसने वाले जन-साधारण का और खासकर किसानों का ध्यान भी आ रहा है। हमारा देश कृषि-प्रधान है; किसान हमारे देश के प्राण हैं। उनके लिए यदि हमारे साहित्य-सेवी कुछ लिखेंगे, तो अच्छा ही होगा; पर इससे पहले कि वे इधर पग उठायें, उन्हें किसानों के निजी साहित्य से पूर्णतया परिचित होना होगा। वे गीत, जिन्हें किसान लोग वर्षा में, धूप में, आँधी और झक्कड़ में खून-पसीना एक करते हुए या मधुमय अवकाश में आनन्दोत्सव मनाते हुए गाते हैं, वे सूक्तियां, जो दैनिक जीवन में किसानों का मन बहलाती रहती हैं, वे सुख-दुःख की कथाएँ, जो समय समय पर उन्हें हँसाती और रुलाती रहती हैं—किसानों की निजी साहित्यिक कृतियाँ हैं। इनमें हमारे साहित्य-सेवियों को किसानों का हृदय मिलेगा; किसान-जीवन के कितने ही मनोवैज्ञानिक तथ्य, विचार-केन्द्र, दृष्टि-कोण और आदर्श अत्यन्त सरस तथा सजीव रूप में दृष्टिगोचर होंगे। इस किसान-साहित्य में उन्हें किसानों के विशेष व्यक्तित्व का आभास प्राप्त होगा। इसके मनन के पश्चात् वे शायद किसानों को कुछ साहित्यिक सामग्री भेंट करने में सफल हो सकेंगे।

हमारे वे साहित्य-सेवी, जिन्होंने कभी स्वप्न में भी ग्रामीण जीवन का रसास्वादन नहीं किया और जिन्हें हमारे किसानों के सुख-दुःख की ज़रा भी

टोह नहीं, शहरों के राजसिक और तामसिक वातावरण ने जिन्हें कहीं का नहीं छोड़ा, किसानों को सात्विक साहित्य प्रदान करने में शायद ही सफल हो सकें ; देश के उन किसान नर-नारियों को जो आज भी आदम और हव्वा की भाँति सरल और निष्पाप हैं, सहृदय हैं और व्यापारिकता से कोसों दूर हैं, इन साहित्य-सेवियों से मिल ही क्या सकता है ? जब तक वे किसानों की नैसर्गिक मुसकान में अपनी मुसकान और गरम-गरम आँसुओं में अपने आँसू मिलाना नहीं सीखेंगे, तब तक किसानों के लिए कोई काम की चीज लिखना उनसे सम्भव नहीं हो सकता।

किसानों के निजी साहित्य में हमें किसान-जीवन का 'सोरठ' और 'बिहाग' सुनने को मिलेगा ; और देखने को मिलेंगे किसानों के सुख-दुःख के चित्र। यहाँ हम किसान-साहित्य की कुछ सरस सूक्तियाँ और सजीव कृतियाँ दे रहे हैं।

किसान क्या चाहता है, उसका चित्रण एक राजस्थानी लोकोक्ति में देखिए—

उठे ही पीरो होय उठे ही सासरो
आथुणों होय खेत चवे नहिं आसरो
नाड़ा खेल नजीक उठें हल खोलना
इतना दे करतार फेर नहिं बोलना

—'पिता का घर और ससुराल एक ही ग्राम में हो।
खेत पश्चिम में हो, झोंपड़ी चूती न हो।
जलाशय खेत के पास ही हो, जहां बैल पानी पीने के लिए खोल दिये जायँ।
यदि भगवान् इतना दे दें तो फिर और क्या चाहिए ?'

किसान अपने पैर पर आप ही कब कुल्हाड़ा चलाता है ?
जैसा कि युक्त-प्रान्त की एक लोकोक्ति में अंकित किया गया है—

बूढ़ा बैल बेसाहे झीना कपड़ा लेय
आपनि करे नसौनी दैवे दूषन देय

—'जो बूढ़ा बैल खरीदता है और बारीक वस्त्र लेता है।
अपना नाश स्वय ही कर लेता है और परमात्मा को वृथा ही दोष देता है।'

जब तक अन्न घर में न आ जाय, तब तक किसान को अपनी अच्छी-से-अच्छी खेती पर भी गर्व न करना चाहिए। एक पंजाबी लोकोक्ति में इसे देखिए—

पक्की खेती बेख के गरब गया किरसान
भरुखड़ भेड़ा सिर पवे घर आयी तों जान

—'पकी हुई खेती देखकर किसान को गर्व हो गया।
ओले, आँधी और वर्षा से कई बार पकी हुई खेती भी नष्ट हो जाती है।'
अरे किसान! फसल को उसी समय अपनी समझ, जब वह घर आ जाय।'

किसान दुःखी कब होता है? इसे उड़िया लोकोक्ति में अच्छी तरह अंकित किया गया है—

अल्प तेंटा माईपो खेंटा
मठुया बलुद जाहार जम
घरे जाई कि सुख पाईबो
निति मरण ताहार

—'जिसकी पूँजी थोड़ी है, पत्नी मुँहफट है।
जिसके पास यम-स्वरूप बूढ़ा बैल है।
वह घर जाकर क्या सुख पायेगा।
उसका तो हर रोज मरण ही मरण है।'

सुस्त किसान का चित्र देखिये—

सावन सोये ससुर घर भादों खाय पुवा
खेत-खेत में पूंछत डोलै तोहरे कोतक हुवा

—'(सुस्त और बेपरवाह किसान) सावन में ससुराल में सोता रहा और भादों में पुवा खाता रहा।
अब वह दूसरों के खेत में जाकर पूछता फिरता है—तुम्हारे खेत में कितनी पैदावार हुई है?'

किसान मचलने पर आ जाय तो हद ही कर देता है, इसे पञ्जाबी लोकोक्ति में देखिए—

जट्ट मचला खुदा नूँ लै गये चोर

—'किसान मचल गया है और खुदा को चोर ले गये हैं।
अर्थात् इस अवस्था में वह खुदा की भी परवाह नहीं करता।'

उड़िया लोकोक्ति में किसान की महिमा सुनिये—

चस्सा जगतर रजा

—'किसान क्या है, जगत् भर का राजा है।'

खेती ही घरबार है, यह उड़िया लोकोक्ति में चित्रित किया गया है —

चासो नाहिं जाहार
बासो नाहिं ताहार

—'जिसकी खेती नहीं।
उसका घर-बार कहीं भी नहीं।'

सुखी किसान का चित्र देखिये —

बीघा बायर होय बांध जो होय बंधाये
भरा भुसौला होय बबुर जो होय बुवाये
बढ़ई बसे समीप बसूला बाढ़ धराये
परिखन होय सुजान बिया बोउनिहा बनाये
बरद बगौधा होय बरदिया चतुर सुहाये
बेटवा होय सपूत कहे बिन करे कराये

—'सारा खेत एक चक हो।
खेत के इर्द-गिर्द सिंचाई के लिए मेड़ बनी हुई हो।
भूसे का कोठा भूसे से भरपूर हो, बबूल के वृक्ष हों।
तेज बसूले वाला बढ़ई पास हो।
पत्नी समझदार हो और बीज बोने योग्य तैयार कर रखती हो।
बैल बगौधा नसल का हो।
हलवाहा होशियार और नेक हो।
बेटा सपूत हो जो बिना पिता के हुक्म से ही
सब काम करता-कराता हो।'

इसी भाव की 'घाघ' की एक सूक्ति है —

भुइयां ग्वैंडे हर ह्वै चार घर होइ गिहिथन गऊ दुधार
अरहरक दाल जड़हनक भात, गागल निबुआ औ घिउ तात
सहर सखण्ड दही जो होइ, बांके नैन परोसे जोइ
कहैं घाघ तब सब ही झूठा, उहाँ छोड़ि इहवैं बैकुण्ठा

—'ग्राम के समीप ही खेत हों।
चार हल हों।
घर में कार्य-निपुण पत्नी हो।
दूध देने वाली गाय हो।

खाने को अरहर की दाल और जड़हन का भात हो।
उसमें डालने को घी तथा निचोड़ने को नींबू हो।
खांड और दही हो।
भोजन परोसनेवाली बांके नेत्रोंवाली पत्नी हो।
घाघ कहते हैं, यदि ये सब बातें हों।
तो यहीं वैकुण्ठ है।'

पञ्जाबी लोकोक्ति में किसान-रमणी अपने निखट्टू पति की शिकायत कर रही है—

जद जट्ट नूं मैं हल नूं घल्लां
टुकड़े खाके पै जाय लम्मां
मन-खट्टू दे लड़ लाया मैनूं
की दस्सां मैं ओहदियां गल्लां

—'रोटी खिलाकर मैं उसे हल चलाने को भेजती हूँ।
पर वह खेत में नहीं जाता, सोकर ही समय गुजार देता है।
हा! मुझे निखट्टू के गले बाँध दिया गया है।
उसके विषय में मैं और क्या कहूं।'

किसान को दूसरों की खेती भली लगती है, यह आसमिया लोकोक्ति में देखिए—

सह सिकन परर
पुय सिकन घरर

'खेती दूसरों की सुन्दर लगती है।
सन्तान अपने घर की।'

सन्देश-द्वारा खेती से लाभ की आशा न रखनी चाहिए, यह एक पञ्जाबी लोकोक्ति में अच्छी तरह अंकित किया गया है—

पर हथ्थीं बनज सुनेहीं खेती
कदे न हुन्दे बत्तिआं दे तेती

—'सेवकों द्वारा व्यापार और सन्देश द्वारा खेती करने से,
कभी बत्तीस से तैंतीस नहीं होते।'

कोई समय था, जब भारत की भूमि सोना उगलती थी। हमारे किसान इतने अमीर थे कि यदि वे चाहते, तो सोने-चाँदी के हल बना सकते थे। किसान-जीवन उन दिनों एक नैसर्गिक और अटूट गीत के समान था; इसमें मुसकान थी,

सुगन्ध थी और माधुरी थी। एक उड़िया लोक-गीत में उस समय का स्वप्न देखिए—

हलिया होइण त...न गाइलु गीत...
सुनार नांगल कु जे...रूपार जुयाली
हीरा माणंकर बलद
हलिया बनमाली हे...

—'अरे, तूने किसान होकर भी गीत नहीं गाया!
सोने का हल है और चाँदी का जुआ।
हीरों और मणियों का बैल है।
किसान स्वयं कृष्ण भगवान् हैं।'

बैल किसान के बहुत काम आता है; वह हल चलाता है, गाड़ियों तथा छकड़ों में जुतता है। बैल को पूर्वोक्त गीत में हीरों और मणियों की बनी हुई वस्तु के समान मूल्यवान बतलाया गया है। एक कौंढ लोक-गीत में बैल के साथ किसान का वार्तालाप सुनिए—

ओ-ो-ो-ो-ो-ो-ो-ो-ो कोड़ी
अनाड़ी की साजी सिडाई डुड्डामूं
अनाड़ी की साजीसिडाई ताकामूं
एनों नाईं जेडा गाटी कीड़ीती
ऊते ऊते संडामूं संडामूं संडामूं
आसाड़ी पिज्जू वातेका कुड़िंगा देहाने आईनूं
माईं इड्डू तानी सुन्नां रुपा पूरीआनूं
ओ-ो-ो-ो-ो-ो-ो-ो-ो-ा-ो कोड़ी
बेजाके कोड़ी वेला दियातू ऊते ऊते बेजामूं
सूनाड़ाई नांगेली गाड़ीगीईं बेजामूं
ऊते ऊते संडामूं ऊते ऊते बेजामूं
रुपाड़ाई जुयेली गाड़ गीईं बेजामूं
ऊते ऊते संडामूं ऊते ऊते बेजामूं
डोका तांगी हीरांगा पोतेका गाड़ीगोईं बेजामूं
ऊते ऊते संडामूं ऊते ऊते बेजामूं
नेगी कांगागा तिनबा सिआई बेजामूं
ऊते ऊते संडामूं ऊते ऊते बेजामूं
सीडा दूहे एम्बा बिहङ्गा बेजामूं

ऊते ऊते संडामूं ऊते ऊते बेजामूं
—'रे बैल ! चल, तू चलता क्यों नहीं ?
चल आगे बढ़। तू मेरा प्यारा बैल है।
चल, जल्दी-जल्दी चल।
आषाढ़ मास में वर्षा की झड़ी लगेगी।
खूब धान होगा।
और मेरा घर सोने और चाँदी से भर जायगा।
रे बैल ! तू देखता नहीं है क्या ?
कितना दिन ढल गया !
चल, हल खींच और आगे बढ़।
मैं सोने का हल बनाऊँगा।
चल, बैल ! जल्दी-जल्दी चल।
चल, जल्दी-जल्दी हल खींच।
मैं चाँदी का जुआ बनवाऊँगा।
चल, बैल ! जल्दी-जल्दी चल।
चल, जल्दी-जल्दी हल खींच।
बैल रे ! तेरे गले में मैं हीरों का हार पहनाऊँगा।
चल, जल्दी-जल्दी चल, चल।
जल्दी-जल्दी हल खींच।
रे बैल ! मैं तुझे मीठे-मीठे जङ्गली फल खिलाऊँगा।
चल, जल्दी-जल्दी चल।
चल, जल्दी-जल्दी हल खींच।
रे बैल ! मैं तुझे साफ और सुन्दर घर में सुलाऊँगा।
चल, जल्दी-जल्दी चल, चल।
जल्दी-जल्दी हल खींच।
रे बैल ! उस घर में (जहाँ तू सोयेगा) मच्छर बिलकुल न होंगे।
चल, जल्दी-जल्दी चल, चल।
जल्दी-जल्दी हल खींच।'

किसान बैल को अपने सुख मे बराबर का हिस्सेदार समझता है। फसल अच्छी होने से वह धन-धान्य प्राप्त करेगा, सोने का हल और चाँदी का जुआ बनायेगा, बैल को हीरों का हार पहनाकर खूब सजायेगा और उसे मीठे-मीठे जङ्गली फल खिलायेगा, सोने के लिए उसे वह स्थान देगा जहाँ मच्छर न हों—

अधिक गीत याद भी नहीं हैं ; क्योंकि उसे अन्य साथियों के साथ मिलकर हल चलाने और सुन-सुनकर गीत सीखने का अवसर बहुत कम मिला है। किसी साथी से बार-बार गीत गाने की प्रेरणा पाकर कोई उड़िया किसान गा उठा था—

हल बांधी नांई हलिया कु मेले
पाठो पढ़ि नाई चाटो साली घरे
की गीतो गाईबी मूं हलिया
मूं धरिछी बूढ़ा हल हो-ो-ो-ो-ो

—'न कभी मैंने किसानों के साथ मिलकर हल चलाया।
न किसी पाठशाला में शिक्षा पाई।
मैं किसान क्या गीत गाऊँ ?
मैं तो बूढ़े बैलों के साथ हल चला रहा हूँ।'

सरदी के दिनों में जब किसान का शरीर सर्द हवा से ठिठुर जाता है, तब वह सोचता है कि उसके प्यारे खेत को भी अवश्य ही सरदी सताती होगी। मुण्डा किसान इसी भाव से ओत-प्रोत होकर सहानुभूति-पूर्ण स्वरों में गाता है—

लोरबो सोकोरा लोरबो सोकोरा
लाकी राजम रबङ्गतना
लकरजम रबङ्गतना
राला राजा सोरोमे
कोआलुइङ्ग बैबरुइताद
सरतिया चिम लाबरा
कोआलुइङ्ग बैबरुइताद

—'बहुत दूर नदी के किनारे धान का खेत है।
रे धान के खेत ! अधिक सरदी के कारण तू काँप रहा है।
आ जा, धान-राजा !
मेरी झोपड़ी में आ जा।
तुझे रखने के लिए मेरे पास लकड़ी का एक तख्ता है।'

एक और मुण्डा लोक-गीत सुनिए, जिस में आषाढ़ मास की चर्चा की गई है—

असार चण्डू तेबालेना
डोला माइरे रोआ मालाते

—'आषाढ़ मास आ पहुंचा है
आओ, प्रीतम, धान के खेत को निराने आओ ।'

बूढ़े बैलों के साथ हल चलाना सचमुच बहुत कठिन है। बैल थक जाते हैं और हल के साथ एक पग आगे चलना भी मुश्किल हो जाता है, तब उड़िया किसान उन्हें अनेक प्रकार के प्रलोभन देता है—

चालो चालो बलद न करो भालोनी
आऊरी घड़िये हेले पाईबो मेलानी
खाईबो कच्चा घास जो, पीईबी ठण्डा पानी हो -ो -ो -ो -ो

—'चल, चल, रे बैल ! फ़िकर मत कर !
थोड़ी देर बाद ही तुझे छुट्टी मिल जायगी ।
खाने के लिए हरी-हरी घास मिलेगी ।
पीने के लिए ठण्डा पानी ।'
थका हुआ बैल जब हिलता ही नहीं तब उड़िया किसान फिर गाता है—

बोइला रे-ए-ए-ए, कालिया बलद्दर त-अ-अ-अ
टिकि टिकि आखी ई-ई-ई-ई
पाद टेकी पकारे कालिआ-आ-आ-आ
मो ऊड़िबो सरु बाली हो -ो -ो -ो

—'काले रङ्ग का बैल है ।
उसकी छोटी-छोटी आँखें हैं ।
रे कालिया बैल, जरा कदम तो उठा ।
भूमि उखड़ती हुई चली जायगी ।'

किश्ती में धान तथा सम लादकर कोई किसान नदी के उस पार जा रहा था। सहसा तूफ़ान आया और किश्ती उलट गई। बेचारा किसान तो किसी तरह बच निकला ; पर उसकी खून-पसीने की कमाई हमेशा के लिए उसके हाथ से जाती रही। इस करुण दशा में बंगाल के किसान किस प्रकार अपने भाग्य को कोसते हैं, इसका वर्णन देखिए—

आमार केर्मे नाई
नूआ गाङ्गे जुआर आइया रे
हकल कल्लो तहूँ अहूँ अहूँ
आमार केर्मे नाई

तोमारी हिकमते अल्ला सिरजीला मानुष
धान नाइल्या हकल निश्रा रे
हकल कल्लो तहूँ अहूँ अहूँ
आमार केर्मे नाई

—'मेरे भाग्य में ही नहीं बदा था !
नदी में तूफ़ान आ गया, और हा !
इसने मेरा सर्वनाश ही कर दिया।
या अल्लाह ! अपनी हिकमत से तुमने मनुष्य को रचा।
मेरा धान भी ले लिया और पटसन भी ले लिया।
हा ! मेरा सर्वनाश ही कर दिया !
मेरे भाग्य में ही ऐसा बदा था।'

बंगाल का किसान सोचता था कि पटसन बेचकर अपनी पत्नी के लिए नथ गढ़वा दूँगा, पर उसके मन की मन में ही रह गई—

कतोई कष्ट निखछीलो खुदा नसीबे
नाइल्या बैसा कोड़ी दिया, दिवाम तारे नथ घड़ाइया
हेई नाइल्या बाशाइया नीलो, होते रे, होते रे

—'खुदा ने मेरे नसीब में कितने कष्ट लिखे थे।
मैंने वचन दिया था कि पटसन बेचकर नथ गढ़वा दूँगा।
पर हा ! वही पटसन नदी के स्रोत में बह गया।'

पर पंजाबी जाट भगवान् के सम्मुख इस प्रकार रुदन करना पसन्द नहीं करता। वह तो उल्टा भगवान् को डाँटने का दृष्टिकोण अपनाता है—

रब्बा, तेरी माँ मरजे
पैसे वालियाँ दे पाणी पीवें !

—'हे भगवान्, तुम्हारी माँ मर जाय,
तुम पैसे वाले लोगों के यहाँ ही पानी पीते हो !'

जाट जब गाली देने पर उतरता है, तब भगवान् की भी परवाह नहीं करता। उसे यह एक आँख नहीं भाता कि भगवान् केवल पैसे वाले लोगों का ही आतिथ्य स्वीकार करे।

अँग्रेज़ी राज्य के कष्टों की ओर संकेत करते हुए पंजाबी जाट ने एक स्थान पर यह कल्पना प्रस्तुत की है कि अब भगवान् जीवित नहीं रहे और सब-के-सब देवता भी भाग गये—

रब्ब मोएआ देवते भज्ज गये
राज फिरंगियां दा !

—'भगवान् मर गये, देवता भाग गये।
फिरंगियों का राज है !

किसान-साहित्य में ऐसी रचनाओं की कमी नहीं है, जो अत्यन्त प्रभावकारिणी, रसमयी और प्रेम के भाव से ओत-प्रोत हैं और उनका अपना निराला महत्त्व है। हमारे साहित्य-सेवियों को किसान साहित्य का अवश्य अध्ययन करना चाहिए। इससे वे किसानों से अच्छी तरह परिचित हो सकेंगे और किसानों के लिए उपयोगी साहित्य की सृष्टि कर सकेंगे।

२०

तिब्बती गीत

"हिमालय का वरदान सब से अधिक तिब्बत को मिला है"—ये शब्द जो एक लामा के मुख से सुनने को मिले थे, सदैव मेरी कल्पना को स्पर्श करने लगते हैं और जी में आता है कि सौ काम छोड़ कर पहले तिब्बत की यात्रा की जाय और तिब्बती गीतों में हिमालय के चित्र किन-किन रेखाओं द्वारा अंकित किये गये हैं, इसकी एक विस्तृत सूची प्रस्तुत की जाय। पर यदि केवल मन में आया हुआ विचार पूरी तरह नहीं उभरे, पग में गति न आये, तो कल्पना कितनी झुँझलाती है—यह कुछ वही लोग जान सकते हैं, जिन्होंने वर्षों अपना जीवन खानाबदोशी में गुज़ारा हो और फिर जीवन की मजबूरियों के हाथों बिक कर एक स्थान पर बँध जायँ।

जिस लामा का मैंने ज़िक्र किया, वह भारत की यात्रा करने आया था। हावड़ा के रेलवे स्टेशन पर उससे मेरी भेंट हुई। उसके साथ तीन चार और भी तिब्बती नर-नारी थे। एक दुभाषिया भी था। सचमुच यह दुभाषिया न होता, तो मैं उनके हृदय और मस्तिष्क में कभी न झाँक सकता, उनकी कल्पना में प्रतिभा की कूची ने हिमालय का जो चित्र अंकित कर रखा था, उसे कभी न देख सकता।

यदि इस तिब्बती यात्री-दल से भेंट न हुई होती, तो मैं अमेरिका की प्रसिद्ध पत्रिका 'एशिया' में प्रकाशित फ्लोरा बील शैल्टन के तिब्बती लोक-गीत-सम्बन्धी लेख का वास्तविक महत्त्व कभी न समझ सकता।

फ्लोरा बील शैल्टन ने लिखा था—

"मेरे गुरु जी-जोंग-ग्रंग ड्रू ने मेरे लिए तिब्बत के ये लोक-गीत स्मरण-शक्ति के बल पर लिख डाले थे। ये गीत अनेक पीढ़ियों से मौखिक परम्परा के रूप में गाये जाते हैं। नाचते-गाते समय इनमें अनेक हेर-फेर भी होते रहते हैं; क्योंकि जब दो पंक्तियों में खड़े होकर लोग इन्हें गाते हैं, तब वे एक-दूसरे से बाजी ले जाने का प्रयत्न किया करते हैं। भड़कीली रंगीन वेश-भूषा में खड़े लड़के लड़कियाँ बड़ा सुन्दर दृश्य उपस्थित करते हैं। उनकी स्पष्ट ध्वनियाँ पहाड़ी एवं जंगली देश के अनुकूल ही होती हैं। ये लोग वायोलिन सरीखे एक छोटे-से वाद्य-यंत्र का प्रयोग करते हैं, जिसे तिब्बती में 'पीवंग' और चीनी में 'फ्युचिन' कहते हैं और यह वाद्य-यंत्र सिंहल से भारत होता हुआ तिब्बत तथा चीन में आया है। कभी-कभी गिद्ध के पङ्ख की बड़ी हड्डी की बनी बाँसुरी का प्रयोग भी किया जाता है। परन्तु अधिकतर आपको ऊँचे पाँच सुरों का प्रयोग होता ही सुनाई देगा, और सुरों का उतार-चढ़ाव बहुत कम मिलेगा। जहाँ हम रहते थे, वहाँ सुरों का ज्ञान रखने वाला कोई नहीं था। सबको ये गतें याद थीं और कोई यह नहीं बता सकता था कि ये गतें कितनी पुरामी हैं और कहाँ से ली गई हैं।"

तिब्बती गीतों की पृष्ठ-भूमि को समझने में फ्लोरा बील शैल्टन के अध्ययन से मुझे बहुत सहायता मिली। लम्बे गीतों के सम्बन्ध में निम्न-लिखित वक्तव्य मुझे बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ—

"लम्बे गीत प्रायः खानाबदोश एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते समय गाते हैं। वार्षिक त्योहारों पर भी ये गीत गाने की प्रथा चली आती है। सामूहिक रूप से घेरे में नाचते हुए अपने सामने वाले के कंधे पर हाथ रखकर ग्राम के वयोवृद्ध लोगों के ओठों पर इन गीतों के शब्द थिरक उठते हैं। इन अवसरों पर—फसल के लिए देवताओं को धन्यवाद देने तथा आगामी फसल की शुभ-कामना के लिए—सबसे उत्तम गायक ही अपना गीत छेड़ता है। यदि किसी व्यक्ति की उपस्थिति अशुभ समझी जाती है, और वह घेरे में आने का प्रयास करता है, तो उसे बुरी तरह धक्के देकर घेरे से बाहर निकाल दिया जाता है।"

तिब्बती दुभाषिये ने मुझे अनेक गीत गा कर सुनाये। कुछ स्वर इतने ऊँचे थे, जैसे वे हावड़ा के रेलवे स्टेशन से सुदूर हिमालय के शिखरों तक जा पहुँचने

की सामर्थ्य रखते हों। कुछ स्वर कल्पना की गहराइयों को स्पर्श कर रहे थे, जैसे—तिब्बत की प्रत्येक घाटी को छू-छू जाते हों। इन गीतों की भाषा से मैं एकदम अपरिचित था। फिर भी, जैसा कि दुभाषिये की सहायता से पता चल सका, इनकी भाव-भूमि मेरी पकड़ से बहुत दूर की वस्तु नहीं थी। बार-बार मेरा ध्यान फ्लोरा बील शैल्टन-द्वारा प्रस्तुत किये गये तिब्बती गीत-संग्रह की ओर चला जाता—

सुन्दरता का गान

ऊपर नीले आकाश में बड़ी सुन्दरता से सजी हैं
तीन चमकती वस्तुएँ—सूर्य, चन्द्रमा और तारे
सबसे पहले और बड़ा है सूरज
इसके बाद है चन्द्रमा
जो दूज और पूर्णिमा को सबसे सुन्दर लगता है
तीसरा है सात सितारों का झुरमुट।
नीचे भूमि पर भी सजी हैं तीन वस्तुएँ
धारीदार सिंह, चित्तिदार तेंदुआ और लोमड़ी
सबसे बड़ा और पहला है धारीदार शेर
इसके बाद है चित्तीदार तेंदुआ
तीसरी है सुन्दर फर वाली लोमड़ी
और ये सब चन्दन-वन में मिलते हैं
सफेद शिखरों की चोटी पर सजी हैं तीन अन्य वस्तुएँ
हिरन, मृग और जंगली बकरी
सब से बड़ा तेज दौड़ने वाला है हिरन
मृग का नम्बर दूसरा है
जो दौड़ता हुआ बड़ा सुन्दर लगता है

यात्री का गीत

पर्वत की चोटी पर सदैव तीन वस्तुएँ मिलेंगी
पत्थी, आँधी और दर्रा
दर्रे के सिरे पर है विश्राम-स्थल
और वह सदा से वहीं है

आँधी और तूफान में आती है हवा की साँय-साँय
पर दर्रे की चोटी पर पक्षी विश्राम करता है प्रसन्नता से
यात्री को अपने पथ में मिलती हैं सदा तीन वस्तुएँ
नदी, टूटे गढ़ और पुल
नदी बहती रहती है
टूटे गढ़ खड़े रहते हैं
और पुल को भी कहीं नहीं ले जाया जा सकता
फिर यात्री अपने गाँव पहुँचता है जहाँ तीन वस्तुएँ हैं
चक्कर, घर और कुमारियाँ
चक्कर खत्म हुआ, क्योंकि वह अपने घर पहुँच गया
गाँव अपनी जगह से नहीं सरकता
कुमारियाँ इसे छोड़कर नहीं जातीं
गाँव में सचमुच कितना सुख है !

मनोरंजक गान

घाटी के ऊपरी भाग में हैं पहाड़ियाँ
चमकती पहाड़ियों पर है पीला मठ
इस पहाड़ी की चोटी पर सूर्य चमकता है
बड़े लामा के मुँह को सूर्य सेंकता है
इसलिए वह प्रसन्न है और उसके घर में सुख है
सबसे पीछे जंगली बकरी जो तेज दौड़ती है
घाटी के बीचों-बीच श्वेत मठ है
एक पहाड़ी की चोटी पर
इस पहाड़ी चोटी पर
चाँद चमकता है और चाँदनी में यह पहाड़ी भली लगती है
इस शुभ्र चाँदनी में अधिकारी का मुख प्रसन्न रहता है
क्योंकि इसके बिना उसके घर में सुख नहीं होता ।
नीचे घाटी में है एक पहाड़ी
यह पहाड़ी हरी है फिरोजे जैसी
इस पर है एक हरा मठ

नहीं तो हो जै हो बेदीन

इस बिरहा की रचना का श्रेय नारायण अहीर को है, जो तुलसीपुर (ज़िला गोंडा) का निवासी है। अभी उस दिन रामदयाल अहीर ने दिल्ली में यह गीत सुनाने के पश्चात् बड़े गर्व से कहा था—'मेरे गुरु ने ऐसे-ऐसे बीसों बिरहे रच डाले हैं।' गीत की अन्तिम पंक्तियाँ विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं, जिनमें लोक-कवि ने बड़े अर्थपूर्ण ढंग से यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि गांधी ने यह बुद्धि अँग्रेज़ों ही से सीखी थी—ज़ीन-जैसा मोटा कपड़ा पहनने की बुद्धि। खादी की परम्परा में लोक-कवि की आस्था अनेक दिनों से चली आ रही है।

पंजाबी लोक-गीत गांधी के यशोगान में अत्यन्त अग्रगामी नज़र आते हैं। अनेक बार गाँव की स्त्रियाँ 'गिद्धा' नृत्य की रंगभूमि पर गा उठी हैं—

आप गांधी कैद हो गया
सानूं दे गया खद्दर दा बाणा

—'गांधी स्वयं बन्दीगृह में चला गया।
वह हमें खद्दर के वस्त्र दे गया।'

गांधी दा नां सुण के
अंग्रेज दी नानी मर गई

—'गांधी का नाम सुनकर,
अँग्रेज़ की नानी मर गई।'

गांधी दे ना उत्तों
मैं सत्ते बहिश्तां वारां

—'गांधी के नाम पर,
मैं सातों बहिश्त न्योछावर कर दूँ।'

गांधी दे खद्दर ने
संघ लटठे दा घुट्टिया

—'गांधी के खद्दर ने,
लट्ठे का गला घोंट डाला।'

गांधी कहे फिरंगिया वे
हुण छड्ड दे हिन्दुस्तान

—'गांधी कह रहा है—ओ फिरंगी!
अब हिन्दुस्तान छोड़ दो!'

गांधी-सम्बन्धी दो पंजाबी लोक-गीत, जो मुझे दिल्ली में एक शरणार्थी स्त्री से प्राप्त हुए हैं, अत्यन्त अर्थपूर्ण और महत्त्वशाली हैं—

साडे वेहड़े सूरज चढ़िया, सूरज चढ़िया
सूरज वेखण आओ गांधी, आओ गांधी
तूं वी ते इक्क सूरज एं, इक्क सूरज एं
सूरज वेखण आओ गांधी, आओ गांधी
किक्कुण आवां भोलिये
मैनूँ कम्म हजार, कम्म हजार
मेरे चरखे चों निक्कलिया
अज्ज लम्मसलम्मा तार, लम्मसलम्मा तार
अंग्रेज़ कहे मैं जा रिहा, जा रिहा
गांधी आखे बेलीया तू छेती जा, छेती जा
अंग्रेज़ कहे मेरे कण्डा खुभा, कण्डा खुभा
गांधी आखे बेलीया दस्स कित्थे खुभा, कित्थे खुभा
गांधी कण्डा खिच्च लिया, खिच्च लिया
अंग्रेज़ पया अज्ज लम्मड़े राह, लम्मड़े राह
लोकीं भैड़े लड़ रहे गांधी दा की दोष, की दोष
हट के बैठो भैड़ियो वे कर देखो कुझ होश, कुझ होश
सूरज रिशमाँ छड्डियाँ अज चमके धरती, चमके धरती
गाँधी मत्था टेकिया अज खुश ए धरती, खुश ए धरती

—'हमारे आँगन में सूर्य उदय हुआ है, सूर्य उदय हुआ है।
सूर्य देखने के लिए आओ, हे गांधी, आओ हे गांधी!
तुम भी तो एक सूर्य हो, एक सूर्य हो।
सूर्य देखने के लिये आओ, हे गांधी, आओ, हे गांधी!
कैसे आऊँ, भोली नारी,
मुझे तो हजार कार्य करने हैं, हजार कार्य करने हैं।
मेरे चरखे से निकला है,
आज लम्बा तार, लम्बा तार।
अँग्रेज़ कहता है—मैं जा रहा हूँ, जा रहा हूँ।
गांधी कहता है—मित्र, तुम शीघ्र जाओ, शीघ्र जाओ।
अँग्रेज़ कहता है—मेरे काँटा चुभ गया, काँटा चुभ गया।
गांधी कहता है—कहो मित्र, कहाँ चुभ गया, कहाँ चुभ गया।
गांधी ने काँटा बाहर खींच लिया, खींच लिया।
आज अँग्रेज़ लम्बे रास्ते पर चल पड़ा, लम्बे रास्ते पर चल पड़ा।

बुरे लोग लड़ रहे हैं, गांधी का क्या दोष है, क्या दोष है ?
हट कर बैठो, ओ बुरे लोगों, कुछ तो होश कर देखो, कुछ होश।
सूर्य ने रश्मियाँ फैलाईं, आज धरती चमक रही है, धरती चमक रही है।
गांधी ने नमस्कार किया—आज धरती खुश है, धरती खुश है !'

तूँ साडे पिण्ड कदी वी न आया
भला मैंनूँ तेरी सौंह
तूँ देश आजाद कराया
भला मैंनूँ तेरी सौंह
वीरां तों भैंणा खोह लईयाँ
भला मैंनूँ तेरी सौंह
मावां तों धीयां खोह लइयां
भला मैंनूँ तेरी सौंह
तैनूँ अजे वी सच्च न आया
भला मैंनूँ तेरी सौंह
तूँ देश आज़ाद कराया
भला मैंनूँ तेरी सौंह
इस पिण्ड दे लोक नादान
भला मैंनूँ तेरी सौंह
इस पिण्ड दे घर वीरान
भला मैंनूँ तेरी सौंह
इत्थे गिलझां झुरमट लाया
भला मैंनूँ तेरी सौंह
तूँ देश आज़ाद कराया
भला मैंनूँ तेरी सौंह
अज भों दी हिक ते रत्त दिस्से
भला मैंनूँ तेरी सौंह
अज्ज घावां विच्चों पाक रिसे
भला मैंनूँ तेरी सौंह
रब्ब डाढ़े कहर कमाया
भला मैंनूँ तेरी सौंह
तूँ देश आज़ाद कराया
भला मैंनूँ तेरी सौंह

—'तुम हमारे गाँव में कभी नहीं आये।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
तुमने देश आज़ाद करा दिया।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
भाइयों से बहनें छीन ली गईं।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
माताओं से पुत्रियाँ छीन ली गईं।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
तुमने देश आज़ाद करा दिया।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
इस गाँव के लोग नादान हैं।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
इस गाँव के घर वीरान हो गये।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
यहाँ गिद्धों का झुरमुट आ पहुँचा।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
तुमने देश आज़ाद करा दिया।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
आज भूमि की छाती पर रक्त दिखाई देता है।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।
निर्मोही भगवान् ने कितना अन्याय दिखाया।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध
तुमने देश आज़ाद करा दिया।
भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध।'

दोनों गीत अपने-अपने स्थान पर शरणार्थी जनता की असीम वेदना के सूचक हैं। पहले गीत में गांधी की सूर्य से तुलना करने की शैली अत्यन्त सुन्दर है। संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् मेरे एक मित्र कह उठे थे कि 'इस गीत की उठान तो एक दम वैदिक ऋचाओं का स्मरण करा रही है।' जार्जिया प्रान्त के 'दो सूर्य' शीर्षक एक रूसी-गीत में लेनिन के लिए भी सूर्य ही की उपमा दी गई है—

'सूर्य, आओ, प्रकट हो,
हम बहुत आँसू बहा चुके

दुःख को हलका करो
लेनिन तुम्हारे ही समान था
अपनी ज्योति उसे भेंट करो
मैं बताये देता हूँ
तुम लेनिन की बराबरी नहीं कर सकते
दिन का अवसान होते ही तुम्हारी आभा क्षीण हो जाती है
पर लेनिन के प्रकाश का लोप नहीं होता ।'

सूर्य की उपमा जनता की भावुकता की प्रतीक है। अनेक देशों में इस प्रकार की उपमा विशेष नायक के लिए सुरक्षित रखने की परम्परा चली आती है। पहले गीत के अन्तिम भाग की एक पंक्ति बहुत हृदयस्पर्शी है—'बुरे लोग लड़ रहे हैं, इस में गांधी का क्या दोष है !' दूसरा गीत आरम्भ से अन्त तक एक व्यंग्य नज़र आता है। यह कैसी स्वतन्त्रता है, कदाचित् गाँव की नारी की समझ में यह बात नहीं आ रही है। देश में साम्प्रदायिक झगड़े हुए, स्त्रियों पर अनेक अत्याचार किये गये, धरती मानव के रक्त से अपवित्र हुई—यह सब देख कर गाँव की नारी कदाचित् इसे निर्मोही भगवान् का अन्याय कह कर इस गुत्थी को सुलझाना चाहती है। भला मुझे तुम्हारी सौगन्ध—गीत की टेक अत्यन्त गहरी चोट करती है।

गांधी का जय-घोष भारतीय लोक-संस्कृति की एक नई परम्परा का सूचक है। एक तामिल लोक-गीत में जनता की प्रतिभा कह उठी है—

गांधी ऋषि ननमें कापातुम महाऋषि,
गांधी ऋषि !

— 'गांधी ऋषि, हमारी रक्षा करता है, महान् ऋषि, गांधी ऋषि !'

एक दूसरे तामिल लोक-गीत में लोक-कवि ने 'गांधी ऋषि' को अन्नदाता के रूप में देखने का यत्न किया है—

'गांधी ने हमें भय से होड़ लेने की शक्ति दी है
गांधी ने हमें आत्म-बल दिया है
गांधी ने हमें दाल-भात दिया है ।'

हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध मे एक मलियाली लोक-कवि कह उठा है—

'मन्दिरों के द्वार तुम्हारी आज्ञा से
खोल दिये गये, गांधी ऋषि !
अब ये द्वार सदैव खुले रहेंगे !'

एक दूसरे मलियाली गीत में जनता गाती है—

'नारियल का वृक्ष बहुत ऊँचा है, ओ अँग्रेज़ ?
हमारी पराधीनता भी बहुत ऊँची है,
गांधी इसपर चढ़ सकता है, ओ अँग्रेज़ !
गांधी इसपर झटपट चढ़ सकता है !'

गांधी के जीवनकाल में उनके प्रति अर्चना के पुष्प चढ़ाते समय लोक-प्रतिभा संकोच अनुभव करते हुए कदाचित् अधिक नहीं कह सकी। पर अब जब गांधी को शहीदों की मृत्यु प्राप्त हो चुकी है, उनका जय-घोष युग-युगांतर तक और भी ऊँचे स्वरों में प्रतिध्वनित होगा। अभी न जाने कितने लोकगीतों में गांधी का यशोगान किया जायगा।

फुलाँप मिलर ने गांधी के व्यक्तित्व पर गहन विचार करते हुए कहा है—'किसी युग में बुद्ध के सम्मुख जिस तरह मानव की वेदना अपना घूँघट खोल कर खड़ी हो गई थी, उसी तरह अब वह गांधी के सम्मुख खड़ी हो गई है।' उत्तरापथ और दक्षिण-भारत के अनेक लोक-गीत गांधी के जय-घोष से अनुप्राणित हो उठे हैं......जय गांधी !
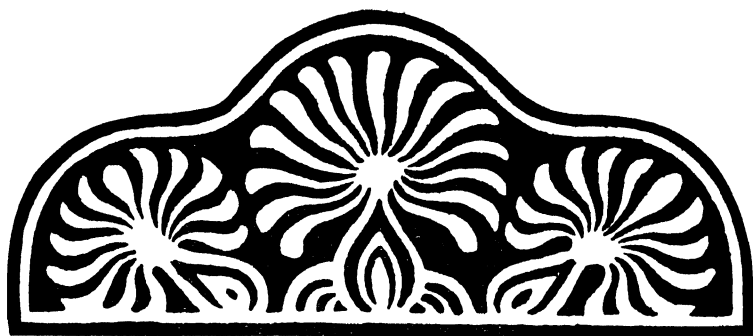
२२

चित्रों की पृष्ठ-भूमि

पुरातत्त्व के विद्वान् मेरे एक मित्र की सम्मति के अनुसार लोक-संस्कृति-सम्बन्धी किसी ग्रन्थ को चित्रों-द्वारा अलंकृत करने का सर्वोत्तम उपाय यही हो सकता है कि इसमें विभिन्न शताब्दियों की मूर्ति-कला से ही इन्हें प्रदर्शित किया जाय। मूर्ति-कला से हट कर यदि कोई वस्तु इसमें मेरे इन मित्र के मतानुसार सहायक हो सकती है, तो वह है विभिन्न शताब्दियों की चित्र-कला।

यहाँ इतना और बता दूँ, कि जहाँ तक देश की आधुनिक चित्र-कला का सम्बन्ध है, मेरे इन मित्र के कथनानुसार अभी इसकी जड़ें हमारे जीवन में इतनी गहरी नहीं जा सकीं कि हम उसकी शैलियों में सांस्कृतिक चेतना का वास्तविक स्वरूप देख सकें। अतः ज्यों पुरानी मूर्ति-कला की ओर ही उनका संकेत रहता है, त्यों चित्रों की बात चलने पर भी विभिन्न शताब्दियों की पुरानी चित्र-कला की ओर ही उनकी दृष्टि जाती है।

इस पुस्तक के चित्र चुनते समय मैंने अपने मित्र के साथ कुछ समझौता करनेका यत्न किया है; क्योंकि दो चित्र तो ऐसे हैं ही, जो मेरे मित्र को बेहद पसन्द हैं—'अन्तःपुर का संगीत नृत्य' और 'प्राचीन जनपदों का हल्लीसक नृत्य'। पहला चित्र पद्मावती ग्वालियर से प्राप्त पाँचवीं शताब्दि की मूर्ति कला की सुन्दर कृति है। दूसरा, ग्वालियर की बाघ गुफा से प्राप्त पाँचवीं-छठी शताब्दि की चित्र-कला का नमूना है। नृत्य और संगीत की प्रेरणा ने किस प्रकार प्राचीन भारत की भावना को पुलकित कर रखा था, यह बात इन दोनों चित्रों में स्पष्ट

हो जाती है। जो सन्देश इन चित्रों से सुनाई देता है, वही तो छठी शताब्दि में महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' के नवम सर्ग में प्रस्तुत किया था—

—'कुसुम, फिर पल्लव, उन के साथ भौंरे और कोविल के कूजन
इस प्रकार द्रुमवती वनस्थली में वसन्त यथाक्रम अवतीर्ण हुआ।
वनश्री की देह पर वसन्त-द्वारा रचे हुए चित्रकों जैसे,
मधुदानी कुरबक भौंरों के गुंजार के कारण बने।
शिशिरान्त श्री द्वारा दिया हुआ मुकुल जाल किंशुक पर ऐसा शोभित हुआ,
मानो मदपान से विगलित-लज्जा प्रमदा ने प्रणय की देह को नखक्षतों से मण्डित कर दिया हो।
कलियों से लदी और मलय से कल्पित-पल्लवा सहकार लता
रागद्वेषजयी मुनियों को मत्त करने के लिए अभिनय का अभ्यास करने को उद्यत हुई।
कुसुमित सुरभित वनराजि में कोकिलों की पहली पुकारें
वधुओं के विरल अटपटे बोल-सो सुनाई दीं।
फूलरूपी दाँतोंवाली उपवन के छोर की लताएं भ्रमर-स्वन-रूपी गीत गाती हुई पवनाहत किसलय-रूपी हाथों से ताल देने लगीं।
तरुचारु विलासिनी नवमल्लिका ने, अपने किसलय रूपी अधरों की मधु-गन्धमयी कुसुम-संभृत मुस्कान से मन मोह लिया।
आओ, मान विग्रह छोड़ो; बीता यौवन फिर नहीं आयेगा!—
कोकिलों के स्वर-द्वारा मदन का यह अभिमत जान कर वधूजन लीला-प्रवृत्त हुईं।'

'अन्तःपुर का संगीत नृत्य' और 'प्राचीन जनपदों का हल्लीसक नृत्य'—ये दोनों चित्र वस्तुतः जिस सांस्कृतिक चेतना का सन्देश सुना रहे हैं, वह आज भी हमारे देश के जीवन में दृष्टिगोचर हो सकती है। इसे प्रदर्शित करने के लिए आधुनिक फोटो-कला का सहयोग लिया गया है। गढ़वाल के बेदारी नृत्य का चित्र देख कर हम कह उठते हैं कि 'हल्लीसक' नृत्य की परम्परा बिलकुल ही नहीं मिट गई। ये हवा में उड़ते हुए लँहगे, ये सुन्दर चोलियाँ—इन्हें देख कर सहसा भोजपुरी झूमर का स्मरण हो आता है, जिसके एक गान में कहा गया है—'धरती के लहँगा, बादरी के चोली!' नृत्य की इसी प्रेरणा को सम्बोधित करते हुए पंजाब के लोक-गीत में कहा गया है—'गिद्धिया पिण्ड वड़ वे, लाम्ह-लाम्ह न जाईं!' अर्थात् ओ गिद्धा नृत्य, हमारे ग्राम में भी अवश्य प्रवेश करना, बाहर-बाहर से मत चले जाना।

एक चित्र में लंका का एक नर्तक दिखाया गया है। इस नर्तक ने मुझे बताया था कि जब उसने कैण्डी शैली के इस नृत्य का एक उत्सव पर पहले पहल प्रदर्शन किया, तब उसकी माँ इतनी खुश हुई कि नृत्य खत्म होने पर उसने सात मोहरें उपहार में देते हुए भरी सभा में पुत्र को छाती से लगा लिया।

'प्रकाश-रेखाएँ' और 'धूप छाँह' ग्राम्य-जीवन के चित्र हैं। एक में छकड़ा नज़र आ रहा है, जिसका चित्र शत-शत गीतों में प्रस्तुत किया गया है, और दूसरे में अपनी झोंपड़ी के द्वार पर एक बालिका खड़ी है--जाने वह किस की बाट जोह रही है, जाने कौन-सा गान उस के ओठों पर थिरक उठेगा!

एक चित्र में 'अफ़रीदो गायक' के भी दर्शन कीजिए। जब वह रबाब के तार छेड़ता है, तब पठान लोकगीत की आत्मा जाग उठती है --'यह तेरा वतन है, खुदा करे तू इस में आबाद रहे...'

'एक अफ़रीदी युवती' को भी देख लीजिए। शायद इसी युवती के सम्बन्ध में पठान लोक-गीत मे कहा गया है—'कन्या ने अपने आप को फटे-पुराने वस्त्रों से बनाया-सँवारा। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे ग्राम के खंडहरों में फूलों का बगीचा लगा हुआ हो।'

'प्रकृति का शृङ्गार' चित्र नहीं; किसी महाकाव्य को उठान है। लोक-गीत भी इस महाकाव्य की प्रेरणा से वंचित नहीं। जैसे फूल स्वयं खिलता है और इस में कोई ज़ोरज़ब्र से काम नहीं ले सकता, लोकगीत भी स्वयं जन्म लेता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठोक ही कहा है—'तुम लोगों के विषम कोलाहल से यदि यह कली मुँह खोल भी दे, तो उस में रंग नहीं आयेगा, तुम उससे सुगन्ध नहीं निखरवा सकते।'

'कुल्लू के दशहरे के दृश्य' देखते हुए 'देवताओं दी घाटी' परम्परा सजग हो उठती है।

'कुल्लू की सुन्दरी' की छवि भी देख लीजिए, ऐसी ही किसी सुन्दरी के लिए कुल्लू के एक लोक-गीत में कहा गया है—

> बूने धीरे बोला शहरा शहरा
> ऊभै भेखली धारा
> तेरी तेसे बोला भूरी ए लो
> भीमी रौण्डे, देश लुटु बोला सारा
> भीमी ए, देश लुटु बोला सारा

--'नीचे, बोलते हैं, शहर ही शहर हैं
ऊपर भेखली की धार[1] है

1. 'धार' का अर्थ है पहाड़ी। भेखली एक स्थान का नाम है, जहाँ देवी का मन्दिर है।

तेरी उस प्रेमिका ने, बोलते हैं,
उस भीमी राँड ने सारा देश लूट लिया ।
ओ भीमी, बोलते हैं तुमने सारा देश लूट लिया ।'

'साँझ की बेला' चित्र भी कुछ कम सुन्दर नहीं। जाने इस सड़क पर कितने गान गाये गये। ब्रज का वह लोक-प्रिय रसिया पाठकों ने सुना होगा--'मेरी रातों जरी मसाल, बगद गयें पुल पै ते।' अर्थात् मेरी मशाल रात भर जलती रही, तुम पुल पर से ही लौट गये!

'मरुस्थल की नौका' राजस्थान का एक चित्र है। यह साँडनी-सवार भी किसी कन्या का बाबा है, जिसने एक राजस्थानी लोक-गीत में कहा है--'बाबा, देश के बजाय चाहे मेरा ब्याह परदेश में कर देना, पर मेरी जोड़ी का वर देखना।'

'बचपन की सखियाँ' पंजाबी जीवन का चित्र है, जिसमें चरखे की घूँ-घूँ रची हुई है। पंजाबी लोक-गीतों में चरखे की बार-बार चर्चा की गई है--"हे माँ, मेरा चरखा घूँ-घूँ कर रहा है। स्वर्ण का मेरा चरखा है, चाँदी की 'गुडझ' डलवाई है......"

'ब्रह्मपुत्र का दृश्य' आसाम के प्राकृतिक सौंदर्य का प्रतीक है। इन लहरों ने अनेक बार माँझियों के गान सुने होंगे। उधर बंगाल का 'एक खेया घाट' भी देख लीजिए। बंगाली माँझियों के भाटियाली गान मन के तार हिला देते हैं। 'के जायो रे तुमि रंगीला नायो बाइया?' 'अर्थात् अरे तुम कौन हो जो रंगीली नाव खेते चले जा रहे हो।'--यह है एक भाटियाली गान की उठान।

'रोहतांग दर्रे के उस पार चन्द्र नदी का दृश्य' हिमाचल प्रदेश का एक सजीव चित्र है। प्राकृतक सौन्दर्य का चित्रण पहाड़ी-चित्र-कला की तरह पहाड़ी गीतों की भी विशेषता है।

'नेपाली गायक' जाने कहाँ-कहाँ से घूम कर आया है। उसकी स्मृति में अनेक धुनें रची हुई हैं। उसे वह नेपाली गीत तो अवश्य याद होगा--'चम्पा, चमेली, मोतिया और बेला, इनकी सुगन्ध का क्या हुआ? प्रेम के फूल की सुगन्ध देखकर ये फूल घास के समान लगते हैं!'

'आदान-प्रदान' में एक स्त्री दूसरी स्त्री को टोकरी उठवा रही है। ये जीवन की सखियाँ उत्सवों पर गान और नृत्य में भी आदान-प्रदान की परम्परा को आगे बढ़ाती हैं।

'गढ़वाली युवतियाँ' मेले में बन-ठन कर आई हुई युवतियों का चित्र है;

जैसे अभी उनके पैरों में गति आ जायगी, जैसे अभी किसी ताल पर वे सामूहिक नृत्य की झाँकी प्रस्तुत करेंगी। इन्हें रामी का गीत तो अवश्य याद होगा—'ओ रास्ते के खेत में निगाई करने वाली, तेरा ग्राम कहाँ है ? बोल, बहूरानी, तेरा ग्राम कहाँ है ?'

'आन्ध्र देश की कृषक नारियां' स्वर ताल-द्वारा दिन-भर के परिश्रम को सहज बनाती हैं। इस छाज की चर्चा भी उनके गान मे मिल जायगी। नये अन्न को प्रणाम करने की बात भी उन्हें सदैव याद रहती है।

'ग्रीष्मकाल' भारतीय जीवन की एक महत्वपूर्ण झाँकी है। गाड़ीवान बैलों को मारता भी है, पुचकारता भी है। लंका में 'पुष्प-चयन' प्रकृति के वरदान का स्मरण दिलाता है।

'खानाबदोश' पश्चिमी पंजाब का चित्र है। आज यहाँ, कल वहाँ। यह घुमक्कड़ परिवार जाने कहाँ-कहाँ के स्वर छेड़ देता है। सिलाई का काम करते समय जैसे सूई चलती है, ऐसे ही गीत के स्वर अग्रसर होते हैं।

'आन्ध्र के लोक-गायक' वीरों के गान गाते हैं। जब देखो उनकी स्मृति लपककर उनके ओठों पर आ जाती है। क्या मजाल कि वे गीतों की कोई पंक्ति छोड़ जायँ। श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर देना, उनके लिए बायें हाथ का खेल है।

'माता और पुत्री' श्रावण मास का चित्र है। मेघों ने बार-बार लोकगीत के अंचल को छू लिया है। 'काश्मीरी बालिका' की मेंढियाँ भी देखिए। कितने भाव से ये मेंढियाँ गूँथी गई होंगी। काश्मीरी गीतों में इन मेंढियों की चर्चा भी अवश्य मिल जायगी।

'काठियावाड़ का एक तीर्थस्थल' धार्मिक यात्राओं का स्मरण दिलाता है। प्रत्येक जनपद में इन यात्राओं से सम्बन्ध रखनेवाले गीत मिलेंगे। 'सतर्क मातृत्व' तामिलनाड का चित्र है। माँ अपने शिशु को दूध तो पिलाती ही है, साथ ही लोरी के स्वर भी छेड़ देती है, जिसमें शिशु को रिझाने के लिए उसकी शत-शत प्रशंसा करना आवश्यक समझा जाता है।

'कुल्लू का प्रमुदित सौंदर्य' सुखी जीवन का प्रतीक है। 'घर की ओर' में दिन-भर का थका माँदा किसान दिखाया गया है, जिसे प्रकृति का निकटतम सम्पर्क प्राप्त है। 'पवन-हिलोर' में भी प्रकृति का सौन्दर्य प्रस्तुत किया गया है। 'हिमालय का एक ग्राम' भी प्राकृतिक सौन्दर्य पर गर्व कर सकता है। लगे हाथ 'धरती का स्वर्ग' भी देख लीजिए, जिसमें देश के एक आदिवासी परिवार की जीवन-झाँकी प्रस्तुत की गई है। आदिवासियों की संस्कृति में गान और नृत्य

लिए सब से अधिक स्थान रहता है। पर्व-त्योहार पर निर्धन आदिवासी गान और नृत्य की प्रेरणा से बड़े-बड़े वैभवशालियों से टक्कर ले सकते हैं।

'कुम्हार की बिटिया' आन्ध्र-देश का चित्र है। यह मन्त्र-मुग्ध-सी कन्या अपने इन घड़ों इत्यादि के सम्बन्ध में कोई लोक-गीत अवश्य सुना सकती है। 'उड़ीसा की सावरा जाति के बालक' जाने क्या मन्त्रणा कर रहे हैं। 'अबोध बालिका' भी अपनी झोंपड़ी के सामने खड़ी कुछ सोच रही है। आज कुछ सोच कर कल के गान के लिए सामग्री जुटा सकती है।

'काँगड़ा के गद्दी चरवाहे' एक ओर, 'राजस्थानी बारात' दूसरी ओर। सामाजिक जीवन के ये दो अलग-अलग स्तर हैं। यही भिन्नता उनकी लोक-संस्कृति में भी प्रतिबिम्बित हो उठती है।

'सन्थाल युवती' और 'पंजाब की जाट-कुल-वधू' भी जीवन के दो भिन्न स्तरों के चित्र हैं। यह सन्थाल युवती आज भी अपने गीत में बाँसुरी की चर्चा करते हुए लोक-नृत्य में एक नई ही मुद्रा प्रस्तुत करती है—

तुमि तिरी भीतर
तिरिओ तिरी बाहिरे
तिरिओ तिरी सिसिरे डोलाय
तुमि तिरी तिरिओ लगित काँदाय
तिरिओ तिरी सिसिरे डोलाय

—'प्रियतम, तुम तो भीतर हो
तुम्हारी बाँसुरी बाहर है
तुम्हारी बाँसुरी ओस में भीग रही है।
तुम बाँसुरी के लिए रो रहे हो
तुम्हारी बाँसुरी ओस में भीग रही है।'

उधर पंजाब की जाट-कुल-वधू भी 'गिद्धा' नृत्य के घेरे में नाचती हुई 'राँझा' की बाँसुरी की चर्चा छेड़ देती है—

वंझली दी वाज सुण के
सुक्का अम्बर छड्डू नरमाइयाँ

—'बाँसुरी की आवाज़ सुनकर
सूखा गगन नरम होने लगता है।'

गगन के नरम होने से यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि अभी मेघ उमड़ आयेंगे, जैसे बाँसुरी में गगन के मेघों को आमन्त्रित करने की शक्ति हो।

'ब्रज मण्डल का रथ' मानव-कला की एक उत्कृष्ट कृति है। जाने इस रथ

पर कितनी कुल-वधुओं ने पीहर से ससुराल की ओर ससुराल से पीहर की यात्रा की होगी। इस रथ को नहीं, तो इसके सारथी को अवश्य इन कुल-वधुओं की याद आती होगी।

'शिमला का लोक-नृत्य' शत-शत 'नाटी' गीतों को प्रेरणा देता आया है। रात-भर इन नर्तकों के पैरों और हाथों की गति थमने में नहीं आती।

'मुण्डा ढोलिया' छोटा नागपुर का चित्र है। ढोल की आवाज़ कभी सुनी-अनसुनी नहीं की जा सकती। 'पृथ्वी-पुत्र' में मेले पर आये हुए सन्थाल-परिवार की झाँकी प्रस्तुत की गई है।

चित्रों की पृष्ठ-भूमि के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा जा सकता है। लोक-गीत में भी एक चित्र रहता है, जिसमें जन-मन की गति विधि नज़र आती है। इस आन्तरिक चित्र के सम्मुख बाहर के चित्रों की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि आन्तरिक चित्र और बाहर के चित्र एक-दूसरे के पूरक हैं।

'सभ्यता के विकास' के लेखक डब्लू० जे० पेरी ने आदिम-युग की चित्र-कला के सम्बन्ध में लिखा है—'उनकी कला मुख्यतः बनैले पशुओं के चित्रण तक ही सीमित थी, जिनका कि वे भोजन के लिए आखेट करते थे। वे अपनी गहरी खोहों के भीतर के दूर अँधेरे गर्त्तों की दीवारों और छतों पर, मुख्य द्वार पर नहीं, जहाँ कि वे रहते थे, बनैले साँड, बन-सुअर, रीछ और हिरन की आकृतियाँ पहले खोदते थे और फिर उनको रंगते थे। मालूम यही होता है कि उनकी इस कला का सम्बन्ध भोजन की सामग्री के जुटाने से था। पशुओं के चित्रांकन का ध्येय यही था कि ऐसा करने से खाये जाने वाले पशु के आखेट में और उसके पकड़ने में सहायता मिलती है।'

आदिम-युग की ऐन्द्रजालिक प्रवृत्ति की विवेचना करते हुए 'मार्क्सवाद और कविता' के लेखक जार्ज टामसन ने लिखा है—'जब आदिम-युग का मानव प्राकृतिक नियमों की वस्तु-विषयक आवश्यकता के पहचान सकने में असमर्थ हुआ, तब अपने चारों तरफ़ की दुनिया को वह इस प्रकार इस्तेमाल करने लगा जैसे कि वह उसकी स्वेच्छाचारी इच्छाशक्ति के अनुकूल परिवर्तित की जा सकती थी। इन्द्रजाल का यह एक आधार है। इन्द्रजाल को मायावी विद्या कहा जा सकता है, जो कि सच्ची विद्या की क्षति-पूर्ति करने में सहकारी होती है। और उपयुक्त शब्दों में कह सकते हैं कि यह सत् विद्या का मानसिक रूप है। ऐन्द्रजालिक कार्य वही कहलाता है, जिसके द्वारा असभ्य मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति को अपने वातावरण पर अप्राकृतिक अवस्थाओं का अनुकरण करके जिन को कि वे सम्भावित करना चाहते हैं, आरोपित करते हैं। यदि वे जल की

वर्षा चाहते हैं, तो वे एक ऐसा नृत्य करते हैं, जिस में एकत्रित होते बादलों का अनुकरण होता है ; जिस में उनकी गर्जना होती है, जिस में झरती हुई फुहार की फुहियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं ।'

हमारे देश के लोक-जीवन में सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न स्तर पाये जाते हैं । लोक गीतों में इन विभिन्न स्तरों के चित्र मिलेंगे । आदिम-युग का स्तर भी शत-शत जनपदों में व्यापक नज़र आता है । पर जैसा कि एक आलोचक ने आदिवासियों की चर्चा करते हुए कहा था--आज के सभ्य-मानव का सब से बड़ा उत्तरदायित्व यह है कि वह पिछड़े हुए लोगों को साथ लेकर आगे बढ़े । यदि वह अकेला ही आगे बढ़ जाता है, तो उसे विशेष प्रगति नहीं कहा जा सकेगा । यह नहीं कि आदिम-युग के स्तर से, या सभ्यता के किसी दूसरे स्तर से, आज का मानव कुछ भी नहीं सीख सकता । जहाँ तक सामूहिक व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, लोक-जीवन के विभिन्न स्तरों में इसकी महान् शक्ति का सिक्का मानना पड़ता है । लोक-गीत और लोक-नृत्य, लोक-कथाओं की भाँति ही, पग-पग पर सामूहिक व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं । आज का मानव वस्तुतः उन से बहुत कुछ सीख सकता है : पर जहाँ तक लोक जीवन को प्रगति-पथ पर अग्रसर करने का सम्बन्ध है, इस बात की विशेष आवश्यकता है कि हम जनता के सम्मुख लोक-जीवन के चित्र प्रस्तुत करें, जिन में विभिन्न जनपदों का जीवन प्रतिबिम्बित हो उठा हो ।

यदि हमें लोक-साहित्य के अध्ययन से राष्ट्र की एकता का अनुभव होता है, तो राष्ट्र के विभिन्न जनपदों के चित्रों-द्वारा हम उसी एकता का अनुभव कर सकते हैं । विभिन्न जनपदों के चित्रों का प्रदर्शन एक-एक जनपद में किया जाना चाहिए, ताकि समूची जनता को राष्ट्र की एकता का अनुभव हो सके । इसीलिए जब मैं एक-एक चित्र की पृष्ठ-भूमि में झाँककर देखता हूँ, तब जन-जन के जीवन की बीती हुई शताब्दियाँ मेरी कल्पना के कला-भवन में एक चल-चित्र के समान प्रकट होती हैं ।

निर्देशिका

निर्देशिका